प्रथम संस्करण, १९५८
संवत् २०१५

मुद्रक—जीवन कल्याण प्रेस, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद।
प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए जीरो रोड, इलाहाबाद।

विपाण्डु अनिलोद्धतम् सप्तपलाशजम् रजः सव्यानम् इव निरुन्धती. अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुष. सपुष्पहासा. वनराजियोषित. वैद्युतजातवेदसा अदीपितम् सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् सान्तरवारिसीकरैः ततान्तरम् सरोजवायुभि. शिवम् नभोवर्त्म अपदिश्य धावताम् अमीषाम् सितच्छदानाम् पतत्रिणाम् रुतैः ग्रथिता. वारिदरोधनिर्गता. अमला. दिश. परस्परालापम् प्रकुर्वते इव ॥२७-३०॥

अर्थ—पद्मिनियों की लताओं की कान्ति से अनुरञ्जित (हरे वर्ण), कमलदलों के अरुण छटा-पुञ्जों से मिला हुआ (लाल वर्ण), इधर-उधर हिलने वाले पके जड़हन धान की बालों से पीले वर्ण—इस प्रकार विविध वर्णों में भासमान (खेतों का पानी) मानो गलते हुये (अस्त होते हुए) इन्द्र के धनुष-खण्ड की भाँति यह केदार जल, एव शुभ्र तथा वायु द्वारा हिलाये-डुलाये गये (खींचे गये) छितवन के पुष्प-परागों को साड़ी के अञ्चल की भाँति सँभालती हुई, निर्मल एव उन्मीलित नील झिंटी (कटसरैया, अथवा बाण) के पुष्प-रूपी लोचनों से सुशोभित तथा पुष्प-रूपी हास्य से विभूषित ये वन पंक्ति-रूपी कामिनियाँ, एव आँखों को चकाचौंध करने वाली विद्युत-अग्नि से रहित, श्वेत बादलों के खण्डों द्वारा धूप के छिप जाने से मनोहर, विरल जलबिन्दुओं से व्याप्त मध्य भाग वाले एवं कमलों की सुगन्ध से पूरित वायु द्वारा रमणीय आकाश मार्ग—इन तीनों (केदार जल, वन-पंक्ति-रूपी कामनियां एव आकाश मार्ग) को लक्ष्य करके दौड़ते हुए श्वेत पखों वाले हंसों के कल-कूजन द्वारा गुम्फित अर्थात् व्याप्त बादलों की बाधा से निर्मुक्त निर्मल दिशाएँ मानो परस्पर बातें करती हुई प्रतीत हो रही हैं ॥२७—३०॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में सब विशेषण केदार-जल अर्थात् खेतों में इकट्ठे पानी के लिये हैं। द्वितीय श्लोक के सब विशेषण वन-पंक्ति-रूपी कामिनियों के लिये हैं तथा तृतीय श्लोक के सब विशेषण आकाश-मार्ग के लिये हैं। यक्ष की दृष्टि में मानों इन्हीं तीनों अपूर्व सुन्दर वस्तुओं को पाने के उद्देश्य से दौड़ने वाले हंसों के कल-कूजन से व्याप्त निर्मल दिशाएँ परस्पर आनन्द-गोष्ठी कर रही हैं। प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, उपमा अलङ्कार नहीं, क्योंकि इन्द्र-धनुष

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज वाराणसी के
स्वनामधन्य प्राध्यापक विश्वविश्रुत
प्रकांड वैयाकरण दिवंगत गुरु-
देव देवनारायण त्रिपाठी जी
(तिवारी जी) की पावन
स्मृति में, उन्हीं के एक
स्नेहाङ्कित अन्तेवासी
की सप्रेम सादर
श्रद्धाञ्जलि ।



टिप्पणी—अर्थात् हिमालय समीप आ गया। पुष्पिताग्रा छन्द। उपमा अलङ्कार।

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्त
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णु:।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मी-
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः ॥३८॥

अन्वयः—अतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तम् तम् उपरि हिमानीगौरम् नगम् आसाद्य जिष्णु व्यपगतमदरागस्य असितम् अधरवासः बिभ्रत सीरपाणे लक्ष्मीम् अनुसस्मार ॥३८॥

अर्थ—विशाल वनों की पङ्क्तियों से नीले वर्ण वाली घाटियों से युक्त, … की चट्टानों से ढके हुए शुभ्रवर्णों वाले हिमालय पर पहुँचकर अर्जुन ने, म… की नशा से रहित कटि प्रदेश में नीलाम्बरधारी बलदेव जी की शोभा का … किया ॥३८॥

टिप्पणी—मदिरा की नशा से रहित होने का तात्पर्य यहाँ है प्र… होना। मालिनी छन्द। स्मरणालकार।

श्री भारवि कृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥४॥

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षप त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥१४॥

अन्वयः—दिवम् अभितः ग्रहविमानगणान् ज्वलयता औषधिजेन कृशानुना अनुक्षपम् उमापतिसेविनः त्रिपुरदाहम् मुहुः अनुस्मरयन्तम् ॥१४॥

अर्थ—यह हिमालय आकाश स्थित चन्द्र-सूर्यादि ग्रहों एवं देवयानों को सुप्रकाशित करते हुए अपनी औषधियों से उत्पन्न अग्नि द्वारा प्रत्येक रात्रि में भगवान् शंकर के सेवकों अर्थात् गणों को त्रिपुरदाह का बारम्बार स्मरण दिलाते हैं ॥१४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इसमें अनेक प्रकार की दिव्य औषधियाँ जिनसे ग्रहगण एवं देवयान ही नहीं प्रकाशित होते वरन् रात्रियों में त्रिपुर जैसा दृश्य दिखाई पड़ता है । स्मरण अलङ्कार ।

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥१५॥

अन्वयः—विततशीकरराशिभिः उच्छ्रितैः उपलरोधविवर्तिभिः अम्बुभिः धृतसितव्यजनाम् इव उन्नतसानुसमुद्धताम् जाह्नवीम् दधतम् ॥१५॥

अर्थ—यह हिमालय अपने उन्नत शिखरों पर गङ्गा जी को धारण कर हैं, जो पत्थरों की विशाल चट्टानों से धारा के रुक जाने पर जब उनके ऊपर बहने लगती हैं तब अनन्त जल-कणों के ऊपर फौवारे की तरह छूटने से मालूम होता है मानो वह श्वेत चामर धारण किये हुए हैं ॥१५॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरतावसरे हि विराजते ॥१६॥

अन्वयः—अथ धनाधिपतेः अनुचरेण नगविलोकनविस्मितमानसः आदरात् प्रियम् वचनम् जगदे । हि मुखरता अवसरे विराजते ॥१६॥

विषय सूची

वि और काव्य परिचय . १

ह्रातार्जुनीय की कथा . . ६

वि परिचय .. ३४

ीवनवृत्त सम्बन्धी दन्तकथा .. ३६

सर्ग

ुधिष्ठिर के पास बनेचर का आगमन १

नेचर का युधिष्ठिर से दुर्योधन का वृत्त-निवेदन ३

ुधिष्ठिर का द्रौपदी समेत अपने भाइयों से बनेचर द्वारा प्राप्त रहस्य
ा कथन १६

य सर्ग

ीमसेन का युधिष्ठिर से वार्तालाप २७

ुधिष्ठिर का भीमसेन को समझाना . ३६

ेदव्यास का पाण्डवों के समीप आगमन . ५२

। सर्ग

ुधिष्ठिर द्वारा वेदव्यास का स्वागत और वेदव्यास का उपदेश ५५

ेदव्यास द्वारा अर्जुन को इन्द्र की उपासना करने का आदेश ६४

ैौपदी का अर्जुन को तपस्या करने के लिए प्रेरित करना ७१

। सर्ग

अर्जुन का तपस्या के लिए प्रस्थान और शरद् वर्णन ... ८०

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः ।
प्रतिवासरं सुकृतिभिर्ववृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥२०॥

अन्वयः—धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिः गुणैः अघमयम् तमः शमयन् विमलः सः प्रतिवासरम् सुकृतिभिः कलाभिः शीतरुचिः इव ववृधे ॥२०॥

अर्थ—इन्द्रियदमन को ही मुख्य-मुख्य सुख के रूप में स्वीकार कर पवित्र गुणों से अपने पापमय अन्धकार का शमन करते हुए पापरहित अर्जुन प्रतिदिन अपनी उस विधिविहित तपस्या से (दूसरों के सन्ताप को दूर करने को ही मुख्य कार्य समझने वाले अपनी कान्ति से अन्धकार को दूर करने वाले एवं अपनी कमनीय कलाओं से शुक्लपक्ष में प्रतिदिन बढ़नेवाले) चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे ॥२०॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार ॥२०॥

अधरीचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवतः ।
प्रतिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः ॥२१॥

अन्वय—किञ्च विवेकगुणात् अगुणेषु धियम् अस्तवतः तस्य निरुपप्लवः शमसुखानुभवः प्रतिघातिनीम् विषयसङ्गरतिम् अधरीचकार ॥२१॥

अर्थ—और भी विवेक के उदय से तत्त्वों के विनिश्चय रूप गुण के द्वारा काम क्रोधादि विकारों में प्रवृत्तियों को रोकने वाले निष्कण्टक शान्ति, एवं सुखोपभोग ने उस अर्जुन की तपश्चर्या में अनेक प्रकार का विघ्न पहुँचाने वाली विषय वासनाओं की अभिरुचि को दबा दिया ॥२१॥

टिप्पणी—अर्थात् अर्जुन विषय-वासनाओं से निर्मुक्त होकर तपश्चर्या में रत हो गया ।

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः ।
सहजेतरौ जयशमौ दधती बिभराम्बभूव युगपन्महसी ॥२२॥

अन्वय.—प्रयतः मनसा जपैः प्रणतिभिः दिवः अधिपतिम् समुपेयिवान् सः सहजेतरौ जयशमौ दधती महसी युगपत् बिभराम्बभूव ॥२२॥

भगवान शङ्कर का अपने असली रूप में प्रकट होना ...
अर्जुन द्वारा शङ्कर की स्तुति और वरदान की याचना ...
भगवान शंकर और अन्य देवताओं द्वारा अर्जुन को वरदान और
का प्रदान करना ... ...
किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग में आए हुए कुछ बन्धों के चित्र
किरातार्जुनीय महाकाव्य के श्लोकों की अकारादिक्रमानुसार सूची

अन्वयः—अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः कलहंसनादिनी सुरापगा वधूः पयः अवगाढुं समाजुहाव इव ॥२७॥

अर्थ—(पुष्पों के चुनने के अनन्तर) चंचल मछलियों के किल्लोल से जिसके कमल कम्पित हो रहे थे, कीचड़ रहित तटों से चचल लहरें जिसमें टकरा-टकरा कर फैल रही थीं, एवं राजहंस जिसमें कलकूजन कर रहे थे—ऐसी (वह) देव-नदी मानों उन देवागनाओं को अपने शीतल जल में स्नान करने के लिये बुला रही थी ॥२७॥

टिप्पणी—चचल मछलियों से गंगा के नेत्र, चंचल लहरों से हाथ तथा राजहंसों के कलकूजन से उसकी वाणी का सकेत कवि ने किया है। उत्प्रेक्षा अलकार।

प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान्विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरंगमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥२८॥

अन्वयः—प्रशान्तघर्माभिभवः शनैः विवान् परिमृष्टपङ्कजः आत्तशीकरः तरङ्गमालान्तरगोचरः अनिलः विलासिनीभ्यः भुजालम्बं ददौ इव ॥२८॥

अर्थ—धूप की परेशानियों को शान्त करने वाले मन्द-मन्द बहते हुए कमल-गन्धवाही वायु ने तरगों की पक्तियों में से होते हुए मानों उन देवागनाओं को अपनी भुजाओं का अवलम्बन दे दिया ॥२८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि देवागनाएँ नदी-तट पर ज्योंही पहुँचीं वहाँ की शीतल मन्द सुगन्ध वायु ने उनका स्वागत किया। कछार की ऊँची भूमि से नीचे उतरने वाली थकी-माँदी उन सुकुमार देवागनाओं को हाथ का अवलम्ब देकर उतारना उचित ही था। उत्प्रेक्षा अलकार।

गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः।
मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥२९॥

अन्वयः—सुरस्त्रियः सहावैः गतैः कलहंसविक्रमं नितम्बिभिः कलत्रभारैः पुलिनं दीर्घलोचनैः मुखैः सरोजानि च साम्यगुणात् निरासिरे ॥२९॥

अर्थ—देवागनाओं ने अपनी हाव-भाव भरी गति से राजहंसों की गति को, स्थुल नितम्बों से युक्त जघनों के भार से नदी के बालुकामय तट प्रान्तों को तथा बड़े एवं विशाल नेत्रों से युक्त मुखों से कमलों की समानता को दूर कर दिया ॥२९॥

कवि और काव्य-परिचय

रातार्जुनीय संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकाव्यों में से अन्यतम है। इसे
ों की 'बृहत्त्रयी' में प्रथम स्थान प्राप्त है। महाकवि कालिदास की
के अनन्तर सस्कृत-साहित्य में भारवि के किरातार्जुनीय का ही स्थान
पि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य सर्ग आदि की दृष्टि से किरातार्जु-
लघुकाय ग्रथ नहीं है, तथापि उसे बृहत्त्रयी में स्थान नहीं दिया गया
चित् इसका कारण यही है कि काव्य-कला के शिल्प-विधान की दृष्टि
ार्जुनीय रघुवश महाकाव्य से उत्कृष्ट एव ओजपूर्ण है। एक प्रकार
ो कहा जा सकता है कि समस्त सस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के
रल, कोमल कान्त गेय, पदावली विमडित, -काव्य के सम्पूर्ण शास्त्रीय
से समन्वित ओजस्वी महाकाव्य दूसरा नहीं है। बृहत्त्रयी के दूसरे
शिशुपाल वध की भाँति इसमें न तो जटिल एव कर्णकटु शब्दों की
और न नैषध की भाँति क्लिष्ट कल्पनाओं का विकट घटाटोप है।
समस्त पदों की सुललित कर्णप्रिय ध्वनि से गूँजते हुए मनोहर
व से विभूषित किरातार्जुनीय के सैकड़ों श्लोक अथवा श्लोकार्ध
मी समाज के आज भी कठहार बने हुए हैं। सभवतः लोकप्रियता
रातार्जुनीय का स्थान मेघदूत एव कुमारसम्भव के बाद ही आता
। रसास्वादन करने वाले सहृदय जनों के लिए तो यह एक मनोहर
र है।

ीन काव्य-प्रेमी पडितों की मान्यता के अनुसार कालिदास, भारवि,
दण्डी के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध तुलनात्मक सम्मति इस प्रकार है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्
दंडिनः पदलालित्य माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

	सर्ग	श्लोक संख्या
प्रपित्सो किं च ते मुक्ति	११	१६
प्रबभूव नालमवलोकयितु	६	६
प्रभवति न तदा परो	१०	३५
प्रभवः खलु कोश	२	१२
प्रमार्ष्टुमयशःपङ्क	११	६७
प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि	८	१४
प्रयुज्य सामाचरित	१४	७
प्रलीनभूपालमपि	१	२३
प्रववृतेऽथ महाहव	१८	८
प्रवालभङ्गारुणपाणि	८	२१
प्रविकर्षनिनादभिन्न	१३	१६
प्रविततशरजालच्छन्न	१४	६५
प्रविवेश गामिव	१२	१०
प्रवृत्तनक्तदिव	१६	४७
प्रवृद्धसिन्धूर्मिचय	१६	६०
प्रशान्तघर्माभिभवः	८	२८
प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि	७	३५
प्रसक्तदावानल	१६	२६
प्रसह्य योऽस्मासु परैः	३	४४
प्रसादरम्यमोजस्वि	११	३८
प्रसादलक्ष्मीं दधत	३	२
प्रसेदिवांसन तमाप	१७	२३
प्रस्थानश्रमजनिता	७	३१
प्रस्थितानिर्गधिनाथ	६	३६
प्रहीयते कार्यवशा	१६	२२
प्राञ्जलावपि जने	६	१०

अर्थात् उपमा में कालिदास, अर्थ गौरव में भारवि, पदलालित्य में दंडी तथा इन तीनों दृष्टियों से माघ श्रेष्ठ कवि हैं। माघ के प्रति प्राचीन पंडितों की यह सम्मति अनेक आलोचकों की दृष्टि से पक्षपातपूर्ण है, क्योंकि उन्हें कालिदास की मनोहारिणी उपमाओं एवं भारवि की अर्थ-गौरव से भरी ललित पदावली का दर्शन माघ की रचना शिशुपाल वध में बहुत कम मिलता है। यह प्रसङ्ग किसी विवाद में पड़ने का नहीं है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीन पंडितों की इस तुलनात्मक सम्मति में उनके पांडित्यपूर्ण समालोचक का अहंभाव ही अधिक मुखरित है। माघ में काव्य रसास्वादन की सहृदयता कालिदास एवं भारवि के महाकाव्यों की अपेक्षा निर्बल है। यद्यपि माघ की प्रखर प्रचंड काव्य-प्रतिभा एवं असाधारण वैदुष्य की छटा ऐसी है कि सहसा कोई भी पंडितमानी उन्हें सर्वश्रेष्ठ मानने से रुक नहीं सकता। यह सत्य है कि उतना असाधारण काव्य-शिल्प-विधान किसी अन्य महाकाव्य में सुलभ नहीं है, किन्तु कविता-कान्त कालिदास की निसर्ग मनोहारिणी उपमाएँ एवं स्वल्प सुललित शब्दों में विपुल अर्थ गांभीर्य से पूर्ण एवं काव्य-कला-माधुरी से बोझिल महाकवि भारवि की रचना-चातुरी की तुलना सचमुच माघ की रचना में दुर्लभ है। किरातार्जुनीय का 'अर्थ गौरव' संस्कृत साहित्य का एक उज्ज्वल गुण है। कविवर कृष्ण ने बड़ी गहराई तक विचार करके ही यह निम्नलिखित सूक्ति रची है—

> प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयंती रसमादधाना।
> सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिवनोपजीव्या ॥

विशद एवं महान अर्थों से बोझिल, रसबोझ के विह्वल, सत्पथावलंबन की दीपिका भारवि की निसर्ग मनोहर छटा को यदि दूसरे कवि गण उपजीव्य बनाते हैं, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? स्वयं महाकवि माघ ने भी भारवि की न केवल कथा-पद्धति एवं रचना-शैली को ही अपना आदर्श अथवा उपजीव्य बनाया है, वरन् कहना तो यह चाहिये कि माघ के शिशुपाल-वध की अधिकांश सामग्री किरातार्जुनीय को सामने रखकर ही प्रणीत ज्ञात होती

	सर्ग	श्लोक संख्या
माहेन्द्र नगमभितः	७	२०
मित्रमिष्टमुपकारि	१३	५१
मुकुलितमतिशय्य	१०	२७
मुक्तमूललघुरुज्झित	६	५
मुखैरसौ विद्रुमभङ्ग	४	३६
मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ	१५	३४
मुदितमधुलिहो वितानी	१८	२०
मुनयस्ततोऽभिमुख	१२	२५
मुनिदनुतनयान्विलोक्य	१०	१६
मुनिमभिमुखता	१०	४०
मुनिरस्मि निरागसः	१३	७
मुनिरूपोऽनुरूपेण	११	२
मुनीषुदहनातप्ता	१५	३०
मुनेर्विचित्रैरिषुभिः	१७	१६
मुनेः शरौघेण तदुग्र	१४	५६
मुहुरनुपतता विधूय	१०	३३
मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनी	१६	५२
मूलं दोषस्य हिंसादे	११	२०
मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः	१४	१५
मृणालिनीनामनुरञ्जितं	४	२९
मृदितकिसलयः सुराङ्गना	१०	६
यच्छति प्रतिमुखं	६	[illegible]
यथा निजे वर्त्मनि	१७	५
यथाप्रतिज्ञं द्विषता	११	[illegible]
यथायथं ताः सहिता	८	
यथारवनाद्यसित	१४	[illegible]

है। इस प्रकार सभी बातों में विचार करने पर भारवि संस्कृत के अन्यान्य महाकवियों में अग्रणी दिखाई पड़ते हैं।

किरातार्जुनीय में महाकवि भारवि की कविता सम्बन्धी मान्यताएँ देखकर यह कहना पड़ता है कि उनकी समग्र कविता उनकी मान्यताओं के अनुसार ही निर्मित है। किरातार्जुनीय के चौदहवें सर्ग में अपने कथा-नायक अर्जुन के मुख से वह कविता के सम्बन्ध में एक मनोहर सूक्ति कहलाते हैं :—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणाम् प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥

अर्थात् स्पष्ट वर्ण रूपी आभरणों से मनोहर, सुनने में कानों को सुख देने वाली, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्नता से विभोर कर देने वाली, सहज प्रसाद गुण पूर्ण एवं गम्भीर अर्थों से युक्त पदों से समलंकृत वाणी, (सुन्दर पत्नी की भाँति) यथेष्ट पुण्य न करने वालों को नहीं प्राप्त होती। किरातार्जुनीय में उनकी यह उक्ति पदे-पदे चरितार्थ होती है। उसके पदों में यथाशक्ति दीर्घ समासान्त कर्कश पदावली नहीं आने पायी है, प्रत्युत इसके विपरीत का ही यत्न स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। शब्द वे ही रखे गये हैं, जो बहु प्रसिद्ध, संगीतात्मक ध्वनि से गुम्फित, श्रुतिमधुर तथा पाठक एवं श्रोता के अन्तस्थल में स्वयं ठुमुकते हुए प्रवेश करने वाले हैं। पदों में प्रायः समास छोटे-छोटे और सीधे सादे हैं, माघ की भाँति व्याकरण की शरण लेकर अनेकार्थक संस्कृत की अप्रसिद्ध धातुओं का प्रयोग अथवा अप्रचलित कठिन कृदन्त एवं तद्धितीय प्रत्ययों से युक्त शब्दों का प्रयोग भारवि ने प्रायः प्रयत्नपूर्वक वर्जित रखा है। जैसे शब्दों के आडम्बर में पड़कर अर्थ के गौरव को क्षीण करना भारवि को कथमपि सह्य नहीं था। कविता के प्रति लोकरुचि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए एक अवसर पर भारवि ने अपना यह आदर्श भी प्रकट किया है :—

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥

	सर्ग	श्लोक संख्या
यदवोचत वीक्ष्य	२	२
यदात्थ काम भवता	१४	१८
यदा विगृह्णाति हत	१४	२४
यदि प्रमाणीकृतमार्य	१४	११
यदि मनसि शमः किमङ्ग	१०	५५
यमनियमकृशीकृत	१०	१०
यया समासादित	३	२२
यशसेव तिरोदधन्मुहु	३	५८
यशोऽधिगन्तु सुख	३	४०
यष्टुमिच्छसि पितॄन्न	१३	६५
यस्मिन्ननैश्वर्यकृत	३	१६
यः करोति वधोदर्का	११	१६
यः सर्वेषामावरीता	१८	४०
या गम्याः सत्यसहायाना	१५	२२
यातस्य प्रथितवरङ्ग	७	१६
युक्तः प्रमाद्यसि हिता	११	२६
युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः	१८	२६
युयुत्सुनेव कवच	११	१५
येनापविद्धसलिलः	५	३०
योग च त योग्यतमाय	३	२६
योषितः पुलकरोधि	६	४१
योषिदुद्धतमनोभव	६	६८
रजोभिः सुरमनुजः	१८	३६
रजनीषु गतातनरस्य	१२	१२
रञ्जिता नु विविधा	६	१५
रणाय जन्य प्रदिशन्निव	१४	२८

'कुछ लोग अर्थ की सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, और कुछ केवल शब्दों की ही छटा को बखानते हैं, इस प्रकार प्रति पुरुष में भिन्न-भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी (कविता) बहुत ही दुर्लभ है, जो सब को एक समान मनोहारिणी मालूम पड़ती हो, अथवा जो अर्थगौरव एवं शब्द-सौन्दर्य—दोनों ही से समलंकृत हो।' किन्तु जहाँ तक भारवि की वाणी का प्रश्न है, वह सचमुच इन दोनों ही सद्गुणों से समलंकृत है। इसका परिचय तो उनके किरातार्जुनीय के किसी भी श्लोक से आसानी से मिल जाता है। काव्य के शब्दार्थ-उभय गुणों के सम्बन्ध में अपनी इस मान्यता की चर्चा उन्होंने एक दूसरे प्रसंग में भी इस प्रकार से की है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

इस श्लोक में भी उक्त मत का ही प्रकारान्तर से कवि ने प्रतिपादन किया है। समूचे किरातार्जुनीय में उसके कवि की इन्हीं मान्यताओं के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

मानव जीवन में उच्च कोटि की नैतिकता, सदाचरण और मर्यादा किरातार्जुनीय का प्रिय प्रतिपाद्य विषय है। सदाचरण मूलक लोकनीति तो जैसे कवि के जीवन की परम प्रिय संगिनी रही है। कठिन से कठिन प्रसंगों पर भी उनके पात्रों के मुख से दहकते हुए अँगारे नहीं निकलते, जैसे उनके मस्तिष्क और हृदय में भागीरथी का शीतल प्रवाह हो और मुख पर आर्य मर्यादा की दृढ़ अर्गला। उनके पात्र जो कुछ कहते हैं, सुविचारित, शान्तिपूर्ण, अनुद्वेजित, और युक्तियुक्त। नैतिकता की चरम सीमा और उज्ज्वल आदर्शों की स्पृहणीय आभा किरातार्जुनीय की अपनी विशेषता है। यद्यपि यत्र-तत्र कथा प्रसंग के कारण ऐसे अनेक अवसर उपस्थित होते हैं जहाँ पात्रों के भटकने और मर्यादाहीन होने की स्थिति स्वाभाविक दिखाई पड़ती है, तथापि ऐसे अवसरों को भी कवि ने बड़ी निपुणता से निभाया है। जैसे कविता कामिनी के शृंगार के समान

	सर्ग	श्लोक संख्या
रथाङ्गसक्रीडितमश्व	१६	८
रम्या नवद्युतिरपैति	५	३७
रयेण सा सनिदधे	१७	५२
रहितरत्नचयान्न शिलो	५	१०
रागकान्तनयनेषु	९	६३
राजद्भिः पथि मरुता	७	६
रात्रिरागमलिनानि	९	१६
रामाणामवजितमाल्य	७	७
रिक्ते सविस्रम्भमथा	१७	३६
रुचिकरमपि नार्थं	१०	६२
रुचिरपल्लवपुष्पलता	५	१९
रुचिराकृतिः कनकसानु	६	१
रुजन्महेषून्बहुधा	१५	५१
रूपवती नयनवाक्य	९	६७
लघुवृत्तितया भिदा	२	५३
लभ्यमेकसुकृतेन	१३	५२
लभ्या धरित्री तव	३	१७
लिलिक्षतीव क्षयकाल	१६	५४
लेखया विमलविद्रुम	९	२२
लोक विधात्रा विहितस्य	३	४१
लोचनाधरकृता	९	६०
लोलदृष्टि वदन	९	४७
वदनेन पुष्पितलतान्त	१२	४१
वनान्तशय्याकठिनी	१	३६
वनाश्रयाः कस्य मृगाः	१४	१३
वनेऽवने वनसदा	१५	१०

ही नैतिकता एव सदाचार मूलक आर्य संस्कृति के स्वरूप की रक्षा की ओर भी वह सदैव सजग रहा है।

किरातार्जुनीय राजनीति प्रधान महाकाव्य है। क्रूर एवं छली शत्रु से बदला चुकाने के लिए ही इसका आरम्भ हुआ है, और उसी कार्य के सम्पन्न हो जाने पर इसकी समाप्ति भी हो गई है। राजनीति वीररस से अछूती क्यों कर हो सकती है? फलतः इसका प्रधान रस 'वीर' है। सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक कहकर उसके सभी प्रमुख अङ्गों का संक्षिप्त परिचय दे दिया है :—

> नेता मध्यमपांडवो भगवतो नारायणस्यांशज-
> स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
> श्रृङ्गारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,
> शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥

वीर रस के उपयुक्त ही इसके नायक मध्यम पाण्डव अर्जुन हैं, जो भगवान् नारायण के अशभूत नर के अवतार माने जाते हैं। अर्जुन यद्यपि तपस्या में निरत हैं और समाधि में ऐसे मग्न हैं कि दिव्य सुन्दरी अमराङ्गनाओं के आकर्षक प्रलोभन भी उन्हें विचलित नहीं कर पाते तथापि उन्हें अपने शस्त्रास्त्रों का इतना मोह है कि उन्हें त्याग भी नहीं पाते। वीरता की इस निशानी को वे समाधि दशा में भी धारण करते हैं। प्रधान वीर रस के अङ्ग रूप में शृगार एव शान्त रस का भी अदभुत वर्णन कवि ने किया है। और सब से बड़ी विशेषता उसकी यह है कि रसों के अनुकूल भाषा और वृत्तों का भी उसने चुनाव किया है। यद्यपि किरातार्जुनीय में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग कवि ने किया है तथापि वंशस्थ और मालिनी छन्द उसे विशेष प्रिय हैं। प्रायः वीर रस के प्रसग में तो उसने वशस्थ का ही प्रयोग किया है और सर्गों की समाप्ति पर मालिनी छन्द का। क्षेमेन्द्र ने वीर रस के लिए वशस्थ छन्द का ही प्रयोग किए जाने की बात लिखी है :—

	सर्ग	श्लोक संख्या
विलङ्घ्य पत्रिणा पत्ति	१५	४४
विलम्बमानाकुलकेश	८	१८
विवरेऽपि नेनमनिगूढ	१२	३७
विवस्वदंशुसश्लेष	१५	६
विविक्तवर्णाभरणा	१४	३
विविक्तेऽस्मिन्नगे	११	३६
विशङ्कमानो भवत	१	७
विशदभ्रू युगच्छिन्न	११	४
विषमोऽपि विगाह्यते	२	३
विसारिकाञ्चीमणि	८	२३
विस्फार्यमाणस्य ततो	१७	२४
विस्मय क इव वा	१३	४०
विस्मृत. सपदि तेन	१८	१३
विहस्य पाणौ विधृते	८	५१
विहाय वाञ्छामुदिते	४	२५
विहाय शान्ति नृप	१	४२
विहारभूमेरभिघोष	४	३१
विहिता प्रियया	२	१
वीक्ष्य रत्नचयं	६	५६
वीक्ष्य रन्तुमनस.	६	१
वीतजन्मजरस पर	५	२२
वीतप्रभावतनुरप्य	१६	६४
वीताजस सन्निधि	३	१६
वीर्यावदानेषु कृता	३	४३
वेणशाकरुके	१५	१८
व्यपनोदितुमिव मूल	२	५६

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ।

यही नहीं उन्होंने भारवि के वंशस्थ की प्रशंसा करते हुए अपने सुवृत्त तिलक में यहाँ तक लिख दिया है :—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता ।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकी कृता ॥

भारवि के इन छन्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे श्रुतिमधुर, संगीत, पूर्ण, सरस एवं कोमल शब्दों तथा पद-विन्यासों से युक्त होते हुए भी बहुधा प्रसाद गुण युक्त एवं सहृदय पाठक की चेतना को तत्क्षण अन्तर्मुखी बना देने में सक्षम हैं। शाब्दिक एवं कृत्रिम अलङ्कार विधान अथवा ओजपूर्ण शब्द सञ्चयन तो उनमें बहुत कम हैं, पूरे महाकाव्य में श्लेष, यमक अथवा अनुप्रास बहुत अधिक नहीं आने पाये हैं, जब कि अन्य महाकाव्यकारों ने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए विपुलता से इनका प्रयोग किया है। यद्यपि भारवि में भी पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा का परिचय कुछ प्रसंगों पर आवश्यक रूप से मिलता है, तथापि ऐसे अवसरों पर भी उनके गंभीर कवि कर्म की यथेष्ट रक्षा हुई है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके ऐसे स्थल भी कम हृदयग्राही नहीं हैं।

किरातार्जुनीय की कथा

जैसा कि नामकरण से ही स्पष्ट है, किरातार्जुनीय में किरात वेश धारी शङ्कर जी और अर्जुन के युद्ध का प्रमुख रूप से वर्णन है। अपनी उत्कट तपस्या द्वारा शिव को सन्तुष्ट करने के अनन्तर अर्जुन को अपनी सहिष्णुता तथा साहसिकता का भी परिचय देना पड़ा है, और तब उन्हें अपने अभिमत फलदायी पाशुपतास्त्र की प्राप्ति हुई है। यह कथा महाभारत के वन पर्व से ली गयी है और इस महाकाव्य में काव्यांग के लिए उपयोगी समस्त वस्तुओं के मनोहर अलङ्करण के साथ उसी का पल्लवन किया गया है।

महाकाव्य का आरम्भ इस प्रकार से हुआ है, जैसे किसी नाटक का रंग मंच पर अभिनय आरम्भ हो रहा हो। कौरवों की कपट द्यूत-क्रीडा से पराजित

	सर्ग	श्लोक संख्या
व्यथितमपि भृशं मनो	१०	२२
व्यथितसिन्धुमनीरशनैः	५	११
व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्च	५	३५
व्यपोहितु लोचनतो	८	१६
व्यानशे शशधरेण	६	१७
व्याहृत्य मरुता पत्या	११	३७
व्रज जय रिपुलोक	१८	४८
व्रजति शुचि पद त्वयि	१८	३१
व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्र	१३	२
व्रजन्ति ते मूढधियः	१	३
व्रजाजिरेष्वम्बुदनाद	४	१
व्रणमुखच्युतशोणित	१८	
व्रीडानतैराप्तजनोप	३	
शक्तिरर्थपतिषु स्वय	१३	
शक्तिवैकल्यनम्रस्य	११	
शङ्कित्ताय कृतबाष्प	६	
शतशो विशिखानवद्यते	१५	
शमयन्धृतेन्द्रियशमैक	६	२०
शरण भवन्तमति	१८	२२
शरदम्बुधरच्छाया	११	१२
शरवृष्टि विधूयोर्वी	१५	४१
शरानवद्यन्ननवद्य	१७	५६
शशधर इव लोचनाभि	१०	११
शम्भोर्धनुर्मण्डलतः	१५	४६
शाखावसक्तकमनीय	७	४०
शान्तता विनययोगि	१३	३७

पाडव जब द्वैत वन में निवास कर रहे थे तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि दुर्योधन का शासन किस प्रकार से चल रहा है, इसका पता लगाना चाहिए। क्योंकि अवश्य ही वह अपने क्रूर और कपटी स्वभाव वाले सहयोगियों के कारण प्रजा-जन का विद्वेषी सिद्ध हुआ होगा और ऐसी स्थिति में उसके शासन के विरुद्ध प्रजा में बहुत गहरा असन्तोष भी पैदा हुआ होगा। प्रजा के आन्तरिक असन्तोष के कारण किसी भी राजा का शासन दीर्घ-कालव्यापी हो नहीं सकता। अतः किसी प्रकार से हस्तिनापुर के लिए एक गुप्तचर भेजकर वहाँ की स्थिति की जानकारी प्राप्त करनी ही चाहिये। इसी उद्देश से उन्होंने एक वनवासी किरात को चुना, जो ब्रह्मचारी का वेश धारण कर हस्तिनापुर गया और वहाँ कुछ काल तक रहकर सब बातें अपनी आँखों से देखकर लौट आया। उसने युधिष्ठिर से बताया कि—

"दुर्योधन अब बड़ी योग्यता तथा तत्परता से अपना शासन-कार्य चला रहा है। वह निपुण राजनीतिज्ञ बन गया है, न्यायपरायण हो गया है और प्रजा का बड़ी निष्ठा तथा सहृदयता से पालन कर रहा है। अपने बन्धु-बान्धवों तथा अधीनस्थ राजाओं को भी उसने अपने प्रति अनुरक्त बना लिया है, उसकी सेना उस पर प्राण देती है, वह शत्रु और पुत्र—सब के साथ धर्मशास्त्रानुसार दण्ड की व्यवस्था रखता है। उसके राज्य में कृषि कर्म भी खूब उन्नत स्थिति में है। दुःशासन को युवराज बनाकर वह स्वय यज्ञादि के सदनुष्ठानों में निरत रहता है और प्रजा वर्ग में भी उसके प्रति अतिशय प्रेम है अतएव अब आप को उसके जीतने के लिए कोई प्रबल उपाय करना चाहिए। हस्तिनापुर का यह सब समाचार सुनाकर जब वह किरात पारितोषिक पा कर चला गया तब युधिष्ठिर ने यह सब बातें द्रौपदी को कह सुनायीं। सयोगात् उस अवसर पर भीमसेन भी मौजूद थे। अपने सहज वैरी दुर्योधन का उत्कर्ष सुनकर भीमसेन आग बबूला हो उठे, और द्रौपदी का रक्त खौलने लगा। द्रौपदी ने युधिष्ठिर की शिथिलता, शान्तिप्रियता तथा सहनशीलता को लक्ष्य कर बड़ी मार्मिक एव व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्हें बहुत कुछ खरी-खोटी बातें कह सुनाई, निन्दा की और अपने ऊपर किए गए अत्यचारों तथा पाण्डवों पर आने वाली विपदाओं का सजीव वर्णन कर भीमसेन को और अधिक क्षुब्ध कर दिया।

	सर्ग	श्लोक संख्या
शारता गमितया शशि	६	२६
शिरसा हरिन्मणिनिभः	६	२३
शिलावनैर्नाकसदा	८	३२
शिवध्वजिन्यः प्रतियोध	१४	५८
शिवप्रगुन्नेन शिलीमुखेन	१७	५८
शिवभुजाहतिभिन्न	१८	३
शिवमौनयिक गरी	२	३५
शीधुपानविधुरासु	६	४२
शीधुपानविधुरेषु	६	७३
शुक्लैर्मयूखानिचयैः	५	४२
शुचि भूषयति श्रुत	२	३२
शुचिरप्सु विद्रुमलता	६	२३
शुचिवल्कवीततनुरन्य	६	३१
शुभानना. साम्बुरुहेषु	८	४२
शून्यामाकीर्णतामेति	१५	२७
श्च्योतन्मयूखेऽपि हिम	३	८
श्रद्धेया विप्रलब्धारः	११	३५
श्रियः कुरूणामधिपस्य	१	१
श्रिय विकर्षत्यपहन्त्य	३	७
श्रिया हसद्भिः कमलानि	८	४४
श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरा	७	३७
श्रीमद्भिः सरथगजै.	७	१
श्रीमल्लताभवनमाषधय·	५	२८
श्रुतमप्यधिगम्य	२	४१
श्रुतिमुखमुपनीर्णिव	१०	३८
श्रेयसी तव सम्प्राप्ता	११	११

युधिष्ठिर की शान्तिपरायणता तथा क्षमाशीलता को ही सम्पूर्ण आपदाओं की जड़ बतलाकर उसने दुर्योधन के विरुद्ध तत्काल शस्त्र धारण करने के लिए उत्तेजित किया। भीमसेन पहले ही से भरे बैठे थे, द्रौपदी की उत्तेजक वाणी ने उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया। फलतः उन्होंने भी क्षुब्ध वाणी में द्रौपदी के कथन की पुष्टि करते हुए बहुत जोर लगाकर कहा कि—हमें अविलम्ब ही दुर्योधन से अपने राज्य की प्राप्ति के लिए युद्ध आरम्भ कर देना चाहिए।

भीमसेन और द्रौपदी की उद्वेजक वाणी को धर्मराज युधिष्ठिर ने बड़ी शांति से ग्रहण किया। पहले तो उन्होंने भीमसेन और द्रौपदी की वक्तृता की उचित प्रशंसा की, किन्तु धीरे-धीरे नम्रवाणी में उन्हें राजनीति के रहस्यों से परिचित कराते हुए कहा कि—हम क्षत्रिय हैं, हमें अपनी प्रतिज्ञा का पालन सब प्रकार से करना ही चाहिए। हमने तेरह वर्ष तक वनवास की जो प्रतिज्ञा ले ली है उसकी रक्षा करना हमारा परम धर्म है। प्रतिज्ञात हमें समय की अवश्य प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसी समय जैसा कुछ उचित होगा, हम करेंगे।

बातचीत चल ही रही थी कि इसी अवसर पर कृष्ण द्वैपायन भगवान् व्यास देव का वहीं पर पदार्पण होता है। सभी पाडव उनके इस शुभागमन से कृतार्थ हो जाते हैं और हृदय खोलकर उनका खूब स्वागत-समादर करते हैं। व्यास जी पाडवों के प्रति सहज भाव से सहानुभूति और कृपा रखते थे। उन्होंने कहा—सचमुच ही आप लोगों के साथ कौरवों ने भीषण अत्याचार किए हैं। यद्यपि न्याय से तेरह वर्ष की वनवास-अवधि बीत जाने के बाद आप लोगों को राज्य मिल जाना चाहिए तथापि हमें तो लक्षणों से यही ज्ञात होता है कि दुर्योधन अनायास प्राप्त हुए राज्य को सीधे ढङ्ग से वापस नहीं करेगा। वह युद्ध अवश्य छेड़ेगा और जो जीतेगा उसी को राज्य मिलेगा। और यदि युद्ध छिड़ता है तो आप लोगों की विजय में हमें सन्देह दिखाई पड़ता है, क्योंकि भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि देश के बड़े बड़े शस्त्रविद्याविशारद दुर्योधन की ओर रहेंगे और आप लोग अकेले होंगे। अतएव ऐसी स्थिति में एक उपाय करने का हम परामर्श देते हैं। अर्जुन को हम इन्द्र को प्रसन्न करने वाली एक मन्त्र-विद्या की दीक्षा दे देते हैं, वह सशक्त होकर इन्द्रकील पर्वत पर जाकर उसका सविधि

	सर्ग	श्लोक संख्या
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात	११	४४
श्लिष्यतः प्रियवधूरुप	९	२७
श्वसनचलितपल्लवा	१०	३४
श्वस्त्वया सुखसंवित्तः	११	३४
स किंसखा साधु न ऽ	१	५
सक्तिं जवादपनयत्न	५	४६
स क्षत्रियस्त्राणसहः	३	४८
स खण्डं प्राप्य परात्	१७	६०
सखा सा युक्तः कथितः	१४	२१
सखि दयितमिहानयेति	१०	४७
सखीजन प्रेय गुरूकृता	८	११
सखीनिव प्रीतियुजो	१	१०
स गतः क्षितिमुष्ण	१३	३१
सचकितमिव विस्मया	१०	७
स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य	६	१५
सजलजलधरं नभो	१०	१९
सज्जनोऽसि विजहीहि	१३	६६
सज्यं धनुर्वहति यो	१३	७१
स ततार सैकतवतीरभित.	६	१६
स तदोजसा विजित	१२	२९
स तमालनिभे रिपौ	१३	२४
स तमाससाद घननाल	१२	५३
सदृशामतनुमाकृतेः	१०	१३
सद्भना विवचनाहित	९	३४
सद्धाद्रितेवाभिनिविष्ट	१७	११
स धनुर्महेषुधि	१२	२७

अनुष्ठान करें। देवराज इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुन को ऐसे शस्त्रास्त्र प्रदान करेंगे कि फिर उनके द्वारा युद्ध में अर्जुन अपने शत्रुओं पर अवश्य ही विजय-लाभ करेंगे। इतना कहकर व्यास जी ने अर्जुन को उक्त मन्त्र-विद्या की दीक्षा दे दी और इन्द्रकील पर्वत का मार्ग दिखाने के लिए एक यक्ष को भी उनके साथ कर दिया। यक्ष ने अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचा दिया।

यद्यपि अपने भाइयों तथा द्रौपदी से वियुक्त अर्जुन का चित्त बहुत विचलित था तथापि व्यासदेव के कथनानुसार अपनी भावी विजय के लिए वह सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार हो गये। उस पर्वत पर देवराज इन्द्र का ही अधिकार था। अर्जुन की भारी तपस्या देखकर पर्वत के रक्षक घबरा गये। उन्होंने सोचा, सम्भवतः यह तपस्वी अपनी इस विकट तपस्या के द्वारा हमारे स्वामी का सिंहासन प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि प्रकृति भी इसके सर्वथा अनुकूल दिखाई पड़ती है। इसे वृक्ष अपने आप फल-फूल दे जाते हैं, वायु शीतल, मन्द, सुगन्धि का वितरण करता है, सहज विरोधी वन्य जीव-जन्तु भी इसके प्रभाव से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, अवश्य ही यह कोई महान् तपस्वी है। निदान पर्वत के रक्षकों ने जाकर देवराज इन्द्र की गुहार लगाई, और उनसे इस नवीन एवं विकट तपस्वी की तपश्चर्या का पूरा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया। इन्द्र को सारी परिस्थिति समझने में देर नहीं लगी। अपने प्रिय पुत्र अर्जुन की सफलता का वृत्तान्त उन्हें बड़ा रुचिकर लगा। वह मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु बाहर से लोक-व्यवहार की रक्षा एवं अपनी उच्च मर्यादा को बचाने के लिए उन्होंने अप्सराओं को बुलाकर आज्ञा दी कि—जैसे भी हो सके तुम लोग गन्धर्वों के साथ जा कर उस तपस्वी की तपस्या को भंग करो।

देवराज इन्द्र की नगरी अमरावती से देवांगनाओं और गन्धर्वों का यूथ का यूथ अर्जुन की तपस्या को भंग करने के लिए इन्द्रकील पर्वत की ओर चल पड़ता है। मार्ग में खूब मनोरंजन और क्रीड़ाएँ होती हैं और इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन के आश्रम के समीप ही वे सब अपना डेरा डाल कर अर्जुन की तपस्या को भंग करने के विविध आयोजन आरम्भ कर देते हैं। किन्तु उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ, सारे अनुभूत प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। अर्जुन अपने योगासन

से टस से मस नहीं होते और अप्सराओं को तथा गन्धर्वों को अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट जाना पड़ता है।

अप्सराओं और गन्धर्वों की अनेक मोहक चेष्टाओं का तपस्वी अर्जुन के मन पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता और वे पूर्व की अपेक्षा और अधिक निष्ठा से अपनी तपस्या में निरत रहते हैं। विफल प्रयत्न होकर अप्सराओं और गन्धर्वों के अमरावती वापस लौट जाने पर इन्द्र अपने प्रिय पुत्र अर्जुन को देखने के लिए स्वयमेव प्रस्थान करते हैं। पहले वह एक जर्जर वृद्ध ब्राह्मण का दय नीय वेश धारण कर अर्जुन के समीप आते हैं और अनेक प्रकार से अर्जुन की मनोहर आकृति, प्रबल युवा शरीर, उग्र तेज तथा कठोर तपस्या की प्रशंसा करते हैं और फिर अन्त में परीक्षा लेने के लिए अर्जुन से कहते हैं—युवक तपस्वी! तुम्हारी इस कठोर तपस्या से तो तुम्हें वह मुक्ति सुगमता से प्राप्त हो सकती है, जो योगियों और मुनियों के लिए भी दुर्लभ है। तब फिर तुम किस मोह में पड़कर अस्त्र-शस्त्र लिए हुए तपस्या कर रहे हो। तुम्हारे लक्षण से तो मुझे यही मालूम पड़ रहा है कि तुम कैवल्य की नहीं किन्तु किसी तुच्छ लौकिक सिद्धि के लिए यह कठोर तपस्या कर रहे हो। कैसी विडम्बना है यह! ऐसे तुच्छ एवं विनश्वर सुख-भोग के लिए ऐसी कठोर साधना! तुम यह कुत्सित कामना छोड़ दो युवक! शस्त्रास्त्रों को फेंक दो। और कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति की साधना में लग जाओ, जिससे फिर कभी पछताना न पड़े।

अर्जुन ने बड़ी युक्तियों और तर्कों के साथ अपनी तथा अपने भाइयों की वर्तमान दुरवस्था की चर्चा करते हुये उस वृद्ध ब्राह्मण को समझाने की चेष्टा की। कहा—ब्राह्मण देवता! हम गृहस्थ हैं, आप जिस उत्कट साधना का उपदेश हमें दे रहे हैं, उसके हम अधिकारी नहीं हैं। आप को ज्ञात नहीं है कि हमारे प्रबल शत्रुओं ने हमारी कितनी दुर्दशा कर रखी है। उनके अत्याचारों और अपकारों को स्मरण कर हम मारे ग्लानि से गलने लगते हैं। अपने गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए अपने शत्रुओं से बदला चुकाना मेरा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। और उसी की पूर्ति के लिए मैं इस कठोर साधना में निरत हूँ।

इन्द्र की युक्ति एव तर्कों से पूर्ण विनीत वाणी को सुनकर देवराज परम प्रसन्न हुये और उन्होंने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। उन्होंने दिव्यास्त्र की प्राप्ति के निमित्त शिव जी की आराधना करने के लिए अर्जुन को परामर्श दिया। अब देवराज इन्द्र की आराधना के अनन्तर अर्जुन ने वहीं रह कर शिव जी की आराधना आरम्भ कर दी। इस प्रथम सफलता ने उनके उत्साह को द्विगुणित कर दिया था। वह तन-मन की सुधि भूलकर तपोमय हो गए। उन्होंने ऐसी उत्कट तपश्चर्या की कि उनके तेज से आस-पास के सिद्ध एव तपस्वी गण जलने-से लगे। उन्हें यह अपूर्व अनुभव हुआ और वे दौड़ कर आशुतोष शकर की शरण में पहुँच कर अपने झुलसे हुए शरीरों को दिखलाते हुए अपनी मनोवेदना प्रकट करने लगे। शिव जी को सब कुछ मालूम हो गया, उन्होंने कहा—साधको! वह कोई साधारण तपस्वी नहीं है। वह पाडुपुत्र अर्जुन है, उसे साक्षात् नारायण का अश समझो। चलो, मै तुम लोगों को उसके अतुलित बल पौरुष एव अद्भुत कष्टसहिष्णु स्वभाव का परिचय दिलाता हूँ। इस काम के लिए यह अच्छा अवसर है। मूक नामक दानव को अर्जुन की इस विकट तपस्या का पता लग गया है। वह समझ गया है कि अर्जुन की इस तपस्या के सफल हो जाने से सत्पुरुषों को लाभ और दुष्ट-दुरात्माओं की अपार स्वार्थहानि होगी। अतएव वह क्रूर दानव मायामय वराह का रूप धारण कर अर्जुन को मारने के लिए दौड़ा जा रहा है, चलो वह तमाशा भी तुम लोगों को हम दिखा दें।

यह कह कर भगवान् शङ्कर ने अपने गणों के सङ्ग किरातों के सेनापति का वेश धारण किया। उनके असख्य प्रमथ गण भी किरात वेश मे उन्हीं के साथ-साथ चल पड़े। शिव जी की यह सेना गङ्गा के किनारे उतर पड़ी, जहाँ से अर्जुन का आश्रम बहुत समीप था। इसी बीच पर्वताकार वराह का वेश धारण कर वह मूक दानव अर्जुन की ओर तीव्रता से दौड़ पड़ा। पहले तो अर्जुन ने यह समझ कर उपेक्षा करनी चाही कि यह कोई साधारण वराह होगा, किन्तु जब वह बहुत समीप आने लगा और उसकी विकराल हिंस्र चेष्टा प्रकट होने लगी तब अर्जुन ने उसे असाधारण वराह समझ कर उस पर बाण-प्रहार किया।

इधर से शिव जी ने भी उसी क्षण उस पर बाण मारा। वराह तो तत्क्षण ही गिरकर मर गया, किन्तु वह किसके बाण से मरा, इस प्रश्न को लेकर बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ, क्योंकि शिव जी का बाण उसे छेदकर धरती में घुस गया था और अर्जुन का बाण उसके शरीर से निकल कर वहीं पर गिर पड़ा था। विचित्र स्थिति थी। अर्जुन ने उस मृतक वराह के शरीर के पास जाकर ज्यों ही अपना बाण उठाना चाहा त्योंही शिव जी की प्रेरणा से उनका एक सैनिक दूत वहाँ आकर उपस्थित हो गया। उसने बड़े व्यंग्य पूर्ण शब्दों में कहा—यह मेरे स्वामी किरात सेनापति का बाण है, उन्होंने तुम्हारे प्राण बचाने के लिए ही दयाभाव से इस वराह को मारा था। तुम में इतनी शक्ति कहाँ थी, जो तुम इस भयङ्कर जीव को मार सको। यदि समय रहते मेरे स्वामी ने इस भीषण वराह को न मार दिया होता तो यह तुम्हीं को अब तक अपना शिकार बना चुका होता। तुम कितने अकृतज्ञ हो, जो अपने प्राण बचाने वाले का बाण भी चुरा लेना चाहते हो। धिक्कार है, तुम्हें।

अर्जुन को किरात सैनिक की ये धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य और क्रोध हुआ। उन्होंने भी बड़े तीव्र स्वर में खूब खरी-खोटी सुनाते हुए कहा—तू एक जंगली और असभ्य आदमी है, यही समझकर मैंने तुम्हारी ये कठोर बातें सह ली हैं, क्योंकि विवाद तो अपने समकक्ष से ही करना उचित है। तू यहाँ से कुशलतापूर्वक शीघ्र चला जा। कहाँ है तेरा स्वामी, बड़ा बाण वाला बनता है। नहीं देते बाण। यह तो मेरा बाण है, तू देखता भी नहीं। यदि तेरे स्वामी में बल है तो जाकर कह दे कि आ जायँ और मुझसे स्वयं छीन लें। किन्तु यह भी कह देना कि यदि वे सचमुच इसे छीनने की चेष्टा करेंगे तो उनकी वही दशा होगी जो दशा विकराल सर्प के शिर से उसकी मणि छीनने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति की होती है। आदि, आदि।

कठोर एवं मर्म पर आघात पहुँचाने वाली ऐसी बातों का सिलसिला बढ़ता ही गया और परिणाम युद्ध पर आ पहुँचा। दूत के मुख से अर्जुन की उद्धत बातें सुनकर किरात-सेनापति वेशधारी शिव जी अपने प्रमथों की सेना लेकर अर्जुन से सम्मुख युद्धार्थ जुट गये। घनघोर युद्ध हुआ। अर्जुन ने अपने

तीक्ष्ण बाणों से प्रमथों की सेना को ऐसा बींध डाला कि वह भाग खड़ी हुई, उसे यह भी होश नहीं रहा कि शिव जी यहाँ सामने ही खड़े हुए हैं। शिव जी के ज्येष्ठ पुत्र स्वामिकार्त्तिकेय के बहुत समझाने-बुझाने और धिक्कारने पर भी प्रमथों को लौटने का साहस जब नहीं हुआ तब शङ्कर जी ने अपना कर्त्तव्य निभाया। उन्होंने अपने रण-कौशल से अपने सैनिकों में यह विश्वास भरने का यत्न किया कि लौट चलो, शकर जी तो हैं ही। फिर तो किरात सेना वापस लौट पड़ी और सबका अर्जुन के सङ्ग खूब घनघोर युद्ध होने लगा।

शिव जी ने अपने चुने हुए बाणों से अर्जुन के शरीर को छेद कर जर्जर बना डाला। जब अर्जुन ने देखा कि ये साधारण अस्त्र इस किरात सेनापति पर बहुत कुछ कार्य नहीं सिद्ध कर पा रहे हैं तो उन्होंने अपना प्रस्वापन नामक अस्त्र छोड़ा, जिसके प्रभाव से शिव जी की वह समूची सेना चेतनाविहीन हो गयी। अपनी सेना की यह दयनीय दशा देखकर शिव जी ने अपने ललाट स्थल से ऐसा पिंगल वर्ण तेज प्रकट किया, जिससे उनकी सारी सेना पुनः चैतन्य हो गयी और उसकी मूर्च्छा बीत गई। अपने इस अमोघ अस्त्र को व्यर्थ होते देखकर अर्जुन ने सर्पास्त्र का सधान किया जिससे युद्ध क्षेत्र में स्थित प्रमथों के चारों ओर भयङ्कर सर्प ही सर्प दिखाई पड़ने लगे। उन भयङ्कर सर्पों के फूत्कार से सूर्य-मडल आच्छादित हो गया और दिशाएँ विवर्ण हो गयीं। तदनन्तर शङ्कर जी ने अपने गारुड़ास्त्र से अर्जुन के उस बाण को भी जब विफल कर दिया तब अर्जुन ने आग्नेयास्त्र चलाया, जिससे समूचा ससार जलने-सा लगा। प्रमथ गण आग की लपटों के भय से फिर युद्धभूमि छोड़कर भागने लगे और चारों ओर भयङ्कर हाहाकार मच गया। शिव जी ने वारुणास्त्र से अर्जुन के इस कौशल को भी विफल बना दिया, अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो गयीं और अर्जुन को बड़ा विस्मय हुआ कि आखिर यह कैसा किरात सेनापति है, जिसके आगे मेरे ऐसे-ऐसे अमोघ बाण भी विफल होते जा रहे हैं।

किन्तु फिर भी अर्जुन हताश नहीं हुये, और अपने रण-कौशल से उन्होंने शिव जी की सेना को इतना आतंकित कर दिया कि शिव जी भी परेशान-से हो गये।

निदान इस प्रकार के सीधे युद्ध में विपक्षी को अपराजेय समझकर शिव जी ने अपनी माया से अर्जुन के दोनों तरकसों को जब वाण रहित कर दिया और धनुष को भी काट डाला तब अर्जुन ने अपनी तलवार का सहारा लिया। किन्तु थोड़ी ही देर में शिव जी ने उस तलवार को भी काट कर गिरा दिया। तब निरस्त्र अर्जुन शिव जी पर पत्थर बरसाने लगे और बड़े-बड़े वृक्षों को उपार कर शिव जी और उनकी सेना पर बरसाना आरम्भ कर दिया। किन्तु शिव जी ने अपने वाणों से उन सब प्रहारों को भी जब व्यर्थ सिद्ध कर दिया तब अर्जुन हताश होकर मल्ल युद्ध करने पर उतर आये और शिव जी की टाँगों को पकड़कर उन्होंने उन्हें धरती पर पटक देने का कठोर उपक्रम किया। समूची प्रमथ सेना हैरान थी। अर्जुन जैसे भयङ्कर पराक्रमी से जीवन में पहली बार उसका सामना हुआ था।

अर्जुन के इस भयङ्कर किन्तु उत्कट पराक्रम को देखकर आशुतोष शिव जी परम प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना कृत्रिम किरात वेश छोड़ कर प्रकृत रूप धारण किया। अर्जुन को परम प्रसन्नता हुई और उन्होंने गद्‌गद् कंठ से शिव जी की बहुतेरी स्तुति की, अपना अपराध क्षमा कराया, और अपनी दैन्य स्थिति का संक्षिप्त परिचय देते हुए अभीष्ट वरदान की याचना की। शिव जी ने अर्जुन को अपना अद्वितीय पाशुपतास्त्र प्रदान किया, जिसके सम्मुख संसार की कोई भी शक्ति अपराजेय नहीं हो सकती थी। फिर तो उसी अवसर पर शिव जी की आज्ञा से इन्द्रादि दिक्पालों ने भी अर्जुन को अनेक अमोघ शस्त्रास्त्र प्रदान किए। और तदनन्तर कृतकार्य अर्जुन उस तपोवन से अपने ज्येष्ठ बन्धु युधिष्ठिर के पास वापस लौट आये और उन्हें सादर प्रणाम किया।',

इस प्रकार "श्रियः "कुरूणामधिपस्य" के प्रसङ्ग से आरम्भ किरातार्जुनीय की विचित्र कथा "धृतगुरुजयलक्ष्मी धर्म सूनु ननाम" से समाप्त हो जाती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह कथा महाभारत के वन पर्व से ली गई है और बहुत कुछ उसी के अनुसार चली भी है। किन्तु यह इतनी छोटी सी कथा है, और इसका विषय-विस्तार इतना स्वल्प है कि उसी के लिए एक महाकाव्य का प्रणयन किसी भी कवि के लिए पर्याप्त असुविधाजनक है।

क्योंकि किसी भी महाकाव्य में जीवनव्यापी घटनाओं के क्रमबद्ध वर्णन के साथ ही उसके बृहत्तर आकार-प्रकार की भी सीमा निर्दिष्ट की गई है। उसमें प्रकृति के आङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ ही दिन-रात, सूर्य-चन्द्रमा, जङ्गल-पहाड़, नदी-सरोवर, जलक्रीड़ा, वन-विहरण, मद्यपान आदि प्रसंगों का भी वर्णन अपेक्षित है। स्पष्ट ही तपस्यानिरत एवं कुछ दिनों के लिए अपने परिवारवालों से वियुक्त वीरवर अर्जुन के प्रसंग में ऐसे सन्दर्भों का प्रस्तुत करना कुछ स्वाभाविक नहीं लगता। किन्तु ऐसा लगता है कि आचार्यों की महाकाव्य सम्बन्धी सुदृढ परिभाषा के अनुसार महाकवि भारवि को भी अपने इस महाकाव्य में उन समस्त प्रसंगों का स्वाभाविक एवं कहीं-कहीं कुछ अस्वाभाविक वर्णन करना ही पड़ा। अवश्य ही इसके से कतिपय प्रसंग कथावस्तु को देखते हुए कृत्रिम से मालूम पड़ते हैं और उनमें भारवि की सहज कवित्व प्रतिभा का उचित विकास नहीं हो पाया है।

किरातार्जुनीय की उपर्युक्त सम्पूर्ण कथावस्तु एक छोटे-से खंड काव्य की सीमा में बाँधी जा सकती है किन्तु महाकाव्योचित उपर्युक्त प्रसङ्गों के कारण ही उसका इतना विकास हुआ है कि उसे बृहत्त्रयी महाकाव्यों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

किरातार्जुनीय के ऐसे प्रसंगों की सजीवता यद्यपि कम नहीं हुई है, जिनमें उन्होंने महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति की है तथापि सम्पूर्ण कथा-प्रवाह में इनसे बाधा तो अवश्य पड़ी है। इन्द्र के आदेशानुसार कहाँ तो अप्सराएँ गन्धर्वों के साथ अर्जुन को लुभाने के लिए जा रही थीं और कहाँ बीच मार्ग में ही उन्हें मदिरा के नशे में चूर हो कर जङ्गल में मङ्गल मनाने के लिए विवश होना पड़ा है। उनकी जल-क्रीड़ा तथा वन-विहार का यह प्रसङ्ग मूल कथा-प्रवाह में नितान्त अस्वाभाविक तथा असम्बद्ध लगता है। एक पूरे सर्ग का सर्ग ही भारवि ने इसी अस्वाभाविक प्रसङ्ग में रंग दिया है। इसी प्रकार प्रकृति वर्णन के लिए भी उन्हें मूल कथावस्तु के साथ विक्षेप करना पड़ा है। यद्यपि पर्वत और नदी के वर्णन नितान्त स्वाभाविक तथा कथा वस्तु के उपकारक हैं, किन्तु युद्ध का लंबा प्रसङ्ग तो इतना विस्तृत है कि सामान्य पाठक का जी ऊब जाता

है। अठारह सर्गों के महाकाव्य में पूरे पाँच सर्ग अर्जुन के युद्ध-प्रसङ्ग से पूर्ण हुए हैं। सभवतः एक वीर रस पूर्ण महाकाव्य के लिए तथा अर्जुन जैसे महान् शूरवीर नायक की प्रतिष्ठा-रक्षा के लिए महाकवि को इतने बड़े युद्ध वर्णन की आवश्यकता दिखाई पड़ी होगी, किन्तु कुछ भी हो, काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह बृहत् सन्दर्भ बहुत कुछ अनावश्यक एव जी उबाने वाला प्रतीत होता है।

किन्तु यह सच होते हुए भी किरातार्जुनीय अपने ढङ्ग का अद्वितीय महाकाव्य है। एक लघु-कथा सन्दर्भ को महाकाव्य के जिस मनोहर ढाँचे में भारवि ने ढाल दिया है उसे देखकर यह मानना पड़ता है कि उनमें कवित्व का कितना अविरल स्रोत था। कितनी महान् उनकी कल्पनाएँ थीं और कथा वस्तु के विकास के कितने साधन उन्हें ज्ञात थे। वे न केवल एक रससिद्ध कवीश्वर थे वरन् अलकारिक दृष्टि से भी अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न एवं सक्षम थे। क्या शब्द सौन्दर्य एवम् क्या अर्थगौरव सब में उनकी समान गति थी। थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने में तो वह अद्वितीय थे। साधारण बात को भी वे इस ढङ्ग से प्रस्तुत करते थे कि बिना कुछ देर तक विचार किये हुए उनकी उक्तियों का गूढ़ आशय हृदयङ्गत नहीं होता। और हैं वे इतनी हृदयग्राही कि यदि एक बार हृदय में बस गयीं तो फिर उनको सहज ही दूर भी नहीं किया जा सकता।

जीवन की गहरी अनुभूतियों का भारवि की कविता में इतना गाढ़ा रँग है कि उन्हें इस दिशा में भी अद्वितीय मानना चाहिये। किरातार्जुनीय में यथाप्रसङ्ग उन्होंने जितने अर्थान्तरन्यासों का विधान किया है, सभवतः किसी दूसरे काव्य ग्रन्थ में उसके आधे भी नहीं मिलेंगे। भारवि की दर्जनों मधुर सूक्तियाँ आज भी सस्कृत-समाज के कण्ठों में विराजमान हैं और समय समय पर सुधी जन उनका सदुपयोग भी करते रहते हैं। उनकी कतिपय सरस-सरल सूक्तियों के नमूने ये हैं :—

१—हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

२—स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः।

३—सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।

४—वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ।
५—व्रजन्ति ते मूढधियः पराभव भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
६—सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ।
७—अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
८—सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
९—अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ।
१०—शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छला श्रियः ।
११—विपदंता ह्यविनीत सम्पदः ।
१२—न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।
१३—भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ।
१४—प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ।
१५—विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ।
१६—मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ।
१७—सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ।
१८—न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रह. ।
१९—न ह्रीभिवह्नोऽवसरेऽवसीदति ।
२०—कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ।
२१—भवन्ति गोमायुसखा न दंतिनः ।
२२—न तितिक्षा सममस्ति साधनम् ।
२३—सुदुर्ग्रहांतः करणा हि साधवः ।
२४—दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ।
२५—न्यायाधारा हि साधवः ।
२६—दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ।
२७—सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ।
२८—व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ।
२९—भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ।
३०—प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ।

३१—मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलितं मनः।
३२—नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः।
३३—गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम्।

इस प्रकार की सैकड़ों मनोहर सूक्तियाँ भारवि की रचना में स्थान-स्थान पर पायी जाती हैं, जिनमें सांसारिक जीवन के गम्भीर अनुभवों के साथ-साथ नीति और उपदेश के मनोहर पुट हैं।

भारवि की रचना में यद्यपि राजनैतिक चेतना का प्रभाव अधिक है और स्थान-स्थान पर कूटनीति भी वर्णित है तथापि कवित्व के उत्कृष्ट गुणों का उसमें पदे-पदे परिचय मिलता है। उनके प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में जितनी सजीवता है उतनी ही स्वाभाविकता उनके संवादों में भी है। तर्क और न्यायशास्त्र की बारीकियों की उन्हें जितनी जानकारी है उतनी ही निपुणता पशुओं और पक्षिओं के स्वभावों के सम्बन्ध में भी उन्हें है। राजाओं तथा सेना पतियों के दैनिक व्यवहारों की भाँति ही उन्हें कृषकों, गोपालों तथा धान रखाने वाली स्त्रियों के जीवन का भी गहरा ज्ञान था। पर्वतों एवं नदियों के नैसर्गिक दृश्यों के समान ही विचित्र एवं विरोधी स्वभाव वाले मनुष्यों के अन्तःकरण का भी उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। राज-समाज अथवा विद्वत्परिषद् की मान्य परम्पराओं में भी उन्हें दक्षता प्राप्त थी और कोल किरातों अथवा वनवासियों के रहन सहन एवं वेश भूषा की ही नहीं उनके जीवन की समस्याओं तथा गूढ़ गुत्थियों की भी उन्हें जानकारी थी। प्राचीन शस्त्रास्त्रों के भयंकर युद्धों व प्रचलित परम्पराओं के समान ही वह शास्त्रार्थ चिन्तन की परम्पराओं के भी प्रवीण पारखी थे और यह भी जानते थे कि अपने प्रतिपक्षी को किन-किन उपायों द्वारा पराजित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवन के प्रत्येक अंच से उनकी प्रतिभा ने अपेक्षित सामग्रियों का संचयन किया था और उसके द्वारा मनोहर कवित्व शक्ति को प्राप्त की थी। देश और काल की सीमा से विच्छिन्न काव्य के जिन अमरतत्वों को प्राप्त करना एक महत्व कवि का धर्म बताया है, भारवि ने उन तत्त्वों का बड़े मनोयोग से अद्वितीय संग्रह किया था।

भारवि के चरित्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। वे इतने सजीव, सहृदय, बुद्धि-
ने, स्वाभिमानपूर्ण तथा विदग्ध हैं कि महाभारत के रचयिता व्यासदेव के
ों से भी कहीं-कहीं उत्कृष्ट बन गये हैं। वेदव्यास की द्रौपदी में
मान की ज्वाला से जलती हुई भारवि की द्रौपदी जैसी अमद तेजस्विता
आ सकी है और न महाभारत के अर्जुन में भारवि के अर्जुन के
न अपार कष्टसहिष्णुता, दुराराध्य तपःशीलता तथा अप्रतिम वीरता ही
सकी है। यही दशा भारवि के युधिष्ठिर की भी है। यद्यपि युधिष्ठिर और
के व्यक्तित्व को कवि ने केवल संवादों के रूप में ही चित्रित किया है
पि भारवि के युधिष्ठिर शान्ति, न्याय-परायणता तथा अविचलता में ऐसे
द्वितीय बन गए हैं कि संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र उनकी ऐसी मनोरम झाँकी
ीं मिलती है। कवि को अपने छोटे-से महाकाव्य में अवसर बहुत कम मिला
किन्तु उतने ही में उसने अपने पात्रों को जो मोहन स्वरूप, जो आकर्षक
तत्व एव जो सजीवता प्रदान कर दी है, वह देखने के योग्य है और उसकी
ानता अन्यत्र वर्णित चरित्रों से नहीं की जा सकती। वेदव्यास के सम्बन्ध में
रवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ कितनी मनोहर हैं :—

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्राशुमिवांशुजालैः।
विभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीजटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥१॥
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुः प्रकर्षेण जनातिगेन ।।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥२॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वतमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्य्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥३॥

तदनन्तर शरद के चन्द्रमा के समान आनन्ददायी प्रभापुञ्ज से अति उन्नत,
कोमल शरीर पर पीले वर्ण की जटा धारण करने के कारण बिजली से युक्त
घ की भाँति, प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त लोकोत्तर शरीर सौंदर्य से
अपरिचितों के हृदय में भी अपने सम्बन्ध में उच्च भाव पैदा कराने वाले, अपनी
रम शान्त आकृति से अन्तःकरण की स्वच्छ पवित्र भावनाओं को प्रकट करते
हुए से व्यास जी अपने अत्यन्त सहज सौम्य मधुर एवं विश्वासदायी अवलोकन

से ही अपरिचित लोगों में भी यह भाव पैदा कर रहे थे कि मानों वे उनके बहुत पहिले ही कभी सम्भाषण कर चुके हैं।

व्यास देव के इस स्वरूप-वर्णन में न केवल उनके शारीरिक सौंदर्य बाह्य उपकरणों की चर्चा की गई है, प्रत्युत् उनकी महानुभाविता तथा आ निर्मलता की भी मनोहर झाँकी है। जैसे कवि ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञ अगाध श्रद्धा को ही मूर्त रूप प्रदान किया हो।

कवि की ऐसी ही निपुणता युधिष्ठिर के गुप्तचर किरात तथा शिव के स वाहक किरात के वर्णनों में भी पाई जाती है। जैसे कवि की सर्वतोमुखी प्र के ये जीते-जागते पुतले उसके सम्पूर्ण महाकाव्य को सजीव बनाने के लिए अवतरित किए गए हों। चेतन एवं मुखर चरित्रों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के स ही भारवि के अचेतन चरित्रों में भी मोहकता तथा सजीवता के नमूने योग्य हैं।

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः॥
परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम्।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम्॥
विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे॥

गोचारण भूमि में रात भर रह कर सवेरे अपने निवास की ओर ल वाली गौओं की अपने बछड़ों के प्रति जाग्रत उत्कण्ठा का सजीव चित्रण प्र श्लोक में जिस स्वाभाविकता से किया गया है उसी के समान सजीवता स्वाभाविकता द्वितीय श्लोक में वर्णित उस बलीवर्द के वर्णन में भी दिखाई है, जो शरदृतु की पुष्टि धारण कर नदी के तटवर्ती प्रदे विदारण करते हुए विजयश्री से विभूषित तथा मूर्तिमान अभिमान की दिखाई पड़ रहा था। तृतीय श्लोक में हिम सदृश धवल गौओं के झुण्डों का रोचक वर्णन है, जो नदी तट से कुछ दूर हट कर चर रहे थे। इस प्रकार उनके किंचित् दूर हो जाने पर नदी का बालुका- मय तट-प्रा

णियों के वस्त्रहीन जघन-स्थल के समान मनोरम सुशोभित हो रहा था।

गौओं को चराने वाले ग्रामीण ग्वालों के सजीव वर्णन में भारवि की सहज रुचि का नमूना कितना मनोहर बन पड़ा है :—

गतान् पशूनां सहजन्म बन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥

पशुओं—गायों, बछड़ों और बैलों—से भाई जैसा प्रेम रखने वाले एवं जङ्गल में भी घर जैसा आनन्दानुभव करने वाले उन ग्वालों की सरलता एवं सेवा भावना को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है, मानों उन्होंने गौवों की सहज सरलता को ही सोलहों आने अपने जीवन में उतार लिया है।

गौओं के सम्बन्ध में भारवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ न केवल भारतीय विचारधारा का ही सुन्दर प्रतिनिधित्व करती हैं प्रत्युत उनमें कितनी अगाध श्रद्धा और भक्ति का पुट है, इसे देखिये। व्रजभूमि के समीप बछड़ों समेत गौओं के झुण्डों को देखकर वह कहते हैं—

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥

मन्त्रोच्चारण से युक्त हवन संसार को पवित्र बनाने वाला और परम्परा से संसार की उत्पत्ति का कारण भी है। इस प्रकार का मन्त्रपूत हवन जिस प्रकार से सुशोभित होता है वैसे ही बछड़ों से युक्त व्रजभूमि के समीप गौओं का समूह भी शोभायमान हो रहा है। गौओं में संसार को पवित्र करने एवं उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकार करने वाले भारवि के कवि में गौओं के प्रति भारतीय भावना का जितना समादर है उतना ही तर्कसंगत दृष्टिकोण भी। गाय के दुग्ध एवं घृत से ही हवन का समारम्भ होता है और अग्नि में डाली गई आहुति ही आदित्य को प्राप्त होकर वृष्टि का कारण बनती है, और वही वृष्टि अन्न की उत्पादिका है, जिसके द्वारा जगत् का जीवन चलता है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

भारवि की कवि-प्रतिभा का सहज प्रस्फुटन काव्य में यद्यपि पदे-पदे है तथापि उनके प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन महाकवि कालिदास के वर्णनों के समान ही सहज आकर्षक, स्वाभाविक अथवा आडम्बरविहीन हैं। अपने सीधे-सादे चित्रों में प्रकृति की मोहक छटा का जो हृदयग्राही वर्णन भारवि ने प्रस्तुत किया है, उसकी बानगी कालिदास को छोड़कर अन्य संस्कृत कवियों की कृतियों में कठिनाई से मिलती है। भारवि के शरद्ऋतु के संक्षिप्त वर्णन में से कुछ नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं:—

उपैति शस्यं परिणाम रम्यता नदीरनौद्धत्यमपंकता महीम्।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेमघनागमश्रियः॥
पतन्ति नास्मिन् विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्॥

धान पक गये हैं, अतः बहुत सुन्दर लग रहे हैं। नदियों में वर्षा काल की उद्धतता नहीं रह गई है, पृथ्वी पर कीचड़-काँदों का पता नहीं है। वर्षा ऋतु की मनोहर छटा के प्रति मानव हृदय में जो अत्यन्त परिचय होने के कारण स्थिर प्रेम हो गया था, उसे भी यह शरद् ऋतु अपने नूतन गुणों से दूर कर दे रही है। अर्थात् इसके नूतन गुणों ने वर्षा की शोभा को बिल्कुल ही भुला दिया है। वर्षा ऋतु में श्वेत बगुलों की पंक्तियाँ आकाश में उड़ा करती हैं, और रंग बिरंगी इन्द्र-धनुष से भी उसकी शोभा बढ़ जाती है। ये दोनों ही चीजें यद्यपि शरद् ऋतु में नहीं हैं, न तो बगुलों की पंक्तियाँ ही आकाश में उड़ती हैं और न बादलों की पंक्तियों के बीच इन्द्र-धनुष ही शोभायमान है, तथापि वह शरद् आकाश में सर्वश्रेष्ठ रमणीयता का सम्पादन कर रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभावतः सुन्दर वस्तु को अलंकरण की अपेक्षा नहीं होती।

यद्यपि अपनी इस मान्यता के अनुसार भारवि ने अपनी सहज सुन्दर कविता में अलंकारों को ठूसने की चेष्टा नहीं की है तथापि उनकी उत्प्रेक्षा मनोहर कल्पनाओं से कितनी जीवन्त बन गयी हैं, इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

शरद् ऋतु का सुहावना समय है। जड़हन धान के खेतों में जल लगाने

रा हुआ है। वह कितना सुन्दर मालूम पड़ रहा है, कवि इसका वर्णन कर
त है :—

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुःखण्डमिवाहि विद्विषः॥

उस जल में जड़हन के नीचे-नीचे कमलिनियाँ फैली हुई हैं, जिनके हरे
ग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमलिनियों के हरे पत्तों की शोभा के
साथ जल की हरी छटा बिल्कुल एक हो गयी है। ऊपर के पके धानों की बालियाँ
हवा के मन्द-मन्द झोंकों से हिल-डुल रही हैं, उनकी पीली-पीली परछाईं उस
निर्मल जल को पीला बना रही है। उस क्षण खेत का वह जल इस प्रकार से
दिखायी पड़ रहा है, मानों देवराज इन्द्र का रंग-बिरंगा धनुष ही गलकर पानी
के रूप में नीचे फैल गया है।

इसी प्रकार कवि की सहज उपमाओं में भी कल्पना की अनोखी मनोहारिता
है। सुहावनी शरद् ऋतु में पके हुए जड़हन धान की बालियों को लेकर सुग्गों की
पंक्तियाँ उड़ रही हैं। कवि को वहाँ भी इन्द्र-धनुष की मोहक छटा दिखाई पड़
रही है—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीष कोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥

आकाश में उड़ती हुई शिरीष के पुष्प की तरह कोमल हरे रंग वाले
सुग्गों की पंक्तियाँ मूँगे के टुकड़ों के समान अपने लाल चंचुओं में जड़हन धान
की पकी हुई पीली-पीली बालियों को लिए इस तरह उड़ी जा रही है जैसे
आकाश में इन्द्र का धनुष उगा हुआ हो।

इन्द्र कील के वर्णन-प्रसंग में कवि की इस मोहक प्रतिभा का प्रसाद पदे-पदे
प्राप्त होता है। मानों ईश्वर प्रदत्त समग्र सुविधाओं से सम्पन्न प्रकृति के उस
मुक्त-प्रांगण में पहुँच कर वह आनन्द-समुद्र की हिलोरें ले रहा है। यद्यपि
शृंगार के उद्दीपन विभावों के रूप में ही उसने अधिकांश प्राकृतिक प्रसंगों का
चित्र खींचा है तथापि उसके चित्रों की छटा शाश्वतिक एवं सजीव है। कोरी

कल्पना की ऊँची उड़ानों का न केवल अभाव है, प्रस्तुत रंग एवं रेखाएँ भी वही प्रयुक्त हुई हैं जो सहृदय रसज्ञों के लिए पूर्व परम्परा से प्राप्त एवं अभ्यस्त होते हुए सहज विमोहिनी हैं। मनोमोहक प्राकृतिक छटा को छिटकाने वाले एवं उच्चारण के साथ ही संगीत की लहरी उत्पन्न करने वाले कवि के कुछ श्लोक ये हैं :—

विकच वारिरुहं दधतं सरः सकल हंस गणं शुचि मानसः।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचि मानसम् ॥
ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापति सेविना ॥
विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः।
दधतमुन्नतसानु समुद्धतां धृतसित व्यजनामिव जाह्नवीम् ॥

सर्ग ५, श्लोक १३-१५

प्रसंग हिमालय वर्णन का है :—

नित्य विकसित होनेवाले कमलों से सुशोभित तथा राजहंसों से युक्त निर्मल मानस सरोवर को एवं किसी कारण से कदाचित् कुपिता पार्वती के साथ कलह करने वाले, अपने गणों समेत अविद्यादि दोषों से रहित भगवान् शंकर को (यह हिमालय) धारण किए हुए है।

यह हिमालय आकाशस्थित चन्द्र-सूर्यादि ग्रहों एवं देवयानों को सुप्रकाशित करते हुए अपनी औषधियों से उत्पन्न अग्नि द्वारा प्रत्येक रात्रि में भगवान् शंकर के सेवकों अर्थात् गणों को त्रिपुर दाह का बारम्बार स्मरण दिलाता है।

यह हिमालय अपने समुन्नत शिखरों पर गंगा जी को धारण करता है, जो पत्थरों की विशाल चट्टानों से धारा के रुक जाने पर जब उनके ऊपर से बहने लगती हैं तब अनन्त जलकणों के ऊपर फौवारे की तरह छूटने से ऐसा मालूम होता है मानों वह श्वेत चामर धारण किए हुए है।

किरातार्जुनीय में राजनीति एवं कूटनीति के साथ-साथ लोकव्यवहार एवं

नैतिकता की भी विपुल चर्चा की गई है। प्रायः प्रत्येक पात्र में वक्तृत्व कला एवं लोकनीति का सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है। जब कोई पात्र बोलता है तो उस समय उसी की बातचीत में श्रेष्ठता एवं कर्त्तव्य का भान होने लगता है किन्तु ज्यों ही उसके मत के खण्डन का अवसर कवि को मिलता है त्यों ही उसकी वार्ता में निस्सारता प्रकट होने लगती है। महाकाव्य के आरम्भ में छद्मवेशधारी किरात द्वारा दुर्योधन के शासन एवं राज्य प्रबन्ध की चर्चा सुनाने के अनन्तर द्रौपदी एवं भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर की गंभीरता एवं नैतिकता की निन्दा करते हुए दुर्योधन पर तत्काल ही अभियान करने का जो युक्तिसंगत मत प्रकट किया है वह अपने ढंग का अद्वितीय है। उसमें पूर्वापर के सन्दर्भों की ही विशद विवेचना नहीं है, प्रत्युत देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उस समय सब प्रकार का औचित्य भी उसी में दिखाई पड़ता है किन्तु धीर-गम्भीर धर्मराज युधिष्ठिर ज्यों-ज्यों उसका मधुर खण्डन करते हुए अपना मत प्रकट करने लगते हैं त्यों-त्यों द्रौपदी एवं भीमसेन की सभी युक्तियाँ स्वतः निरस्त होने लगती हैं। द्रौपदी एवं भीमसेन ने युधिष्ठिर के ऊपर जो-जो आक्षेप किए थे युधिष्ठिर द्वारा उन सबका मधुर समाधान देखकर यह मान लेना पड़ता है कि महाकवि भारवि की प्रतिभा, शास्त्रीय ज्ञान गरिमा एवं लोकव्यवहार-चातुरी अद्वितीय थी।

यही स्थिति इन्द्रकील पर्वत पर तपस्यानिरत अर्जुन और देवराज इन्द्र के संवादों में भी दर्शनीय है। वृद्ध ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र के मुख से हम उस अवसर पर सुनते हैं कि :—

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयकरीः क्रिया. ।
ग्लानिदोपच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥ ॥
मूलं दोपस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुपः ।
तौ हि तत्वाववोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ सर्ग ११, १६-२०

अर्थात् "जो मनुष्य मोक्ष को देनेवाली तपस्या आदि सत्क्रियाओं को हिंसामय ढंग से पूर्ण करता है वह प्यास को शान्त करनेवाली पुण्य जलराशि को गंदा करके पीने वाला मूर्ख है। क्योंकि हिंसादि अवगुणों के मूल अर्थ

और काम हैं, इन्हीं के कारण मनुष्य हिंसा आदि दुष्कर्मों में लीन होता है। अतएव इनकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। ये दोनों अर्थ और काम तत्त्वाववोध के ऐसे लुटेरे हैं जिनको दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है।" आदि, आदि।

इस प्रकार के अनेक तीखे व्यंग्यों में तपस्या के साथ हिंसभावना का परित्याग करने के लिए देवराज इन्द्र ने जो-जो उपदेश दिए हैं, उन्हें देखकर प्रत्येक पाठक की सहानुभूति इन्द्र के साथ हो जाती है और हृदय में यह बात बैठ जाती है कि अर्जुन का मन्तव्य अच्छा नहीं है, किन्तु ज्योंही गाण्डीव एवं कृपाणधारी अर्जुन का उत्तर हम सुनने लगते हैं त्योंही हमारी सहानुभूति पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिए द्विगुणवेग से उमड़ पड़ती है। उस समय दुराचारियों को उनके दुष्कर्मों का बदला अवश्य देना चाहिए। यह भावना हमारे हृदय में इतनी प्रबल हो उठती है कि देवराज के सभी तर्क और युक्तियां निस्सार दिखाई पड़ने लगती हैं। अपने पाँचों वीर भाइयों के सम्मुख भरी सभा में पांचाली की करुण वस्त्रापहरण की चर्चा करते हुए जब अर्जुन कहते हैं कि :—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम्।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम्॥

प्रमार्ष्टुमयशः पङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतपितारातिवनितालोचनाम्बुभिः॥

सर्ग ११, ६६-६७

अर्थात् "न तो मैं किसी सुख की कामना से यह विकट तपस्या कर रहा हूं, और न धनकी ही लिप्सा मुझे है क्योंकि धन तो समुद्र की चञ्चल लहरों के समान है। यही नहीं, मैं इस शरीर की अनित्यता अथवा क्षणभंगुरता रूपी वज्र से भयभीत होकर मुक्ति की भी कामना नहीं करता। मुझे यह कुछ नहीं चाहिए, हमारे क्रूर शत्रुओं ने हमारे साथ छल-कपट करके अपयश रूपी कीचड़ से जो हमें कलुषित कर दिया है, उसी कीचड़ को मैं वैधव्य की दुःसह व्यथा से पीड़ित वैरियों की स्त्रियों के नेत्रों से गिरे हुए जल से धो डालना चाहता हूं। बस हमारी कोई इच्छा है तो यही है।"

वीरवर अर्जुन की इस दर्पोक्ति में पाठकों की सहज सहानुभूति जाग उठती है।

इसी प्रकार का एक तीसरा प्रसग भी उल्लेखनीय है। वराह के वध-प्रसग पर जब किरात सैनिक अपने पक्ष को उपस्थापित करता है तो उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके तर्कों को खडित करने की शक्ति अर्जुन को कहाँ से प्राप्त होगी, किन्तु ज्यों ही अर्जुन अपना वक्तव्य प्रारम्भ करते हैं त्यों ही उनके कथन की अखडनीयता पर पाठक चमत्कृत हो उठता है। इन सभी सन्दर्भों में महाकवि ने अपनी वक्तृत्व प्रतिभा का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। किसी भी विषय के पक्ष-प्रतिपक्ष में कहने के लिए उनके पास अकाट्य युक्तियाँ थीं, अप्रतिम तर्क थे और सद्यः वादी को भी मूक बना देने की निर्मल प्रतिभा थी। उस अवसर पर वह जो कुछ कहते या कहलाते हैं, उस अवसर पर वही समीचीन मालूम पड़ने लगता है। भारवि को इस निपुण वक्तृत्व कला के प्रति अतिशय अनुराग था। प्रस्तुत महाकाव्य के अनेक सन्दर्भों पर उन्होंने न केवल अच्छे वक्ता की प्रशसा ही गाई है वरन् वक्तृत्व कला की सूक्ष्म विशेषताओं का रहस्योद्घाटन भी किया है।

राजनीति के अनेक गूढ सन्दर्भों पर भारवि की मार्मिक पक्तियों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें राज-काज की बारीकियों को परखने की अच्छी क्षमता थी और लोकनीति के सभी प्रसगों को प्रस्तुत करने का भी निजी विशाल अनुभव था। मातृप्रेम, पतिप्रेम, सेवक-स्वामिधर्म, तपस्या एवं यज्ञाराधन की पावन परम्परा, मुनिधर्म, शृगार, वात्सल्य, कृषिकर्म आदि गृहस्थोपयोगी व्यवहारों का भी उत्कृष्ट रूप उन्हें ज्ञात था। आर्य धर्मशास्त्रों की महती मर्यादाओं के समान ही आदर्श एव प्रेम पूर्ण गृहस्थ जीवन की अनुभूतियाँ भी उन्हें थीं।

उनकी गृहस्थ जीवन सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में नीचे के कतिपय श्लोक सुन्दर प्रकाश डालते हैं—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः।
उदन्यानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥
यः गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव सम्पदः ॥

सर्ग ११,२१-२२

इन श्लोकों में लक्ष्मी की भर्त्सना ही नहीं की गई है, आगे चलकर उसकी विकरालता का परिचय देते हुए कवि ने यहाँ तक कहा है—

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥

सर्ग ११, २४

काम क्रोधादि विकारों की चर्चा करते हुए कवि कहता है—

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः।
सुदुस्त्यजा स्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥

सर्ग ११, ३५

स्वाभिमान हीन जीवन की तृण-तुल्य कल्पना कवि के शब्दों में सुनिए—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निस्सारत्वाल्लघीयसः।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥
तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥

सर्ग ११, ५९-६०

निरन्तर अभ्युन्नति की आकांक्षा करने वालों के लिए कवि ने एक स्वाभाविक कारण की उद्भावना इस प्रकार की है—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम्।
प्रियता ज्यायसी मागान्महतां केन तुङ्गता ॥

सर्ग ११, ६०

यही नहीं भारवि के आदर्श पुरुष एवं पुरुषार्थ की परिभाषा निम्नलिखित श्लोकों में देखिए—

असमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान ॥
सर्ग ११, ७३

इसी प्रकार भारवि के सभ्य पुरुष की परिभाषा भी इस प्रकार की है ।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥
सर्ग १४, ४

समूचे किरातार्जुनीय महाकाव्य में इस प्रकार की नीतिमूलक सूक्तियों की संख्या अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा अत्यधिक है। यहाँ तक कि संस्कृत के प्रायः सभी सूक्ति-संग्रहों में भारवि के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किए गए हैं और परवर्ती अनेक महाकवियों ने भारवि के इन भावों को आत्मसात् करने में कोई संकोच नहीं किया है। पण्डितम्मन्य माघ कवि पर भारवि की इस समादृत रचना का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने न केवल भारवि के अनेक श्लोकों के भावों को ही आत्मसात् किया है वरन् किरातार्जुनीय के कथा-प्रबन्ध का भी अनुकरण करने में तनिक संकोच नहीं किया है। नीचे हम किरातार्जुनीय के अनुकरण पर माघ की रचना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है।

किरातार्जुनीय के आरम्भ में भारवि ने श्री शब्द का प्रयोग करके प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर श्री अथवा लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने भी अपने महाकाव्य के आरम्भ में श्री शब्द का तथा प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर भी श्री शब्द का प्रयोग किया है। भारवि ने किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में दुर्योधन द्वारा होने वाली विपदाओं की चर्चा करके युधिष्ठिर को तत्काल-युद्धार्थ प्रेरणा देने की कथा ग्रथित की है तथा द्वितीय एवं तृतीय सर्गों में भी राजनीति के दाँव-पेंचों को विविध प्रकार से पल्लवित किया है, तो माघ ने भी अपने ग्रन्थ के

आरम्भ में शिशुपाल द्वारा होने वाली विपदाओं की चर्चा कर भगवान् श्रीकृष्ण को तत्काल युद्धारम्भ करने की प्रेरणा देते हुए उसके द्वितीय सर्ग में राजनीति एव कूटनीति के प्रपञ्चों का पल्लवन बहुत कुछ भारवि की शैली में ही प्रस्तुत किया है। यही नहीं भारवि के अनेक श्लोकों के तात्पर्य माघ के इस प्रसंग के श्लोकों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। किरातार्जुनीय में द्रौपदी तथा भीमसेन के उत्तेजनात्मक वक्तव्यों का खडन करते हुए युधिष्ठिर ने यदि सामनीति को अपनाकर उपयुक्त समय आनेपर अभियान करने का मन्तव्य प्रकट किया है तो माघ में भी बलराम के इसी प्रकार के उत्तेजक वक्तव्यों का खडन कर उद्धव ने भी सामनीति को ही श्रेयस्कर बताया है। कितार्जुनीय के तृतीय सर्ग में भारवि ने अर्जुन के द्वैतवन से इन्द्रकील पर्वत स्थित तपोवन गमन का वर्णन किया है तो माघ ने भी अपने महाकाव्य के तृतीय सर्ग में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारिका से बहिर्गमन का वर्णन किया है।

इस प्रसग पर दोनों ही कवियों ने आत्मीय जनों की मार्मिक व्यथाओं का मनोहर वर्णन किया है। भारवि ने अपने किरातार्जुनीय के चतुर्थ एवं पचम सर्गों में नगाधिराज हिमालय एव ऋतुओं को मनो-मोहक वर्णन किया है, उसी का अनुकरण माघ ने भी अपने महाकाव्य शिशुपाल-वध के चतुर्थ एवं पचम सर्गों में रैवतक पर्वत एव ऋतुओं के वर्णन प्रसग पर किया है। इस स्थल के वर्णन भी दोनों महाकवियों के बहुत कुछ मिलते-जुलते चलते हैं, यहाँ तक कि दोनों में छन्द भी समान रखे गए हैं। इसी प्रकार भारवि के किरातर्जुनीय के सातवें तथा आठवें सर्ग में सुन्दरियों की जलक्रीडा का जो प्राजल वर्णन है उसी का अनुकरण माघ ने भी शिशुपाल-वध के सातवें तथा आठवें सर्ग में किया है। इस सन्दर्भ में भी दोनों महाकवियों की अनेक उक्तियाँ एक सी मालूम पड़ती हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय के नवें तथा दसवें सर्ग में सायंकाल, चन्द्रोदय, मधुपान, रतिक्रीडा, प्रणयालाप आदि का जो घटाटोप वर्णन किया है उसके अनुकरण का लोभ माघ नहीं सवरण कर सके हैं। एक में यदि अप्सराओं का संदर्भ है तो दूसरे में यादव सुन्दरियों का। प्राकृतिक



दृश्यों तथा उद्दीपन विभावों के वर्णन में दोनों ही महाकवि एक ही परम्परा के अनुगामी हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय में धनजय की कठोर तपस्या का जो सजीव किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन भारवि ने किया है, उसकी पूर्ति माघ ने धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सागोपाग वर्णन में की है। दोनों ही महाकवियों के ये सन्दर्भ अत्यधिक मोहक और आकर्षक हुए हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय में भारवि के युद्ध स्थल के सागोपाग वर्णन के समान ही शिशुपाल वध में का भी युद्ध-प्रसग अत्यन्त रोमाचकारी तथा युद्ध के विभिन्न प्रकारों से अतिरंजित है। दोनों ही महाकवियों के युद्ध वर्णन सस्कृत के विकट चित्रबन्धों से विभूषित हैं। प्रकट है कि भारवि की उत्कृष्ट पण्डितम्मन्यता का व्यापक प्रभाव माघ पर भी कम नहीं था। भारवि के काव्य शिल्प विधानों को अपना आदर्श मानकर चलने में उन्हें कोई सकोच नहीं हुआ।

माघ जैसे पडित तथा उत्कट-कल्पना शक्ति सम्पन्न कवि द्वारा कि रातार्जुनीय अथवा भारवि की इस अनुकृति का फलितार्थ यही निकलता है कि उस समय सस्कृत-समाज पर भारवि की कवित्व प्रतिमा का एक मात्र आधिपत्य था। उनका किरातार्जुनीय निश्चय ही उस समय के सस्कृत के उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ हो चुका था।

भारवि के विकट चित्रबन्धों में यद्यपि काव्य की आत्मा रस का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है, तथापि तात्कालिक सस्कृत-समाज की अभिरुचि के आग्रह से उन्हें ऐसा करना पड़ा होगा। क्योंकि इन विकट चित्रबन्धों की रचना किसी सामान्य काव्य-कौशल की बात नहीं है। भारवि के गोमूत्रिका बन्ध, अर्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, एकाक्षर पाद, एकाक्षर श्लोक, द्वयक्षर श्लोक, निरौष्ठ्य, समुद्गक, पादान्तादियमक, पादादि यमक, प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रति लोमानुलोमार्द्ध आदि विकट बन्धों को देखकर सामान्य बुद्धि को विस्मित हो जाना पड़ता है। संस्कृत जैसी अनेकार्थ धातुओं से युक्त भाषा में ही ये विकट बन्ध बहुलता से सभव हो सकते हैं। किन्तु सामान्य कवित्व प्रतिमा के द्वारा यह सभव भी नहीं है। सस्कृत के बहुत कवियों ने इन बन्धों की रचना में कृतकार्यता प्राप्त की है किन्तु किरातार्जुनीय का समूचा पन्द्रहवाँ सर्ग मानों इसी अद्भुत पाण्डित्य-

प्रदर्शन के ही लिए रचा गया हो। एक श्लोक तो आपने ऐसा भी दिया है जिसके भिन्न-भिन्न तीन अर्थ होते हैं तथा इसी प्रकार एक श्लोक जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है ऐसा भी दिया है, जिसमें केवल एक अक्षर 'न' का प्रयोग हुआ है। दोनों के नमूने नीचे दिए जा रहे हैं।

अर्थत्रयवाची श्लोक :—

जगती शरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवावभौ॥

देखिये सर्ग १५, श्लोक ४५

एकाक्षर श्लोक :—

न नोन नुन्नो नुन्नानो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥

सर्ग १५, श्लोक १४

इसमें अन्तिम अक्षर हलन्त तकार को अक्षर नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस चित्रबन्ध में अन्तिम अक्षर के हलन्त होने की शर्त स्वीकार्य है और फिर यह अन्तिम हलन्त तकार है भी तो न का समानस्थानी।

इसी प्रकार भारवि के काव्य शिल्प का उत्कृष्ट नमूना हम निम्नलिखित सर्वतोभद्र बन्ध में भी देखते हैं।

दे	या	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि



इस सर्वतोभद्र बन्ध की विशेषता यह है कि इसे जिस ओर से भी पढ़िये पूरा श्लोक बन जाता है। श्लोक का वास्तविक स्वरूप निम्नलिखित है जो आठों कोष्ठकों के चतुष्ठय में क्रमशः चारों ओर से बन जाता है।

देवाकानि निकावादे वाहिकास्व स्वाकाहिवा।
काकारेभभरे काका निस्वभव्य व्यभस्वनि॥

सर्ग १५, श्लोक २५

नीचे हम भारवि का एक महायमक उद्धृत कर रहे हैं, जिसके चारों चरणों का पाठ एक ही समान है।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः॥

सर्ग १५, श्लोक ५१

इस श्लोक के शब्दों अथवा वाक्यों में भी समानता दिखाई पड़ रही है, किंतु अर्थ सबके पृथक्-पृथक् हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विकट छन्दों के निर्माण में महाकवि भारवि ने कितना कठोर परिश्रम, समय तथा प्रतिभा व्यय की होगी।

भारवि के ऐसे विकट बन्धों ने उनकी अर्थ-गौरव से युक्त काव्य-वाणी को ऐसे स्थलों पर और भी अधिक क्लिष्ट तथा गम्भीर बना दिया है। आज तो ऐसे श्लोकों का अनुवाद कार्य भी कथमपि सुगम न होता यदि मल्लिनाथ जैसे प्रकाण्ड पंडितों की टीकाएँ हमारे सम्मुख न होतीं। निश्चय ही भारवि को अपने इन विकट बन्धों के तात्पर्यों को तात्कालिक संस्कृतज्ञ समाज में स्वयमेव प्रकट करना पड़ा होगा, जिसकी परम्परा मल्लिनाथ के समय तक चलती आई होगी। किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि विशुद्ध काव्य-रसिक की दृष्टि से भारवि के इन विकट प्रयत्नों ने उनके महाकाव्य की लोकप्रियता में थोड़ी बहुत कमी अवश्य कर दी है। सामान्य-जन की पहुँच से दूर जाकर कोई भी काव्य-रचना अपनी लोक-

प्रियता तो नष्ट कर ही देती है। इस दृष्टि से भारवि के ये दुर्गम प्रयत्न उनके दोष ही माने जायँगे। आलंकारिकों के पाश में बँधकर उनकी मौलिक कवि-प्रतिभा का यह चमत्कार जितना मनोरञ्जक और कुतूहलवर्धक है उतना सहृदय संवेद्य तथा रसानुप्राणित नहीं है। यही नहीं ऐसे सन्दर्भ भी प्रकृत विषय से बहुत कुछ स्वच्छन्द हो गए हैं।

भारवि की कविता में प्रसादगुण का यद्यपि अभाव नहीं है तथापि मल्लिनाथ के शब्दों में उसे नारिकेल के मीठे जल की समानता में तो रखा ही जा सकता है। ऊपर से रूक्ष और अत्यन्त क्लिष्ट आवरण में छिपे हुए नारिकेल के रस जैसी माधुरी किरातार्जुनीय के श्लोकों में भी है। जब तक उसके ऊपर के आवरण को तोड़ा नहीं जाता अर्थात् क्लिष्ट शब्दों के भीतर प्रविष्ट नहीं हुआ जाता, तब तक उसके भीतर छिपे हुए रस का अवगाहन करना सरल नहीं है। महाकवि कालिदास की निसर्ग प्रसादता तथा पदों के बाहर तक छलकती हुई रस-माधुरी की उसमें आशा करना उचित नहीं है। क्योंकि महान् टीकाकार मल्लिनाथ ने बहुत कुछ सोच-समझकर ही अपनी सम्मति निम्नलिखित श्लोक में प्रकट की है।

नारिकेल फलसम्मित वचो भारवेः सपदि यद् विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

कवि परिचय—

संस्कृत के अन्य अनेक महाकवियों के समान ही भारवि के जीवन वृत्त की सामग्रियाँ भी इधर-उधर बिखरे रूप में ही प्राप्त होती हैं, जिनकी एकसूत्रता बहुत कुछ अनुमानों के आधार पर ही निश्चित की जा सकती है। भारवि किस समय पैदा हुए और वे भारत के किस अञ्चल के निवासी थे, इन दोनों बातों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव के कारण अनुमानों का ही सहारा लिया जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान् हर्मैन जैकोबी ने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व भाग में भारवि की स्थिति का अनुमान लगाते हुए अनेक आधार प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। दक्षिण भारत के बीजापुर जिले के ऐहोल अथवा आयहोली

नामक ग्राम में प्राप्त एक प्राचीन शिलालेख के आधार पर भी भारवि का समय ईसा की छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही अनुमित होता है। उक्त शिलालेख सुप्रसिद्ध जैन कवि रविकीर्ति के मन्दिर में प्राप्त हुआ है। यह रविकीर्ति चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समसामयिक तथा आश्रित कवि थे, शिलालेख स्वयं उन्हीं द्वारा स्थापित तथा उन्हीं के रचित पद्यों में इस प्रकार है—

प्रशस्तेर्वसतेश्चापि जिनस्य त्रिजगत् गुरोः।
कर्त्ता कारयिता चापि रविकीर्तिः कृती स्वयम्॥
त्रिंशत्सु त्रिसहस्त्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्द शतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु॥
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चाशतेषु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥

अर्थात् इस शिलालेख की प्रशस्ति की रचना करने वाला और इस त्रिजगत् गुरु जिन के मन्दिर का निर्माण करने वाला स्वयं रविकीर्ति ही है। इस का निर्माण महाभारत युद्ध के ३७७५ और शक संवत् के ५५६ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ।

इस मन्दिर के शिलालेख में रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रय के वंश तथा स्वयं उसी की लम्बी-चौड़ी प्रशस्ति भी लिखी है और अन्त में कविकुलगुरु कालिदास तथा भारवि के नामों का भी इस प्रकार उल्लेख किया है :—

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

अर्थात् जिस विद्वान् एवं विवेकी रविकीर्ति ने इस जिन मन्दिर के निर्माण का आयोजन किया वह कवित्व के क्षेत्र में भी कालिदास और भारवि के समान ही यशस्वी था। रविकीर्ति का आश्रयदाता पुलकेशी द्वितीय अथवा सत्याश्रय का राज्यकाल भी लगभग ६४२ ईस्वी के आस-पास था जो कि रविकीर्ति के शिला-

लेख में दिये हुये काल से बिल्कुल मेल खाता है। इससे सिद्ध होता है कि भारवि का समय रविकीर्ति के समय से अवश्य ही कुछ पूर्व रहा होगा, क्योंकि उनकी कीर्ति के लोभी रविकीर्ति की यह लालसा उसी समय सम्भव हुई होगी जिस समय समूचे देश भर में भारवि कीर्ति-कौमुदी का पावन प्रसाद छिटका रहा होगा।

कुमारी मेबिलडफ ने रविकीर्ति का समय ६१० ईस्वी माना है। यह भी भारवि के छठीं शताब्दी के पूर्व भाग में विद्यमान होने का अन्य प्रमाण है, क्योंकि देश भर में अपनी कवित्व-प्रतिमा के चमत्कार को फैलाने के लिए एक शताब्दी पहले का समय भारवि को देना ही पड़ेगा। किन्तु सातवीं शताब्दी में रचित सुप्रसिद्ध संस्कृत कथाकार बाणभट्ट के हर्षचरित में भारवि के नाम का उल्लेख न होने के कारण यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि कदाचित् भारवि का समय सातवीं शताब्दी के बाद ही रहा होगा। किन्तु यदि माघ के शिशुपाल-वध का रचना काल हम सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं, जैसा कि प्रायः सिद्ध हो चुका है तो भारवि का समय छठीं शताब्दी ही अनुमित होता है। इसके सिवा भारवि के छठीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में वर्तमान होने के कुछ अन्य प्रमाण भी हमें प्राप्त होते हैं।

भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय का उल्लेख दक्षिण भारत के एक अन्य परम प्राचीन लेख में पाया जाता है। यह लेख दक्षिण भारत के किसी पृथ्वी कोगणि नामक राजा का दानपत्र है। उसने किसी श्रीपुर नामक नगर की उत्तर दिशा में विद्यमान एक जिन-मन्दिर की अर्चा-पूजा आदि के व्यय के लिए एक ग्राम का दान किया था। उसी का उल्लेख इस दानपत्र में है। उक्त दान-पत्र मान्यपुर नामक नगर में ६९८ शक संवत्सर में लिखा गया था—

अष्टानवत्युत्तर शतेषु शकवर्षेष्वातिवर्तितेषु

दानपत्र उस समय की प्रचलित परम्परा के अनुसार गद्य-पद्य दोनों में है। इसका आरम्भ इस प्रकार है—

स्वस्ति जित भगवता गतघनगगनाभेन पद्मनाभेन

इस लेख के आरम्भ में दाता राजा पृथ्वीकोंगणि की वंशावली दी गई है, जिसके वंश में अविनीत नामक राजा का कोई दुर्विनीत नामक पुत्र था, जिसके विषय में लिखा गया है :—

किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोङ्कारो दुर्विनीतनामधेयः

इसी दुर्विनीत की सात पीढ़ियों के अनन्तर दाता राजा पृथ्वीकोंगणि हुआ था। जैसा कि पहले उद्धृत है इस दानपत्र का समय ६६८ शक संवत् अर्थात् ७७६ ईस्वी सन् होता है। अब यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए कम से कम २० या २५ वर्ष हम रखें तो भी दुर्विनीत राजा का समय इसके १५०, १७५ वर्ष पूर्व अवश्य रखना होगा। इस हिसाब से ६०० ईस्वी सन् के आस-पास दुर्विनीत का राजकाल सिद्ध होता है, जो कि रविकीर्ति का भी समय था। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में ही दक्षिण भारत के लोग महाकवि भारवि और उनकी अनवद्य रचना किरातार्जुनीय से सुपरिचित हो चुके थे। अतएव यह कहने में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई पड़ता कि महाकवि भारवि का समय ईसा की छठीं शताब्दी के पूर्व ही था।

भारवि का जन्म स्थान—महाकवि भारवि की प्रसिद्धि एवं उनकी रचना किरातार्जुनीय की लोकप्रियता के सम्बन्ध में हमें जितनी विपुल सामग्री दक्षिण भारत के अञ्चलों में प्राप्त होती है, उन्हें देखते हुए यह अनुमान सहज ही पुष्ट होता है कि इनकी जन्म-भूमि दक्षिण भारत थी। इस तर्क के पक्ष में अन्य प्रमाण भी हैं। किरातार्जुनीय के अठारहवें सर्ग का उनका एक श्लोक इस प्रकार है :—

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

यह प्रसंग अर्जुन और शिव जी के द्वन्द्व युद्ध का है। शिव जी द्वारा शस्त्रास्त्रों के विफल कर दिये जाने पर अर्जुन ने मल्ल-युद्ध आरम्भ कर दिया

और लगे उनकी छाती में तड़ातड़ घूँसे जमाने। उन घूँसों की तुलना कवि दाक्षिणात्य पर्वत सह्याद्रि के चरणों में लगने वाले समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरों के थपेड़ों से की है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सह्याद्रि के इस नामोल्लेख से कवि की जन्म-भूमि का दक्षिण भारत में होना युक्ति-सगत प्रतीत होता है।

किन्तु भारवि ने जिस इन्द्रकील पर्वत का विपुल वर्णन किया है, वह कुछ लोगों के मतानुसार आधुनिक सिक्किम राज्य की सीमा पर अवस्थित हिमालय का एक अङ्गभूत पर्वत है, और जो अब भी इसी नाम से विख्यात है। उस पर्वत के आस-पास भारवि के वर्णनानुसार किरातों अथवा आदि-वासियों की बस्ती आज भी पाई जाती है। अतः इसके अनुसार उन्हें उत्तर भारत का निवासी भी माना जा सकता है। जैसा कि श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य का भी कथन है। किन्तु भारवि के उत्तर भारत निवासी होने के विपरीत अनेक युक्तियाँ हैं। अनेक शताब्दियों तक भारवि और उनकी अनुपम रचना किरातार्जुनीय के सम्बन्ध में उत्तर भारत का नितान्त अपरिचित रहना तो यही सिद्ध करता है कि भारवि दाक्षिणात्य ही थे। किसी स्थल विशेष अथवा विषय विशेष का वर्णन कर देने मात्र से किसी कवि का उस स्थल का निवासी अथवा उस विषय का पूर्ण अधिकारी मान लेना उचित नहीं है। कालिदास प्रभृति महाकवियों ने समुद्र, हिमालय अथवा भूमंडल के अनेक अञ्चलों में फैले हुए प्रदेशों का वर्णन किया है, उसके अनुसार उन सभी के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं है। कवि क्रान्तदर्शी होता है, विधाता की सृष्टि के समान उसकी कल्पनाओं की सीमा पृथ्वी एवं आकाश के भीतर सर्वत्र जा सकती है। अन्यथा भारवि के युद्ध एवं राजनीति वर्णन को देखते हुए उनको एक सेनापति एवं सम्राट् के रूप में भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त भारवि यदि दक्षिण भारत के न होते तो बहुत दिनों तक मध्यवर्ती विन्ध्याचल की दुर्गम पहाड़ियों एवं अरण्यानियों के कारण दक्षिण और उत्तर भारत के प्राचीन समय के यातायात साधनों के अभाव से उनकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम दक्षिण भारत में ही क्योंकर होती कालिदासादि की तरह उत्तर भारत में ही सर्वप्रथम [illegible] ।

भारवि दक्षिण भारत के ही किसी प्रदेश के निवासी थे और सभव है वे अवन्ति सुन्दरी कथा के रचयिता आचार्य दडी के प्रपितामह दामोदर के मित्र भी रहे हों। भारवि की सहायता से ही दामोदर कवि को चालुक्यनरेश राजा विष्णुवर्मन की सभा में सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ था।

जीवन वृत्त सम्बन्धी दन्तकथा

भारवि के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों का तो अभाव है किन्तु दन्तकथाओं की अधिकता है। इन दन्तकथाओं में कितना सत्य है कितना अतिरंजित है— इसका निश्चय करना आज बड़ा कठिन है। अतएव हम इस सम्बन्ध की एक कथा को ज्यों का त्यों यहाँ रख देते हैं।

इस दन्त-कथा के अनुसार महाकवि भारवि धारा नगरी के निवासी थे। उनके पिता का नाम श्रीधर तथा माता का नाम सुशीला था। भारवि का विवाह भृगुकच्छ अर्थात् आधुनिक भड़ौंच के चन्द्रकीर्ति नामक एक शुद्ध गृहस्थ की कन्या रसिकवती अथवा रसिका के साथ हुआ था।

भारवि के पिता व्याकरण और साहित्य के प्रकाड विद्वान थे, किन्तु भारवि उनसे भी बढ़कर विद्वान हुए। अनेक राज-सभाओं में उन्होंने सैकड़ों पडितम्मानी विद्वानों को पराजित कर अक्षय कीर्ति प्राप्त की, किन्तु इसका परिणाम सुखद नहीं हुआ। भारवि को अपने पाडित्य का दुरभिमान हो गया। अपने नवयुवक पुत्र के इस दुरभिमान से पडित श्रीधर को दुश्चिन्ता हुई, वे परम अनुभवी और बहुश्रुत व्यक्ति थे। पाडित्य ही नहीं, उन्नति का समूल उच्छेद करने वाले अपने पुत्र के गर्वाङ्कुर को, जितनी शीघ्रता से हो सके, समूल उखाड़ने के लिए वे तत्पर हो गए। एक दिन उन्होंने अपने इस नवयौवनोद्धत एव दुरभिमानी पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा—'पुत्र! तुम्हारा दुरभिमान तुम्हारी उन्नति का शत्रु है। तुम पडितों का अपमान मत करो और अपने को ससार का अद्वितीय पडित मत समझो।' किन्तु भारवि को पिता की ये बातें पसन्द नहीं आईं और वे अपना अध्ययन-अध्यापन बंद कर दिन रात अपने दुरभिमान के नशे में ही चूर रहने लगे।

श्रीधर को इससे विशेष चिन्ता हुई। फिर तो उन्होंने भारवि को सर्वसाधा-

रण के सम्मुख भी अपमानित करना आरम्भ कर दिया। जहाँ कहीं भारवि जाते वहीं श्रीधर भी पहुँच जाते और बिना अवसर-अनवसर का विचार किए उनकी तीव्र निन्दा तथा भर्त्सना करने लगते।उनकी युक्तियों को निस्सार बताकर उन्हें महामूर्ख तथा अभिमानी सिद्ध करते। पिता द्वारा पुत्र के अपमान की यह घटना यद्यपि सबको बड़ी विचित्र लगती तथापि श्रीधर दूसरों के मना करने पर भी अपने इस कठोर कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुए। अब तो भारवि का कहीं आना-जाना भी कठिन हो गया। जहाँ कहीं जाते सर्वत्र उनके पिता श्रीधर उपस्थित मिलते।

अपने पिता के निन्दा एव भर्त्सना के कठोर वाणों को सहन करते-करते भारवि के धैर्य भी सीमा नहीं रही। उन्होंने सोचा कि अन्याय पराजित पडितों के समान ही मेरा पिता भी मेरी निन्दा करता है तो उनके अमर्ष की सीमा न रही। क्रोधावेश में वे अपने पिता को मार डालने पर उतारू हो गए। उन्होंने निश्चय किया कि रात्रि में सोते समय तलवार के एक झटके से इस विद्वेषी पिता की इहलीला समाप्त कर देने में ही हमारा कल्याण है। क्रोध विवेक का शत्रु होता है। भारवि को पिता के इस नृशंस वध में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं दिखाई पड़ी और वे एक रक्त पिपासु दानव के समान दिनभर क्रोधावेग से मलिन मुख और विक्षुब्ध रह कर अँधेरी रात्रि की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ खाना-पीना तो दूर पल-पल उनके लिए कठिन बीत रहा था।

अन्ततः रात्रि आ गई। माता के कहने सुनने पर भी भारवि ने कुछ भी नहीं खाया-पिया। उनके पिता श्रीधर यद्यपि भारवि की इस चिन्ता से दुःखी थे, तथापि उन्होंने अपने कृत्रिम क्रोध को यथापूर्व बनाए रखने के लिए भारवि से खाने पीने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। भारवि के दानव को इससे भी आहार मिला। वे एक कोने में छिपकर द्विगुणित क्षोभ से माता-पिता के सो जाने की दुःखद प्रतीक्षा करने लगे।

रात्रि धीरे-धीरे बीत रही थी, किन्तु अपने सुयोग्य पुत्र को चिन्तातुर एवं क्षुधा-तृषा से विह्वल स्थिति में छोड़कर सुख की निद्रा में सोना किस माता-पिता को भाएगा। भारवि की दिन भर की दुःखदायिनी उदासी और चिन्ता की चर्चा करते हुए उनकी ममतामयी जननी ने एकान्त में उनके पिता से कहा:—

क्या आपको ज्ञात नहीं कि आज भारवि ने भोजन ग्रहण करना तो दूर जल भी नहीं पिया। आज वह प्रातः काल से ही बहुत चिन्तित, म्लान और विह्वल है।

पिता—मुझे ज्ञात तो है किन्तु इसका कारण क्या है, कुछ तुम्हें मालूम है।

माता—कारण तो आपही हैं और पूछते मुझसे हैं। ऐसे सुयोग्य पुत्र की दिन-रात निन्दा करते रहते हैं और उसकी उदासी और चिन्ता का कारण मुझसे पूछते हैं। मुझे आप के इस रवैये से बड़ा दुःख है। मैं तो समझ भी नहीं पाती कि आपने यह अकारण द्रोह पुत्र के साथ क्यों पैदा कर लिया है।

पिता—प्राणप्रिये। तुझे अपने हृदय की सारी वेदना कैसे बता सकता हूँ। मुझे स्वय बड़ी ग्लानि होती है किन्तु क्या करूँ, यदि कर्त्तव्य की कठोरता से मैं विचलित हो जाऊँ तो भारवि का भविष्य हमारी इच्छा के अनुसार नहीं होगा।

माता—मेरी तो समझ में नहीं आता कि आप यह सब क्या कह रहे हैं। जिसकी रात-दिन सब के सामने निन्दा और भर्त्सना किया करते हैं, उसके भविष्य की चिन्ता आप को क्यों है? मैं तो समझती हूँ कि आप भी मेरे पुत्र के पांडित्य से ईर्ष्या करते हैं नाथ!

माता की वाणी आगे नहीं बढ़ सकी और वह अपने आन्तरिक दुःखों के आवेग से विह्वल होकर सिसक-सिसक कर रोने लगी।

श्रीधर किंकर्त्तव्य विमूढ मात्रसे कियत्क्षण चुप रहे। फिर अपनी चारपाई से उठकर बैठ गए और पत्नी को समझाते हुए बोले—

'आर्ये! तुम्हारी चिन्ता को मैं समझता हूँ और मैं यह भी समझता हूँ कि पिछले कुछ दिनों से मैं किस प्रकार भारवि के समान महान पंडित पुत्र को अपमानित करने में लगा हुआ हूँ किन्तु इसमें भी मेरा कुछ दूसरा ही उद्देश्य है। तुम उसे समझ जाओगी तो मेरे अपराधों को भूल जाओगी।'

माता की चिन्ता थोड़ी दूर हुई। वह बोली—'प्राणनाथ! मैं क्या आपके उस सदुद्देश्य के बारे में कुछ जान सकती हूँ।'

श्रीधर बोले—'क्यों नहीं। अच्छा ही हुआ, जो तुमने अपनी वेदना प्रकट

कर मुझे यह रहस्य प्रकट करने का अवसर दिया। मै भी भारवि को महान् पंडित मानता हूँ, किन्तु मैं चाहता हूँ कि वह इससे भी बढ़कर विद्वान् और पडित बनें। इधर राज-सभाओं में अनेक पंडितों को पराजित करने के बाद उसे यह दुरभिमान हो गया है कि मेरे समान इस ससार में कोई दूसरा पडित नहीं है। जब से उसके मन में यह कुबुद्धि उपजी तब से उसने शास्त्रों का अध्ययन करना छोड़ हैदिया। तुम जानती हो शास्त्र किसी विद्वान् के सेवक नहीं हैं। जो इनकी दिन-रात सेवा करता है, ये उसी के अधीन रहते हैं। जब भारवि कुछ अध्ययन-अध्यापन करेगा ही नहीं तो उसकी सारी विद्या नष्ट हो जायगी। तुम तो जानती ही हो कि अभिमानी की उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। म नहीं चाहता कि मेरे ऐसे सुयोग्य और प्राणप्रिय पुत्र की उन्नति रुक जाय। उसकी अधिगत विद्याएँ विस्मृत हो जायें और उसकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदी त्रिभुवन में व्याप्त हुए बिना ही अभिमान के घनान्धकार में तिरोहित हो जाय।

यही कारण है प्रिये! जो मै रात-दिन उसे सत्पथ पर लाने के लिये निन्दा एवं भर्त्सना रूपी क्रूर अङ्कुशों का प्रयोग करता हूँ। मुझे भी इनके प्रयोग से असह्य पीड़ा होती है, किन्तु क्या करूँ कोई अन्य उपाय भी तो इसके लिए मैं नहीं सोच पाता हूँ।'

इतनी बातें करते-करते श्रीधर का कंठ करुणोद्रेक से बोझिल हो उठा और एकात निशीथ के घनान्धकार में छिपे हुए भारवि को भी यह समझने में देर नहीं लगी कि उसके विद्वान् एवं हितैषी पिता की आँखों में उसकी उन्नति की चिंता से जलती हुई आँसुओं की धारा नीचे की ओर अनवरत प्रवाहित हो रही है।

स्नेहिल पिता की अगाध करुणा और हितेच्छा से विह्वल इन बातों को सुनकर भारवि का दुर्दान्त दानव अपने आप ही दूर भाग गया। उन पर वज्रपात-सा हुआ। अपने आराध्य पिता की अनुपम पुत्र-वत्सलता को देखकर उनका हृदय आँखों के रास्ते उमड़ पड़ा। रजनी के घनान्धकार में गृह-पक्ष के एक कोने में छिपे हुए उनके अवरुद्ध कंठ की सिसकियाँ मर्यादा तोड़कर बाहर फूट पड़ीं और और उनके माता-पिता को यह समझने में विलम्ब नहीं लगा कि भारवि उनके समीप ही कहीं खड़े होकर रो रहे हैं।

माता-पिता की संयुक्त ममता और करुणा की धार से अभिषिक्त भारवि का मनस्ताप उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ऐसे स्नेही और वत्सल पिता की क्रूर हत्या के पाप का निश्चय करने के कारण उनका अनुताप किसी भी प्रकार से शान्त नहीं हो पा रहा था। उन्होंने निर्मल और भाव भरे हृदय से अपने पिता और माता का हार्दिक अभिनन्दन करते हुये अपने दूषित और स्मरण मात्र से विकम्पित कर देने वाले इरादे को भी उनसे छिपा नहीं रखा और साथ ही इस घृणित और मानसिक अपराध का कठोर से कठोर प्रायश्चित्त करने का विधान भी अपने पिता से पूछा।

पिता ने पहले तो कुछ आना-कानी की और कलियुग में किए गए पापों का ही प्रायश्चित्त करने का विधान शास्त्र-सम्मत बतलाया। किन्तु जब उन्होंने देखा कि बिना प्रायश्चित्त किए हुए भारवि को चैन नहीं है तो उन्होंने छ महीने तक ससुराल में रहकर श्वसुर की गौएँ चराने का प्रायश्चित्त बतलाया। अनुताप की ज्वाला से दग्ध भारवि उसी रात अपने पिता तथा माता से अपने अपराधों की शतशः क्षमा-याचना कर अपनी ससुराल की ओर चल पड़े। संयोग से भारवि की पत्नी अपने पिता के ही घर थीं। भारवि के आने पर उनका यथोचित स्वागत-समादर हुआ, किन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि वे अब छ महीने तक ससुराल में ही निवास करने के लिए पधारे हुए हैं तो स्वभावत. आदर-भाव में कमी हो गई। उन्हें गोचारण का इच्छित कार्य सौंप दिया गया और वे सच्चे मन से गोचारण में लगकर अपने उस कठोर पाप का प्रायश्चित करते हुए ससुराल में रहने लगे।

गौवों के प्रति भारवि के सहज आदर एव अपार प्रेम की यह भावना उनके किरातार्जुनीय में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यहीं नहीं, उन्होंने गोपालों चरवाहों) का जीवन्त वर्णन किया है, उसमें भी उनके गोचारक कवि का सहज स्वर ही प्रस्फुटित हुआ है। पर्वतीय एव मैदानी दृश्यों के साथ-साथ खेतों और खलिहानों तथा गोचर भूमि का वर्णन भी उनके इस जीवन-क्रम का अभ्यासी

कहा जाता है कि वन में गौओं के चारण के समय ही भारवि ने अपने इस प्रिय महाकाव्य किरातार्जुनीय का आरम्भ किया था। वे प्रतिदिन सवेरे अपने श्वसुर की गौएँ खोलकर वन में ले जाते और सायंकाल वापस लौटते। दिन भर वन में सघन वृक्ष अथवा लता-वितान के नीचे बैठकर किरातार्जुनीय की मनोहर रचना करते हुए गुन-गुनाते रहते और जब श्लोक बन जाते तो उन्हें वृक्ष के पत्तों पर काँटों से छेदकर अंकित कर लेते। इस प्रकार सैकड़ों श्लोकांकित पत्ते उनके पास जमा हो गए। छिदे हुए पत्तों का यही समुदाय उनके इस महाकाव्य का आदिम रूप था।

भारवि थे तो ससुराल में किन्तु अधिक दिनों के अवस्थान के कारण ससुराल वालों की दृष्टि में इनका तथा इनकी पत्नी का आदर बहुत कम हो गया था। एक बार किसी कार्यवश इनकी पत्नी को पैसों की आवश्यकता पड़ गई। उसने भारवि से पैसों की याचना की। किन्तु भारवि का पैसों से क्या वास्ता था। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। पत्नी बहुत दुःखी हुई। उसे खिन्न देखकर भारवि को चिन्ता हुई और उन्होंने अपने द्वारा रचित महाकाव्य का एक श्लोकार्द्ध निकालकर पत्नी को दिया और कहा—'जा, इसे किसी सेठ साहूकार के यहाँ गिरवीं रखकर कुछ पैसे ले आ।' उस समय भारवि किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग की रचना कर रहे थे। उस सर्ग के तीसवें श्लोक का अर्द्धभाग बन चुका था। वही उनके हाथ में आया, जिसे उन्होंने पत्नी को गिरवी रखकर कुछ पैसे ले आने के लिए दिया था। वह श्लोक इस प्रकार था —

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्"

भारवि की पत्नी गर्भवती इस श्लोकार्द्ध को लेकर एक ऐसी धनिक स्त्री के पास गयी, जिसका पति सेठ वर्द्धमान गत पन्द्रह वर्षों से परदेश गया हुआ था। उसे भारवि की विश्वविश्रुत विद्वत्ता ज्ञात थी। वह मन ही मन उनके गुणों का आदर भी करती थी। उसने इस श्लोकार्द्ध को सहर्ष गिरवीं रखकर भारवि की पत्नी को यथेच्छ पैसे दे दिए। वर्द्धमान सेठ की पत्नी ने उस श्लोक को एक सुन्दर पट पर लिखवाकर अपने सिरहाने की ओर एक खूँटी पर लटका दिया।

अपने विरह-विदग्ध जीवन में, वह इस श्लोकार्द्ध से प्रतिदिन प्रेरणा और सान्त्वना प्राप्त करने लगी।

जिस समय वर्द्धमान घर से वाणिज्य के लिए परदेश गया था, उस समय उसकी पत्नी अन्तर्वत्नी थी। उसे परदेश में पन्द्रह वर्ष बीत गए थे। उसकी अनुपस्थिति में ही उसकी पत्नी को एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो रूप में उसके पति के ही समान था। धनिक परिवार का बालक। खाने-पीने की कोई कमी नहीं। लालन-पालन अच्छे ढङ्ग से होता ही था, वर्द्धमान का पुत्र पन्द्रह वर्ष में ही सुन्दर किशोरावस्था में पहुँच गया।

संयोग की बात। भारवि की स्त्री का श्लोकार्द्ध गिरवीं रखने के कुछ ही समय बाद-वर्द्धमान परदेश से वापस आ गया। सायंकाल हो चुका था। वर्द्धमान ने सोचा—मुझे घर से गए पन्द्रह वर्ष बीत गये हैं, अतः गुप्तरीति से चलकर पहले स्त्री के आचरणकी जाँच कर लेनी चाहिए। उसने सन्ध्या गाँव के बाहर ही बिता दी, जब रात्रि हुई तो चोर के समान अपने घर की ओर चला। घर में पहुँचने पर उसने देखा कि उसकी स्त्री पलँग पर सो रही है और उसी की बगल में एक सुन्दर युवा पुरुष भी सो रहा है। दोनों के ओढ़ने के लिए एक ही चादर भी है। वर्द्धमान का रक्त दृश्य देखते ही खौल उठा और उसे पत्नी के सतीत्व के नष्ट होने पर बड़ा क्रोध हुआ। विचार करने का उसे अवसर भी नहीं था। उसे इतना क्रोध हो गया था कि स्त्री और उस पुरुष दोनों को एक ही वार में समाप्त कर देने के लिए उसने तुरन्त म्यान से तलवार खींच ली।

सौभाग्यवश तलवार खींचते ही वर्धमान की दृष्टि स्त्री के सिरहाने पर टँगी हुई उस तख्ती पर पड़ गई जिस पर भारवि-रचित श्लोक का अर्धभाग सुन्दर अक्षरों में लिखकर टाँगा हुआ था। तलवार की चोट से वह तख्ती झूलने लगी थी। वर्धमान ने उस श्लोकार्द्ध को ज्यों ही देखा त्यों ही उसका विचार बदल गया। उसने सोचा तलवार हाथ में तो है ही, जल्दी क्या है। सोते हुए को मारना पाप है, इन दोनों को जगाकर ही मारना उचित होगा। ऐसा निश्चय कर उसने स्त्री को तलवार की नोक से ही जगा दिया। स्त्री जगते ही अपने

स्वामी को चिरकाल के अनन्तर आया देखकर हर्ष-विह्वल हो उठी और तत्क्षण उस दूसरे पुरुष को जगाते हुए उसने गद्‌गद् कंठ से पुकारा—

'बेटा ! उठो, देखो तुम्हारे पिता जी आ गए हैं। तुम उन्हें रोज पूछते थे देखो आज वे आ ही गए।'

पुत्र भी हड़बड़ा कर उठ बैठा और उसने अपने पिता के पैरों पर गिर कर हर्ष विह्वल हृदय से साष्टांग प्रणाम किया। वर्द्धमान के हर्ष का ठिकाना न रहा। अपने-देवोपम तरुण पुत्र को अंकों में लगा कर वह प्रेमाश्रु बहाने लगा अपने मन में उसने सोचा कि आज परमात्मा ने बड़ी कृपा की, यदि सिरहाने पर लटकी हुई यह तख्ती न होती तो अपने प्राणोपम पुत्र और पत्नी दोनों को मैं मार चुका होता। वर्द्धमान ने अपनी पत्नी तथा पुत्र—दोनों से अपने भयकर निश्चय की बातें बताते हुए पूछा कि—प्राण प्रिये। यह श्लोकार्ध तुम्हें कहाँ मिला था। यह तो निश्चय ही हमारे परिवार के समान ही अनन्त काल तक सैकड़ों परिवारों की अक्षय सुख-समृद्धि का कारण होगा।

पत्नी ने सेठ को पूरी कथा कह सुनाई। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही सेठ वर्द्धमान ने भारवि को बुलाकर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया और उस श्लोकार्द्ध के शेष भाग को देने के लिए भी उनसे सानुरोध प्रार्थना की।

भारवि उस श्लोक के अर्ध भाग की रचना तो कर ही चुके थे, वर्धमान के अनुरोध को अंगीकार कर उन्होंने शेष भाग को भी उसे लिखकर दे दिया, वह इस प्रकार है।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।

सर्ग २ श्लोक ३

श्लोकार्ध के शेषांश को प्राप्त कर वर्धमान ने भारवि को प्रभूत धन सः प्रदान की। उसने कहा दिया—'महाराज ! यदि आप की यह अमूल्य कृति ह दृष्टि में न पड़ती तो आज हमारी यह सुखी और समृद्ध गृहस्थी नरक की ज्वाला में भस्म हो जाती। मैं आप का परम अनुगृहीत हूँ।' निश्चय ही भारवि को अपनी कृति की इस सफलता पर हार्दिक प्रसन्नता हुई होगी।

इस दन्तकथा में वर्णित तथ्य सत्य हों या असत्य किन्तु इतना तो इसका फलितार्थ निकलता ही है कि भारवि की इस अद्वितीय रचना किरातार्जुनीय में ऐसी अनेक नीतिपूर्ण सूक्तियाँ भारी हुई हैं जो मानव जीवन में सुख, शान्ति एवं सन्तोष की वृद्धि कर सकती हैं। उनकी सुन्दर हितकारी अनुभूतियों से भरे अनेक उपदेशप्रद वाक्य धर्मशास्त्र के वचनों के समान समादरणीय हैं।)

किरातार्जुनीय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारवि को लोक व्यवहार एव शास्त्र चिन्तन दोनों क्षेत्रों में निपुणता प्राप्त थी। राजनीति एवं लोकनीति का गहराई से अनुभव था। उनकी रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि ये बड़े ही घुमक्कड़, दानशील तथा परोपकारी जीव थे। राजाओं की संगति में अधिक रहते थे तथा शास्त्रार्थ एवं गोष्ठी-सुख का इन्हें व्यासंग था। आयुर्वेद तथा धनुर्वेद की सूक्ष्म जानकारियों के संग संगीत एवं नृत्यादि ललित कलाओं के भी ये पारखी थे।

कहा जाता है कि कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि को भी उज्जयिनी में अपनी काव्य-परीक्षा देनी पड़ी थी, जिसके अनन्तर उनके काव्य का सार्वजनिक समादर किया गया। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोग बड़े-बड़े नगरों में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए विद्वानों की गोष्ठियाँ बुलाते थे, जिसमें सफल होने पर उसकी कृति या पाण्डित्य का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाता था। उज्जयिनी चिरकाल तक हमारे देश की सांस्कृतिक चेतना का प्रेरणा स्रोत रही है। शकारि विक्रमादित्य के काल से ही उसमें कवियों, कलाकारों तथा पंडितों की परीक्षाएँ हुआ करती थी।

भारवि ने यद्यपि किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग के आरम्भ तथा प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर श्री अथवा लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है तथापि उनकी कृति के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे परम शैव थे। शिव जी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी। अपने काव्य नायक अर्जुन के मुख से उन्होंने शिव जी की जो स्तुति कराई है, उसमें उनके हृद्गत भावों की मनोहर झाँकी मिलती है। आचार्य दंडी रचित अवन्ति सुन्दरी कथा के निम्न लिखित उद्धरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि शैव थे[1]।

"यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैव महाप्रभावं गवा प्रभवं प्रदीप्तभासं भारवि रविमिवेन्दुरनुरुद्धय दर्श इव पुण्य कर्मणिविष्णु वर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।"

इस कथा प्रसंग का संकेत पहले किया जा चुका है। इसमें भारवि को महा शैव विशेषण से अलकृत किया गया है। महाशैव भारवि के लिए उच्च सदाचार एवं नैतिक जीवन की मान्यताएँ सर्वथा स्वाभाविक थीं। उनकी इस कृति में जो सर्वत्र नैतिकता एवं उच्च सदाचार की महिमा गाई गई है वह उनके महाशैव कवि की ही विशेषता है।

किरातार्जुनीय के अतिरिक्त भारवि के किसी अन्य ग्रथ का कोई सकेत कहीं नहीं मिलता। केवल इसी एक महाकाव्य की रचना कर वे महाकवि बन गए थे। अपने समस्त सद्गुणों एव अध्ययन-परिशीलन का उन्होंने अपनी इस अनवद्य कृति में सुन्दर प्रयोग किया है। फलतः उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों की छाप किरातार्जुनीय के पात्रों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके सवादों के देखने से यह पता लगता है कि उनमें वक्तृत्व कला का सुन्दर विकास हुआ था। धर्मशास्त्रों की मर्यादा के समान ही वे प्राकृतिक नियमों के भी विशेषज्ञ थे।

कट्टर आस्तिकता के साथ वह परोपकार परायणता के भी पुजारी थे। वैदिक सनातन धर्म के प्रति उनकी गूढ़ निष्ठा थी। मानव-स्वभाव की विरोधी प्रवृत्तियों का उन्हें आज के मनोवैज्ञानिक से कम ज्ञान नहीं था। उनके चरित्रों में धर्मभीरु, शान्त, न्याय परायण, सत्य प्रिय और छलछिद्र से सदैव विरत रहने वाले युधिष्ठिर के संग उद्धत, जल्दबाज और अपने बल-विक्रम के सम्मुख त्रैलोक्य को तृण समझने वाले भीमसेन भी हैं। क्षात्र धर्म के अभिमानी, मनस्वी, तेजस्वी, धीर, वीर और परम जितेन्द्रिय अर्जुन के साथ महर्षि वेदव्यास, देवराज इन्द्र तथा आशुतोष शिव के पौराणिक परम्परा-प्रसूत उज्ज्वल चरित्रों की रक्षा भी भारवि ने बड़ी निपुणता से की है। इससे प्रकट होता है कि वे केवल देश और काल की सभी परिस्थितियों के अच्छे जानकार ही नहीं थे अपितु उनका अध्ययन और चिन्तन भी नितान्त गम्भीर था।

किरातार्जुनीय के चरित्रों में आदर्श भ्रातृ-प्रेम, पतिप्रेम, सेव्यसेवक-धर्म एव लोक व्यवहार की अन्यान्य विशेषताएँ भारवि के अपने चरित्र का प्रतिबिम्ब ी हो सकती हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वे परम रसज्ञ एव भावुक हृदय के ोते हुये भी एक गभीर विवेचक तथा आर्य-मर्यादाओं के सजग रक्षक थे। अपने कविकर्म को उन्होंने सर्वथा निर्दोष रीति से निर्वाहित किया है। जिस किसी विषय पर उन्होंने लेखनी चलाई है, उसकी पराकाष्ठा प्रदर्शित कर ी है। शरद् ऋतु का वर्णन आरम्भ किया है तो उसके लिए पूरा का पूरा सर्ग ी लिख डाला है। पर्वत और वन्य प्रदेश का वर्णन करने लगे तो भी सर्ग का सर्ग पूरा कर दिया। यही नहीं, आकाश मार्ग में गमन करने वाली अप्सराओं की यात्रा के वर्णन में भी उनकी कल्पना को कोई कठिनाई नहीं हुई। घोड़ों और हाथियों का भी उन्होंने ऐसा ही स्वाभाविक वर्णन किया है जैसा गौओं, गोपालों और साड़ों का। ऐसा लगता है मानों इन्हीं पशुओं के बीच ही उनके जीवन का अधिकाश भाग बीता हो। शान्त रस की कविता के वर्णन में लगते हैं तो मालूम होता है, योगाभ्यास एव वैराग्य की चरम सीमा उनसे अज्ञात नहीं थी किन्तु इसके विपरीत उनके शृगारिक वर्णनों के देखने से यह ज्ञात होता है कि इस कला में भी वह पारगत थे। अप्सराओं के हावों-भावों, कटाक्षों एव मदोन्मत्तावस्था का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन किया है जिसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है। युद्ध वर्णन के सन्दर्भ में उनके वीर और रौद्र रस की कविता का चमत्कार तो और भी चोखा है। दूत, राजमत्री, राजा, प्रजा, मुनि, योगी, तपस्वी एव देवताओं की कर्म-मर्यादा के साथ ही उन्हें वन-वासियों के जीवन का भी अच्छा अनुभव था।

ये सारी विशेषताएँ यह सिद्ध करती हैं कि भारवि अपने समय के एक सर्वश्रेष्ठ कवि ही नहीं थे उनकी प्रतिभा, अनुभूतियों एव प्रवृत्तियों का प्रसार सर्वतोमुखी था। जीवन में अच्छे से अच्छे एव बुरे से बुरे दिन उन्होंने देखे थे और उसका रसपूर्वक डटकर सामना किया था। उनका जीवन प्रवृत्तिमूलक था, वैराग्य एव तपस्या के आदर्शों की रक्षा करते हुए भी वे अपने निजी जीवन में गृहस्थी

के आदर्शों के पक्षपाती थे। कठिनाइयों से किस प्रकार लोहा लिया जाता है, इसे वे बखूबी समझते थे, पलायनवादी मनोवृत्ति को वे तनिक भी पसन्द नहीं करते थे। शिव जैसे समस्त सृष्टि के संहारकर्त्ता देवाधिदेव के साथ प्रमथों की असंख्य सेना के सम्मुख निरस्त्र स्थिति में दुर्बलांग एवं असहाय अर्जुन को भिड़ा करके उन्होंने अपने स्वभाव की इसी विशेषता को प्रकट किया है कि—"मनुष्य में अपराजेय शक्ति भरी है। वह अपने उत्कट पराक्रम एवं धैर्य के सम्मुख संहार-कर्त्ता रुद्र को भी द्रवित करके यथाभिलषित प्राप्त कर सकता है।"

किन्तु इन विशेषताओं के संग भारवि के कुछ दुर्गुणों की छाया भी उनके इस महाकाव्य में स्पष्ट देखी जा सकती है। वे किंचित अभिमानी प्रकृति के पण्डितम्मानी व्यक्ति थे। अपने प्रगाढ पाण्डित्य को प्रकट करके लोगों को स्तम्भित करने की जैसे उनमें उद्दाम लालसा थी। अन्यथा एक प्रकृत कवि होकर भी वे युद्ध वर्णन के प्रसंग में अत्यन्त दुर्बोध विकट काव्य-बन्धों की रचना करने की ओर उन्मुख न हुए होते। ऐसा लगता है कि ससुराल में अधिक दिनों तक रहने के कारण वे अपनी स्त्री के सम्मुख कुछ दबते थे। उसकी खरी-खोटी सुनने की उन्हें आदत-सी पड़ गई थी। द्रौपदी की उद्वेजक बातों को सुनकर भी धर्मराज युधिष्ठिर का चुपचाप रह जाना और उसे प्रकारान्तर से चुप करने का प्रयत्न करना इसी बात का सूचक है।

भारवि ने दीर्घायु के साथ सुन्दर, स्वस्थ शरीर पाया था, इसका संकेत हमें उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलता है। नव-यौवन की उद्दाम लालसाओं के समान ही जराजीर्ण वृद्धों की लोलुप मनोवृत्तियों का भी इन्होंने स्वाभाविक वर्णन किया है। दुराराध्य रोगों और व्याधियों से इनके सभी पात्र दूर हैं और सब के ऊर्जस्वित शरीर में बल विक्रम के साथ स्वस्थ और सुप्रसन्न मन, भावना प्रवण तथा संवेदनशील हृदय एवं जागरूक मस्तिष्क विद्यमान था। मदिरा पान की उत्तुंग विह्वलता में भी उनके पात्रों की दशा बनी रहती है। पात्रों की ये सभी विशेषतायें निश्चय ही अपने रचनाकार के सुन्दर स्वास्थ्य एवं मनो-

मोहक व्यक्तित्व की ही सूचना देने वाली हैं। सुलभ साधनों एव स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में केवल रचना में रचनाकार का जितना व्यक्तित्व प्रतिम्बित हो सका है, उनका साराश ही हमने ऊपर सकलित किया है। आशा है, इनके द्वारा हमारे पाठकों को भारवि के कवि एव मानव हृदय को समझने में थोड़ी सहायता मिलेगी।

अपने अनुवाद के सम्बन्ध में—हमारे इस अनुवाद के पूर्व भारवि के किरातार्जुनीय के अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ अनुवाद है स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का। किन्तु द्विवेदी जी का यह अनुवाद मूलानुगामी अनुवाद नहीं है। उसे हम किरातार्जुनीय का भावानुवाद कह सकते हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं तो उसका भाष्य एव फलितार्थ भी निकाला गया है, जिसे हम अनुवाद की कोटि में रख ही नहीं सकते। वस्तुतः द्विवेदी जी ने हिन्दी-प्रेमियों के बीच भारवि की इस उत्तम रचना का प्रसार करने के लिए ही अपना अनुवाद किया था। भारवि के काव्य गुणों को प्रकट करने के लिए उन्होंने केवल भारवि के शब्दों को आधार नहीं माना है। भारवि के भावों को उन्होंने अपने शब्दों में पल्लवित किया है। निश्चय ही इस अनुवाद के द्वारा मूल सस्कृत के प्रेमी हिन्दी पाठकों का परितोष सम्भव नहीं था।

द्विवेदी जी के अनुवाद के अतिरिक्त हिन्दी में किरातार्जुनीय के जो अन्य अनुवाद उपलब्ध हैं उनकी गभीर आलोचना स्वय द्विवेदी जी ने ही की है। उनके कथन का साराश इतना ही है कि इन अनुवादों से हिन्दी-प्रेमियों का कोई लाभ नहीं हो सकता।

मैंने अपने अनुवाद में न केवल भारवि के शब्दो की ही भरसक रक्षा की है, वरन् उनके भावों को भी सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। श्लोको के साथ सस्कृत में ही अर्थानुगामी अन्वय भी दे दिया है तथा उसके बाद भारवि के शब्दों द्वारा प्रकट होने वाला अर्थ दे दिया है। तदनन्तर सरलार्थ अथवा भावार्थ देकर भारवि के भावों की सुविस्तृत एवं सुस्पष्ट व्याख्या कर दी है। सब के

वाद काव्य की विशेषताओं को प्रकट करने वाली टिप्पणी भी दे दी है। हमारा उद्देश्य है कि भारवि के इस सम्पूर्ण महाकाव्य का रसास्वादन करने वाले सामान्य संस्कृत-प्रेमी अथवा विद्यार्थी-वृन्द हमारे इस अनुवाद से यथेष्ट लाभ उठा सकें।

प्रकाश निकेतन, कीडगंज
इलाहाबाद
श्रावणी, २०१४

रामप्रताप त्रिपाठी

श्री गणेशाय नमः

किरातार्जुनीय महाकाव्य

प्रथम सर्ग

श्रिय. कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्ति यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदित. समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

अन्वय.—कुरूणाम् अधिपस्य श्रिय पालनीं प्रजासु वृत्तिम् वेदितुम् यम् अयुङ्क्त स वर्णिलिङ्गी विदितः वनेचरः द्वैतवने युधिष्ठिर समाययौ ॥१॥

अर्थ—कुरुपति दुर्योधन की राज्यलक्ष्मी की रक्षा करने में समर्थ, प्रजावर्ग के साथ किये जाने वाले उसके व्यवहार को भली भाँति जानने के लिए जिस किरात को नियुक्त किया गया था, वह ब्रह्मचारी का (छद्म) वेश धारण कर, वहाँ की सम्पूर्ण परिस्थिति को समझ-बूझकर द्वैत वन मे (निवास करने वाले) राजा युधिष्ठिर के पास लौट आया ॥१॥

टिप्पणी—इस महाकाव्य की कथा का सदर्भ महाभारत से लिया गया है। जैसा कि सुप्रसिद्ध था, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, भीम एव अर्जुन आदि से धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि की तनिक भी नहीं पटती थी। एक बार फुसलाकर दुर्योधन ने युधिष्ठिर के साथ जुआ खेला और अपने मामा शकुनि की धूर्तता से युधिष्ठिर को हरा दिया। युधिष्ठिर न केवल राजपाट के अपने हिस्से को ही गँवा बैठे, प्रत्युत यह दाँव भी हार गये कि वे अपने सब भाइयो के साथ बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करेंगे। फल यह हुआ कि अपने चारों भाइयों तथा पत्नी द्रौपदी के साथ वह बारह वर्षों तक जगह-जगह ठोकर खाते हुए घूमते-फिरते रहे। एक बार वह सरस्वती नदी के किनारे द्वैतवन में निवास कर रहे थे कि उनके मन में आया कि किसी युक्ति से दुर्योधन का राज्य के प्रजा-वर्ग के साथ किस प्रकार का व्यवहार है, यह जाना जाय। इसी जानकारी को प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक चतुर वनवासी किरात को नियुक्त किया, जिसने ब्रह्म-

चारी का वेश धारण कर हस्तिनापुर में रहकर दुर्योधन की प्रजानीति के सम्बन्ध में गहरी जानकारी प्राप्त की। प्रस्तुत कथा-सदर्भ में उसी जानकारी को वह द्वैतवन में निवास करने वाले युधिष्ठिर को बताने के लिए वापस लौटा है।

इस पूरे सर्ग में कवि ने वंशस्थ वृत्त का प्रयोग किया है, जिसका लक्षण है—"जतौ तु वशस्थमुदीरितं जरौ।" अर्थात् जगण, तगण, जगण और रगण के संयोग से वशस्थ छन्द बनता है। इस श्लोक की प्रथम पक्ति में "वने वनेचरः" शब्दों में 'वने' की दो बार आवृत्ति होने से 'वृत्यनुप्रास' अलकार है, महाकवि ने मागलिक 'श्री' शब्द से अपने ग्रथ का आरम्भ करके वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया है।

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

अन्वय.—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जिता महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे। हि हितैषिण. मृषा प्रिय प्रवक्तु न इच्छन्ति ॥२॥

अर्थ—उस समय के लिये उचित प्रणाम करने के अनन्तर शत्रुओं (कौरवों) द्वारा अपहृत पृथ्वीमण्डल (राज्य) की यथातथ्य बातें राजा युधिष्ठिर से निवेदन करते हुए उस वनवासी किरात के मन को तनिक भी व्यथा नहीं हुई। (ऐसा क्यों न होता) क्योंकि किसी के कल्याण की अभिलाषा करने वाले लोग (सत्य बात को छिपा कर केवल उसे प्रसन्न करने के लिये) झूठ-मूठ की प्यारी बातें (बना कर) कहने की इच्छा नहीं करते ॥२॥

टिप्पणी—क्योंकि यदि हितैषी भी ऐसा करने लगें तो निश्चय ही कार्य-हानि हो जाने पर स्वामी को द्रोह करने की सूचना तो मिल ही जायगी। इस श्लोक में भी 'मही-मही' शब्द की पुनरावृत्ति से वृत्यनुप्रास अलंकार है और यह अर्थान्तरन्यास से संवृष्ट है।

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृत.।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

अन्वय.—रहसि स द्विषा विघाताय विधातुम् इच्छत. भूभृत. अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम् विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे ॥३॥

अर्थ—एकान्त में उस वनवासी किरात ने शत्रुओं का विनाश करने के लिए प्रयत्नशील राजा युधिष्ठिर की आज्ञा प्राप्तकर सरस सुन्दर शब्दों में असंदिग्ध अर्थ एवं निश्चित प्रमाणों से युक्त वाणी में इस प्रकार से निवेदन किया ॥३॥

टिप्पणी—इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि उक्त वनवासी किरात केवल निपुण दूत ही नहीं था, एक अच्छा वक्ता भी था। उसने जो कहा, सुन्दर मनोहर शब्दों में सुस्पष्ट तथा निश्चयपूर्वक कहा। उसकी वाणी में अनिश्चयात्मकता अथवा सन्देह को कहीं गुञ्जाइश नहीं थी। उसके शब्द सुन्दर थे और अर्थ स्पष्ट तथा निश्चित।

इसमें सौष्ठव और औदार्य—इन दो विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण 'परिकर' अलंकार है, जो 'पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग' से अनुप्राणित है। यद्यपि 'आङ्' उपसर्ग के साथ 'दा' धातु का प्रयोग लेने के अर्थ में ही होता है किन्तु यहाँ पर सन्दर्भानुरोध से कहने के अर्थ में ही समझना चाहिये।

[किरात को भय है कि कहीं मेरी अप्रिय कटु बातों से राजा युधिष्ठिर अप्रसन्न न हो जायँ अत. वह सर्वप्रथम क्षमा-याचना के रूप में निवेदन करता है।]

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

अन्वय.—(हे) नृप ! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्चनीयाः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम् ॥४॥

अर्थ—कोई कार्य पूरा करने के लिए नियुक्त किए गए (राज) सेवकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे दूतों की आँखों से ही देखने वाले अपने स्वामी को (झूठी तथा प्रिय बातें बता कर) न ठगें। इसलिए मैं जो कुछ अप्रिय अथवा प्रिय बातें निवेदन करूँ उन्हें आप क्षमा करेंगे, क्योंकि सुनने में मधुर तथा परिणाम में कल्याण देने वाली वाणी दुर्लभ होती है ॥४॥

टिप्पणी—दूत के कथन का तात्पर्य यह है कि मैं अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए ही आप से कुछ अप्रिय बातें करूँगा, वह चाहे आपको अच्छी लगें या बुरी। अतः कृपा कर उनके कहने के लिए मुझे क्षमा करेंगे क्योंकि मैं अपने कर्त्तव्य से विवश हूँ।

इस श्लोक में पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' अलंकार है, जो चतुर्थ चरण में आये हुये अर्थान्तरन्यास अलंकार से संसृष्ट है। यहाँ अर्थान्तरन्यास को सामान्य से विशेष के समर्थन रूप में जानना चाहिए।

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिप हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥५॥

अन्वय.—यः अधिपं साधु न शास्ति सः किंसखा यः हितात् न संशृणुते सः किंप्रभुः। हि सदा अनुकूलेषु नृपेषु अमात्येषु च सर्वसम्पदः रतिं कुर्वते ॥५॥

अर्थ—जो मित्र अथवा मंत्री राजा को उचित बातों की सलाह नहीं देता वह अधम मित्र अथवा अधम मंत्री है तथा (इसी प्रकार) जो राजा अपने हितैषी मित्र अथवा मंत्री की हित की बातें नहीं सुनता वह राजा होने योग्य नहीं है। क्योंकि राजा और मंत्री के परस्पर सर्वदा अनुकूल रहने पर ही उनमें सब प्रकार की समृद्धियाँ अनुरक्त होती हैं ॥५॥

टिप्पणी—दूत के कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय मैं जो कुछ निर्भय होकर कह रहा हूँ वह आपकी हित-चिंता ही से कह रहा हूँ। मेरी बातें ध्यान से सुनें।

इस श्लोक में कार्य से कारण का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

अन्वय.—निसर्गदुर्बोधम् भूपतीनाम् चरितम् क्व। अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व। मया विद्विषाम् निगूढतत्त्वम् नयवर्त्म यद् अवेदि अयम् तव अनुभावः ॥६॥

अर्थ—स्वभाव से ही दुर्बोध (राजनीतिक रहस्यों से भरा) राजाओं का चरित कहाँ और अज्ञान से बोझिल मुझ जैसा जीव कहाँ ? (दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है)। (अत.) शत्रुओं के अत्यन्त गूढ़ रहस्यों से भरी जो कूटनीति की बातें मुझे (कुछ) ज्ञात हो सकी हैं, यह तो (केवल) आपका अनुग्रह है ॥६॥

टिप्पणी—दूत की वक्तृत्व कला का यह सुन्दर नमूना है। अपनी नम्रता को वह कितनी सुन्दरता से प्रकट करता है। इस श्लोक में विषम अलकार है।

विशङ्कमानो भवत. पराभव नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिन.।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयने जेतु जगती सुयोधन. ॥७॥

अन्वयः—नृपासनस्थ. अपि सुयोधन. वनाधिवासिनः भवत. पराभव विशङ्कमान. दुरोदरछद्मजिता जगतीम् नयेन जेतुम् समीहते ॥७॥

अर्थ—राज-सिंहासन पर बैठा हुआ भी दुर्योधन (राज्याधिकार से च्युत) वन में निवास करने वाले आपसे अपने पराजय की आशङ्का रखता है। अतएव जुए द्वारा कपट से जीती हुई पृथ्वी को (अब) वह न्यायपूर्ण शासन द्वारा अपने वश में करने की इच्छा करता है ॥७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन सर्व-साधन सम्पन्न है और आपके पास कोई साधन नहीं है, फिर भी आप से वह सदा डरता रहता है कि कहीं आपके न्याय-शासन से प्रसन्न जनता आपका साथ न दे दे और आप उसे राजगद्दी से उतार न दें। इसलिये वह यद्यपि जूआ में समूचे राजपाट को आपसे जीत चुका है, फिर भी प्रजा का हृदय जीतने के लिए न्यायपरायणता में तत्पर है। वह आपकी ओर से तनिक भी असावधान नहीं है, क्योंकि आप सब को वह वनवासी होने पर भी प्रजावल्लभ होने के कारण अपने से अधिक बलवान समझता है। अत. जनता को अपने प्रति आकृष्ट कर रहा है।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

[किस प्रकार की न्याय बुद्धि से वह पृथ्वी को जीतना चाहता है—इसे सुनिए—]

तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

अन्वयः—तथाऽपि जिह्मः सः भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति । भूतिम् समुन्नयन् अनार्यसङ्गमात् महात्मभिः समं विरोधः अपि वरम् ॥८॥

अर्थ—आप से सशंकित होकर भी वह कुटिल प्रकृति दुर्योधन आप को पराजित करने की अभिलाषा से दान-दाक्षिण्यादि सद्गुणों से अपने निर्मल यश का (उत्तरोत्तर) विस्तार कर रहा है क्योंकि नीच लोगों के सम्पर्क से वैभव प्राप्त करने की अपेक्षा सज्जनों से विरोध प्राप्त करना भी अच्छा ही होता है ॥८॥

टिप्पणी—सज्जनों का विरोध दुष्टों की सङ्गति से इसलिए अच्छा होता है कि सज्जनों के साथ विरोध करने से और कुछ नहीं तो उनकी देखा-देखी स्पर्द्धा में उनके गुणों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने की प्रेरणा तो होती ही है । जब कि दुष्टों की सङ्गति तात्कालिक लाभ के साथ ही दुर्गति का कारण बनती है । क्योंकि दुष्टों की सङ्गति से बुरे गुणों का अभ्यास बढ़ेगा, जो स्वयं दुर्गति के द्वार हैं।

इस श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है जो पदार्थ हेतुक काव्यलिंग से अनुप्राणित है ।

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥९॥

अन्वय.—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपां मानवीम् पदवीम् प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तंदिवं विभज्य नयेन पौरुषम् वितन्यते ॥९॥

अर्थ—(वह दुर्योधन) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं अहंकार नामक प्राणियों के छहों शत्रुओं को जीतकर, अत्यन्त दुर्गम मनु आदि नीतिज्ञों की बनाई हुई शासन-पद्धति पर कार्य करने की लालसा से आलस्य को दूर भगा कर, [illegible]

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन अब वही जुआड़ी और आलसी दुर्योधन नहीं रह गया है। उसने छहों दुर्गुणों को दूर करके स्वायम्भुव मनु के दुर्गम आदर्शों के अनुरूप अपने को राजा बना लिया है। उसमें आलस तो तनिक भी नहीं रह गया है। दिन और रात—सब में उसके पृथक्-पृथक् कार्य नियत हैं। उसके पराक्रम को नैतिक शक्ति का बल मिल गया है, और इस प्रकार वह दुर्जेय बन गया है। परिकर अलकार।

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

अन्वय.—गतस्मयः सः सन्ततम् साधु अनुजीविन. प्रीतियुजः सखीन् इव सुहृदः बन्धुभिः समानमानान् बन्धुताम् कृताधिपत्याम् इव दर्शयते ॥१०॥

अर्थ—वह दुर्योधन अब निरहकार होकर सर्वदा निष्कपट भाव से सेवा करने वाले सेवकों को प्रीतिपात्र मित्रों की तरह मानता है। मित्रों को निजी कुटुम्बियों की तरह सम्मानित करता है तथा अपने कुटुम्बियों को राज्याधिकारी की भाँति आदर देता है ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उसमें अब वह पूर्व अभिमान नहीं है। वह अत्यन्त उदार हृदय बन गया है। उसने पूरे राज्य में बन्धुता का विस्तार कर दिया है, उसका यह व्यवहार सदा-सर्वथा रहता है, दिखावट की गुञ्जाइश नहीं है। और उसके इस व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट होते हैं। वह ऐसा करके यह दिखाना चाहता है कि मुझमें अहङ्कार का लेश नहीं है। इसमें तीन श्रौती पूर्णोपमा हैं।

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

अन्वय.—यथायथ विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयत. अस्य त्रिगण गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्पर न बाधते ॥११॥

अर्थ—यथोचित विभाग कर, किसी के साथ कोई विशेष पक्षपात न करके वह दुर्योधन अनासक्त भाव से धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, जिससे

ये तीनों भी उसके (स्पृहणीय) गुणों से अनुरक्त होकर उसके मित्र-से बन गये हैं और परस्पर उनका विरोध मात्र नहीं रह गया है ॥११॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन धर्म, अर्थ, काम का ठीक-ठीक विभाग कर प्रत्येक का इस प्रकार आचरण करता है कि किसी में आसक्त नहीं मालूम पड़ता। सब का समय नियत है, किसी से कोई पक्षपात नहीं है। उसके गुणों पर ये तीनों भी रीझ उठे हैं। यद्यपि ये परस्पर विरोधी हैं, तथापि उसके लिए इनमें मित्रता हो गई है और प्रतिदिन इनकी वृद्धि हो रही है। वाच्योत्प्रेक्षा।

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दान विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्त्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

अन्वयः—तस्य निरत्यय साम दानवर्जितम् न, भूरि दान सत्क्रिया विरहय्य न। विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते ॥१२॥

अर्थ—उस दुर्योधन की निष्कपट साम नीति दान के बिना नहीं प्रवर्तित होती तथा प्रचुर दान सत्कार के बिना नहीं होता और उसका अतिशय सत्कार भी बिना विशेष गुण के नहीं होता। (अर्थात् वह अतिशय सत्कार भी विशेष गुणी तथा योग्य व्यक्तियों का ही करता है।) ॥१२॥

टिप्पणी—राजनीति में चार नीति कही गई हैं। साम, दाम, दण्ड और भेद। दुर्योधन इन चारों उपायों को बड़ी निपुणता से प्रयोग करता है। अपने से बड़े शत्रु को वह प्रचुर धन देकर मिला लेता है। उसका देना भी सम्मानपूर्वक होता है, अर्थात् धन और सम्मान दोनों के साथ साम-नीति का प्रयोग करता है किन्तु इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि वह ऐरे-गैरे सभी लोगों को इस प्रकार धन-सम्मान देता है। नहीं, केवल गुणियों को ही, सब को नहीं। पूर्ववर्ती विशेषणों के पूर्ववर्ती वाक्यों की स्थापना के कारण एकावली अलङ्कार इस श्लोक में है।

[अब दुर्योधन की दण्ड नीति का प्रकार कवि बतला रहा है।]

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

अन्वयः—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न मन्युना न निवृत्तकारणः स्वधर्मः इति एव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ वा सुते अपि धर्मविप्लव निहन्ति ॥१३॥

अर्थ—इन्द्रियों को वश में रखनेवाला वह दुर्योधन न तो धन के लोभ से और न क्रोध से (ही किसी को दण्ड देता है) अपितु लोभादि कारणों से रहित होकर, इसे अपना (राजा का) धर्म समझ कर ही वह अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट (शास्त्र सम्मत) दण्ड का प्रयोग करके शत्रु हो या अपना निज का पुत्र हो अधर्म का उपशमन करता है ॥१३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि वह दण्ड देने में भी पक्षपात नहीं करता। न तो किसी को धन-सम्पत्ति या राज्य पाने के लोभ से दण्ड देता है और न किसी को क्रोधित होने पर। बल्कि दण्ड देने में वह अपना एक धर्म समझता है। शास्त्रों के अनुसार जिसको जिस किसी अपराध का दण्ड उचित है वही वह देगा। दण्डनीय चाहे शत्रु हो या अपना ही पुत्र क्यों न हो। दुष्ट ही उसके शत्रु हैं और शिष्ट ही उसके मित्र हैं।

पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

[अब आगे दुर्योधन की भेदनीति का वर्णन है।]

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

अन्वयः—शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति। क्रियाऽपवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञताम् वदन्ति ॥१४॥

अर्थ—सर्वदा सशङ्क चित्त रहने वाला वह दुर्योधन सर्वत्र चारों ओर अपने आत्मीय जनों को रक्षक नियुक्त करके अपने को सब का विश्वास करने वाला प्रदर्शित करता है। कार्यों की सफल समाप्ति पर राज-सेवकों को पुरस्कार रूप में प्रदान की गयी धन-सम्पत्ति उसकी कृतज्ञता की सूचना देती है ॥१४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन ने राज्य के सभी उच्च पदों पर अपने आत्मीय जनों को नियुक्त कर रखा है तथापि वह सर्वदा सशंक रहता है और प्रकट में ऐसा व्यवहार करता है मानों सब का विश्वास करता है किसी भी कर्मचारी को वह यह ध्यान नहीं आने देता कि वह राजा का विश्वासपात्र नहीं है। यही नहीं, जब कभी उसका कोई कार्य सफल समाप्त होता है तब वह उसमें लगे हुए कर्मचारियों को प्रचुर धन-सम्पत्ति पुरस्कार रूप में देता है। वही धन-सम्पत्तियाँ ही उसकी कृतज्ञता का सुन्दर विज्ञापन करती हैं। इस प्रकार के कृतज्ञ एवं उपकारी राजा में सेवकों की सच्ची भक्ति का होना स्वाभाविक ही है। पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रिया. ।
फलन्त्युपाया. परिबृंहितायतीरुपेत्य सघर्षमिवार्थसम्पद. ॥१५॥

अन्वय.—तेन सम्यक् विभज्य पदेषु लम्भिता. विनियोगसत्क्रियाः उपायाः संघर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पद अनारतम फलन्ति ॥१५॥

अर्थ—उस दुर्योधन द्वारा भली-भाँति समझ-बूझकर यथायोग्य पात्र में प्रयोग किये जाने से सत्कृत साम, दान, दण्ड और भेद—ये चारों उपाय, एक दूसरे से परस्पर स्पर्द्धा करते हुये-से उत्तरोत्तर बढ़ने वाली धन सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य राशि को सर्वदा उत्पन्न किया करते हैं ॥१५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन साम दानादि नीतियों का यथायोग्य पात्र में खूब समझ बूझकर प्रयोग करता है और इससे उत्तरोत्तर उसकी अचल धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती चली जा रही है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिना मद. ॥१६॥

अन्वय—अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां मद. अनेक राजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरम् भृशम् आर्द्रताम् नयति ॥१६॥

अर्थ—छितवन (सप्तपर्ण) के पुष्प की सुगन्ध के समान गन्ध वाले राजाओं द्वारा भेंट में दिए गए हाथियों के मद जल, अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरे हुए उसके (दुर्योधन के) सभा-भवन के प्रागण को अत्यन्त गीला बनाये रखते हैं ॥१६॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन की सभा में देश-देशान्तर के राजा सर्वदा जुटे रहते हैं और उनके रथों, घोड़ों और हाथियों की भीड़ से उसके सभा भवन का प्रागण गीला बना रहता है। अर्थात् उसका प्रभाव अब बहुत बढ़ गया है। उदात्त अलङ्कार।

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥१७॥

अन्वयः—चिराय तस्मिन् क्षेम वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्याः इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः चकासति ॥१७॥

अर्थ—चिरकाल से प्रजा के कल्याण के लिए यत्नशील उस राजा दुर्योधन के कारण नदियों एवं नहरों आदि की सिंचाई की सुविधा से समन्वित कुरुप्रदेश की भूमि मानों वहाँ के किसानों के बिना अधिक परिश्रम उठाए हुए ही बड़ी सुविधा के साथ स्वयम् प्राप्त होने वाले अन्नों की समृद्धि से सुशोभित हो रही है ॥१७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन केवल राजनीति पर ही ध्यान नहीं दे रहा है, वह प्रजा की समृद्धि को भी बढ़ा रहा है। उसने समूचे कुरु प्रदेश को अब वर्षा के जल पर ही नहीं निर्भर रहने दिया है, नहरों एवं कुओं से सिंचाई की सुविधा कर दी है। समूचा कुरु प्रदेश धन-धान्य से भरा-पुरा हो गया है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥१७॥

उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

अन्वयः—उदारकीर्त्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयम् दिशतः

अर्थ—महान् यशस्वी, परन्तु लकातर, समस्त उपद्रवों एवं बाधाओं को शान्त कर प्रजा वर्ग की सुरक्षा की सुव्यवस्था का सम्पादन करने वाले, कुबेर के समान उस दुर्योधन के गुणों से रीझी हुई धरती (नवप्रसूता दुधार गौ की भाँति) धन-धान्य (रूपी दूध स्वयं दे रही है।) को स्वयं उत्पन्न करती है ॥१८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के दया-दाक्षिण्य आदि गुणों ने पृथ्वी को द्रवीभूत-सा कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि समूचे कुरु-प्रदेश की धरती मानों द्रवित होकर स्वयमेव दुर्योधन को धन-धान्य रूपी दूध दे रही है। समासोक्ति अलङ्कार। अतिशयोक्ति का भी पुट है।

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१९॥

अन्वयः—महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्तयः नसंहताः नभिन्नवृत्तयः धनुर्भृतः तस्य असुभिः प्रियाणि समीहितुम् वाञ्छन्ति ॥१९॥

अर्थ—महाबलशाली, अपने कुल एवं शील का स्वाभिमान रखने वाले, धन-सम्पत्ति द्वारा सत्कृत, युद्धभूमि में कीर्ति प्राप्त करने वाले, परोपकार परायण तथा एक कार्य में सब के सब लगे रहने वाले धनुर्धारी शूर वीर उस दुर्योधन का अपने प्राणों से (भी) प्रिय कार्य करने की अभिलाषा रखते हैं ॥१९॥

टिप्पणी—धनुर्धारियों के सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर तथा पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार की संसृष्टि इस श्लोक में है।

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०॥

अन्वय—अशेषितक्रियः सः सच्चरितैः चरैः महीभृताम् क्रियाः निःशेषम् वेद। तस्य धातुः इव ईहितम् महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतीयते ॥२०॥

अर्थ—आरम्भ किए हुए कार्यों को समाप्त करके ही छोड़ने वाला वह दुर्योधन अपने सराहनीय चरित्र वाले गुप्तचरों के द्वारा अन्य राजाओं की सारी

कार्यवाहियाँ जान लेता है। (किन्तु) ब्रह्मा के समान उसकी इच्छाओं की जानकारी, उनकी महान् समाप्ति के फलों द्वारा ही होती है ॥२०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के गुप्तचर समग्र भूमण्डल में फैले हुए हैं। वह समस्त राजाओं की गुप्त बातें तो मालूम कर लेता है किन्तु उसकी इच्छा तो तभी ज्ञात होती है जब कार्य पूरा हो जाता है।

काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अन्वयः—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्, वा आननम् कोपविजिह्मम् न कृतम्, गुणानुरागेण अस्य शासनम् नराधिपैः माल्यमिव शिरोभिः उह्यते ॥२१॥

अर्थ—उस (दुर्योधन) ने कहीं भी अपने सुसज्जित धनुष को नहीं चढ़ाया, तथा (उसने) अपने मुँह को भी (कहीं) क्रोध से टेढ़ा नहीं किया। (केवल उसके) दया-दाक्षिण्य आदि उत्तम गुणों के प्रति अनुरक्त होने के कारण उसके शासन को सभी राजा लोग माला की भाँति अपने शिर पर धारण किए रहते हैं ॥२१॥

टिप्पणी—दुर्योधन की नीतिमत्ता का यह फल है कि वह न तो कहीं धनुष का प्रयोग करता है और न कहीं मुँह से ही क्रोध प्रकट करने की उसे आवश्यकता होती है, किन्तु फिर भी सभी राजा उसके शासन को शिरसा स्वीकार करते हैं। यह केवल उसके दया-दाक्षिण्य आदि गुणों का प्रभाव है।

पूर्वार्द्ध में साभिप्राय विशेषणों से परिकर अलङ्कार है तथा उत्तरार्द्ध में पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है।

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

अन्वयः—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतम् दुःशासनम् यौवराज्ये निधाय मखेषु पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः हव्येन हिरण्यरेतसम् धिनोति ॥२२॥

अर्थ—अप्रतिहत आज्ञा वाला (जिसकी आज्ञा या आदेश का पालन सब करते हैं) वह दुर्योधन नवयौवन-सुलभ उद्दण्डता से पीड़ित दुःशासन को युवराज पद पर आसीन करके, स्वय पुरोहित की अनुमति से बड़ी तत्परता के साथ आलस्य छोड़कर यज्ञों में हवनीय सामग्रियों द्वारा अग्निदेवता को प्रसन्न करता है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् अब वह शासन के छोटे-मोटे कामों के सम्बन्ध में भी निश्चिन्त है और धर्म-कार्यों में अनुरक्त है। धर्म कार्य मे अनुरक्त ऐसे राजा का अनिष्ट भला हो ही कैसे सकता है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

अन्वय.—स प्रलीनभूपाल स्थिरायति भुव. मण्डलं आवारिधि प्रशासत् अपि त्वदेष्यती· भियः चिन्तयति एव। अहो बलवद् विरोधिता दुरन्ता ॥२३॥

अर्थ—वह दुर्योधन (शत्रु) राजाओं के विनष्ट हो जाने के कारण सुस्थिर भूमण्डल पर समुद्र पर्यन्त राज्य शासन करते हुए भी आप की ओर से आनेवाली विपदा के भय से चिन्तित ही रहता है। क्यों न ऐसा हो, बलवान् के साथ का वैर-विरोध अमङ्गलकारी होता ही है ॥२३॥

टिप्पणी—समुद्रपर्यन्त भूमण्डल का शत्रुहीन राजा भी अपने विरोधी से भयभीत है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कथाप्रसगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दु.सहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

अन्वय.—कथाप्रसङ्गेन जनै· उदाहृतात् तव अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम. सः सुदु सहात् मन्त्रपदात् उरगः इव नताननः व्यथते ॥२४॥

अर्थ—बातचीत के प्रसङ्ग में लोगों द्वारा लिए जाने वाले आप के नाम से इन्द्रपुत्र अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम को स्मरण करता हुआ वह दुर्योधन (विष की औषधि करने वाले मन्त्रवेत्ता द्वारा उच्चारित गरुड़ और वासुकि के नामों

से युक्त) मन्त्रों के प्रचण्ड पराक्रम को न सह सकने वाले सर्प की भाँति नीचे मुख करके व्यथा का अनुभव करता है ॥२४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि आप का नाम सुनते ही उसे गहरी पीड़ा होती है। अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम का स्मरण करके वह मंत्रोच्चारण से सत्रस्त सर्प की भाँति शिर नीचे कर लेता है। उपमा अलङ्कार।

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्रविधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥२५॥

अन्वयः—तत् त्वयि जिह्म कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वताम्। मादृशाम् गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु ॥२५॥

अर्थ—अतएव आप के साथ कपट एव कुटिलता का आचरण करने में उद्यत उस दुर्योधन के साथ उचित उत्तर देने वाली कार्यवाही आप शीघ्र करें। दूसरों की कही गई बातों को भुगताने वाले सन्देशहारी मुझ जैसे लोगों की बातें तो केवल परिस्थिति की सूचना मात्र देती हैं ॥२५॥

टिप्पणी—दूत का तात्पर्य यह है कि अब आप उस दुर्योधन के साथ क्या करना चाहिये, इसका शीघ्र निर्णय कर लें। इस सम्बन्ध में मेरे जैसे लोग तो यही कर सकते हैं कि जो कुछ वहाँ देखकर आये हैं, उसकी सूचना आप को दे दें। क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में सम्मति देने के अधिकारी हम जैसे लोग नहीं हैं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसंनिवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

अन्वय.—आत्तसत्क्रिये वनसंनिवासिनाम् पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा गते अथ महीभुजा सदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद् वचः कृष्णा आचचक्षे ॥२६॥

अर्थ—उपर्युक्त बातें कह कर, पारितोषिक द्वारा सत्कृत उस वनवासी चर के (वहाँ से) चले जाने के अनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने भवन में प्रविष्ट हो गये

और वहाँ उन्होंने अपने छोटे भाइयों की उपस्थिति में वे सारी बातें द्रौपदी को कह सुनाईं ॥२६॥

टिप्पणी—वह वनवासी चर दुर्योधन की गोपनीय बातों की सूचना देकर उचित पुरस्कार द्वारा सम्मानित होकर जब चला गया, तब राजा युधिष्ठिर ने वे सारी बातें अपने छोटे भाइयों से तथा द्रौपदी से भी जाकर बता दीं।

पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥२७॥

अन्वयः—द्रुपदात्मजा द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततः ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार ॥२७॥

अर्थ—द्रुपदसुता शत्रुओं की सफलता सुनकर, उनके द्वारा होने वाले अपकारों को दूर करने में अपने को असमर्थ समझ कर राजा युधिष्ठिर के क्रोध को प्रज्वलित करने वाली वाणी में (इस प्रकार) बोलीं ॥२७॥

टिप्पणी—स्त्रियों को पति के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली कला खूब आती है। दुर्योधन के अभ्युदय की चर्चा सुन कर द्रौपदी को वह सब विपदायें स्मरण हो आईं, जो अतीत में भोगनी पड़ी थीं। उसने अनुभव किया कि ये हमारे निकम्मे पति अभी तक उसका प्रतिकार भी नहीं कर सके। अतः उसने युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने वाली बातें कहना आरम्भ किया।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

अन्वयः—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेप इव भवति। तथापि निरस्तनारीसमया दुराधयः मां वक्तुम् व्यवसाययन्ति ॥२८॥

अर्थ—(यद्यपि) आप जैसे राजाओं के लिए स्त्रियों द्वारा कही गई अनुशासन सम्बन्धी बातें (आप के) तिरस्कार के समान हैं तथापि नारी

जाति सुलभ शालीनता को छुड़ानेवाली (छोड़ने के लिए विवश करने वाली) ये मेरी दुष्ट मनोव्यथाएँ मुझे बोलने के लिए विवश कर रही हैं ॥२८॥

टिपप्णी—द्रौपदी कितनी बुद्धिमती थी। उसकी भाषण-पटुता देखिए। कितनी विनम्रता से वह अपना अभिप्राय प्रकट करती है। उसके कथन का तात्पर्य यह है कि दुःखी व्यक्ति के लिए अनुचित कर्म भी क्षम्य होता है।

काव्यलिङ्ग और उपमा की संसृष्टि।

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अन्वयः—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डम् धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता ॥२९॥

अर्थ—इन्द्र के समान पराक्रमशाली अपने वंश में उत्पन्न होनेवाले भरत आदि राजाओं द्वारा चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से धारण की हुई इस धरती को तुमने मद चुवाने वाले (मदोन्मत्त) गजराज द्वारा माला की भाँति अपने ही हाथों से (तोड़फोड़ कर) त्याग दिया है ॥२९॥

टिप्पणी—भरत आदि पूर्ववंशजों के महान् पराक्रम की याद दिलाकर द्रौपदी युधिष्ठिर को लज्जित करना चहती है। कहाँ थे वह लोग और कहाँ हो तुम कि इतने बड़े साम्राज्य को अपने ही हाथों से नष्ट कर दिया। अपने ही अवगुणों से यह अनर्थ हुआ है। उपमा अलङ्कार।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अन्वयः—ते मूढधियः पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति । हि शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिताः इषवः इव प्रविश्य घ्नन्ति ॥३०॥

अर्थ—वे मूर्ख बुद्धि के लोग पराजित होते हैं जो (अपने) मायावी (शत्रु) लोगों के साथ मायावी नहीं बनते क्योंकि दुष्ट लोग उस प्रकार के

सीधे-सादे निष्कपट लोगों में, उघाड़े हुए अंगो में तीक्ष्ण बाणों की भाँति प्रवेश करके उनका विनाश कर देते हैं ॥३०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मायावी दुर्योधन को जीतने के लिए तुम को अपनी यह धर्मात्मापने की नीति छोड़नी होगी। तुम्हें भी उसी की तरह मायावी बनना होगा। जिस तरह उघाड़े शरीर में तीक्ष्ण बाण घुस कर अंगों का नाश कर देते हैं, उसी तरह से निष्कपट रहनेवालों के बीच में उसके कपटी शत्रु भी प्रवेश कर लेते हैं और उसका सत्यानाश कर देते हैं।

अर्थान्तरन्यास से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥३१॥

अन्वयः—अनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी त्वदन्यः कः इव नराधिपः गुणानुरक्ताम् कुलजाम् मनोरमाम् आत्मवधूम् इव श्रियम् परैः अपहारयेत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—सब प्रकार के साधनों से युक्त एवं अपने उच्च कुल का अभिमान करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा होगा, जो सन्धि आदि (सौन्दर्य आदि) राजोचित गुणों से (स्त्रियोचित गुणों से) अनुरक्त, वंश परम्परा द्वारा प्राप्त (उच्च कुलोत्पन्न) मन को लुभानेवाली राज्यलक्ष्मी को अपनी पत्नी की भाँति दूसरों से अपहृत करायेगा ॥३१॥

टिप्पणी—स्त्री के अपहरण के समान ही राज्यलक्ष्मी का अपहरण भी मान-हानिकारक है। तुम्हारे समान निर्लज्ज ऐसा कोई दूसरा राजा मेरी दृष्टि में नहीं है, जो अपने देखते हुए अपनी पत्नी की भाँति अपनी राज्यलक्ष्मी को अपहरण करने दे रहा है। मालोपमा अलङ्कार।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव! वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥

अन्वय—नरदेव! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्तमानम् भवन्तम् उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरुम् उच्छिखः अग्निः इव कथं न ज्वलयति ॥३२॥

अर्थ—हे राजन्! ऐसे विपत्ति का समय आ जाने पर भी, वीर पुरुषों के लिए निन्दनीय मार्ग पर खड़े हुए आप को (मेरे द्वारा) बढ़ाया हुआ क्रोध, सूखे हुए शमी वृक्ष को अग्नि की भाँति क्यों नहीं जला रहा है ॥३२॥

टिप्पणी—अर्थात् आप को तो ऐसी विपदावस्था में उद्दीप्त क्रोध से जल उठना चाहिए था। शत्रु द्वारा उपस्थित की गई ऐसी दुर्दशाजनक परिस्थिति में भी आप कायरों की भाँति शान्तचित्त हैं, इसका मुझे आश्चर्य हो रहा है। उपमा अलङ्कार।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अन्वय.—अवन्ध्यकोपस्य आपदा विहन्तुः देहिनः स्वयम् ।एव वश्याः भवन्ति। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरः न, वा विद्विषा दरः न ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिसका क्रोध कभी निष्फल नहीं होता—ऐसे विपत्तियों को दूर करने वाले व्यक्ति के वश में लोग स्वय ही हो जाते हैं (किन्तु) क्रोध से विहीन व्यक्ति के साथ प्रेम भाव पैदा होने से मनुष्य का आदर नहीं होता और न शत्रुता होने से भय ही होता है ॥३३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य में अपने अपकार का बदला चुकाने की क्षमता नहीं होती उसकी मित्रता से न कोई लाभ होता है और न शत्रुता से कोई भय होता है। क्रोध अथवा अमर्ष से विहीन प्राणी नगण्य होता है। मनुष्य को समय पर क्रोध करना चाहिए, और समय पर क्षमा करनी चाहिए।

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषित.।
महारथ. सत्यधनस्य मानस दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदर ॥३४॥

अन्वय —लोहितचन्दनोचित· महारथः रेणुरूषित. पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अयम् वृकोदरः कच्चित् सत्यधनस्य मानसं न दुनोति ॥३४॥

अर्थ—(पहले) लाल चन्दन लगाने के अभ्यस्त, रथ पर चलने वाले (किन्तु सम्प्रति) धूल से भरे हुए पैदल—एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भ्रमण करने वाले यह भीमसेन क्या सत्य परायण (आप) के चित्त को खिन्न नहीं करते हैं ? ॥३४॥

टिप्पणी—'सत्य परायण' यहाँ उलाहने के रूप में उत्तेजना देने के लिए कहा गया है। छोटे भाइयों की दुर्दशा का चित्र खींच कर द्रौपदी युधिष्ठिर को अत्यन्त उत्तेजित करना चाहती है। उसके इस व्यंग्य का तात्पर्य यह है कि ऐसे पराक्रमी भाइयों की ऐसी दुर्गति हो रही है और आप उन मायावियों के साथ ऐसी सत्य परायणता का व्यवहार कर रहे हैं।

परिकर अलंकार।

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

अन्वय—वासवोपमः यः उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यम् वसु अयच्छत्, सः धनञ्जयः अधुना वल्कवासांसि आहरन् तव मन्युं कथं न करोति ॥३५॥

अर्थ—इन्द्र के समान पराक्रमी जिस (अर्जुन) ने सुमेरु के उत्तरवर्ती कुरुप्रदेशों को जीत कर प्रचुर सुवर्ण एवं रजत राशि लाकर आपको दी थी वही अर्जुन अब वल्कलों का वस्त्र धारण कर तुम्हारे हृदय में क्रोध को क्यों नहीं पैदा कर रहा है ! ॥३५॥

टिप्पणी—जिसने जीवन पर्यन्त सुख भोग के लिए पर्याप्त धनराशि अपने पराक्रम से जीत कर आपको दी थी, वही आप के कारण आज वल्कलधारी है, यह देख कर भी आप में क्रोध क्यों नहीं होता—यह आश्चर्य है।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

अन्वयः—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव युवौ यमौ विलोकयन् त्वं धृतिसंयमौ बाधितुं कथं न उत्सहसे ॥३६॥

अर्थ—वन की विषम भूमि में सोने से जिनका शरीर कठोर बन गया है, ऐसे चारों ओर बाल उलझाये हुए, जंगली हाथी की भाँति, इन दोनों जुड़वें भाइयों (नकुल और सहदेव) को देखते हुए, (तुम्हारे) धैर्य और सन्तोष तुम्हें छोड़ने को क्यों नहीं तैयार होते ॥३६॥

टिप्पणी—भीम और अर्जुन की पराक्रम-चर्चा के साथ सौतेली माता के सुकुमार पुत्रों की दुर्दशा की चर्चा भी युधिष्ठिर को और अधिक उत्तेजित करने के लिए की गयी है। इसमें तो उनके धैर्य और सन्तोष की खुले शब्दों में निन्दा भी की गई है कि ऐसा धैर्य और सन्तोष कहीं नहीं देखा गया।

उपमा अलङ्कार।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥३७॥

अन्वयः—अहम् इमाम् तावकीम् धियम् न वेद। चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु। पराम् भवदापदम् विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति ॥३७॥

अर्थ—मैं (इतनी विपत्ति में भी आपको स्थिर रखनेवाली) आपकी बुद्धि को नहीं समझ पाती। मनुष्य-मनुष्य की चित्तवृत्ति अलग-अलग विचित्र होती है। आप की इन भयङ्कर विपत्तियों को (तो) सोचते हुए (भी) मेरे चित्त को मनोव्यथाएँ अत्यन्त व्याकुल कर देती हैं ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् आप जिस विपत्ति को झेल रहे हैं वह तो देखने वालों को भी परेशान कर देती है, किन्तु आप हैं जो बिल्कुल निश्चिन्त और निष्क्रिय हैं। यह परम आश्चर्य है।

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

अन्वय.—यः पुरा महाधनम् शयनम् अधिरूढः स्तुतिगीतिमङ्गलैः विबोध्यते सः अदभ्रदर्भाम् स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्राम् जहासि ॥३८॥

अर्थ—जो आप पहले अत्यन्त मूल्यवान शय्या पर सोकर स्तुति पाठ करनेवाले वैतालिकों के मंगल गान से जगाये जाते थे, वही आप अब कुशों से आकीर्ण वनस्थली में शयन करते हुए अमंगल की सूचना देनेवाली शृगालियों के रुदन शब्दों से निद्रा-त्याग करते हैं ॥३८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि भाइयों की विपदा ही क्यों आप की भी तो दुर्दशा हो रही है। विषम अलङ्कार।

पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

अन्वयः—नृप ! यद् एतद् पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिनः ते तद् वपुः यशसा समम् परम् कार्श्यम् परैति ॥३९॥

अर्थ—हे राजन् ! आपका जो यह शरीर पहले ब्राह्मणों के भोजनादि से शेष अन्न द्वारा परिपोषित होकर मनोहर दिखाई पड़ता था, वही आज जंगली फल-फूलों के भक्षण से, आपके यश के साथ, अत्यन्त दुर्बल हो गया है ॥३९॥

टिप्पणी—अर्थात् न केवल शरीर ही दुर्बल हो गया है, वरन् आपकी कीर्ति भी धूमिल हो गई है। सहोक्ति अलङ्कार।

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अन्वय.—अनारतम् मणिपीठशायिनौ यौ राजशिरःस्रजां रजः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् वनेषु निषीदतः ॥४०॥

अर्थ—सर्वदा मणि के बने हुए सिंहासन पर विश्राम करनेवाले आपके जिन दोनों पैरों को (अभिवादन के लिए झुकने वाले) राजाओं के मस्तक की मालाओं की धूलि रँगती थी, (अब) वही दोनों चरण हरिणों अथवा ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों के वनों में विश्राम पाते हैं ॥४०॥

टिप्पणी—इससे बढ़ कर विपत्ति अब और क्या आयेगी। विषम अलङ्कार।

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

अन्वय.—यद् इयम् दशा द्विषन्निमित्ता तत. मे मन. समूलम् उन्मूलयति व। परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् मानिनाम् पराभवः अपि उत्सव एव ॥४१॥

अर्थ—आप की यह दुर्दशा शत्रु के कारण हुई है, इसलिए मेरा मन त्यन्त क्षुब्ध-सा होता है। (वैसे) शत्रुओं द्वारा जिसके बल एव पराक्रम का रस्कार नहीं हुआ है, ऐसे मनस्वियों का पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता ॥४१॥

टिप्पणी—मानियों की विपदा बुरी नहीं है, उनकी मानहानि बुरी है। वही व से बढ़ कर असहनीय है। उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों की सृष्टि।

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुन. प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

अन्वय.—नृप! शान्तिम् विहाय तद् धाम् विद्विषाम् वधाय पुन. सन्धेहि सीद। निःस्पृहा. मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिम् व्रजन्ति। भूभृतः ॥४२॥

अर्थ—(इसलिए) हे राजन्! शान्ति को त्याग कर आप (अपने) उस ज को शत्रुओं के विनाशार्थ पुनः प्राप्त करें तथा प्रसन्न हों। नि.स्पृह मुनि लोग ही) शत्रुओं (कामादि मनोविकारों) को तिरस्कृत कर के शान्ति के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति करते हैं, राजा लोग नहीं ॥४२॥

टिप्पणी—शान्ति द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षादि पदार्थों की भाँति राज्य-लक्ष्मी शान्ति से नहीं प्राप्त होती, वह वीरभोग्या है। आपको तो अपने शत्रु का विनाश करने वाला तेज पुन धारण करना होगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

पुरःसरा धामवतां यशोधना सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त! हता मनस्विता ॥४३॥

अन्वयः—धामवताम् पुरःसराः यशोधनाः भवादृशाः सुदुःसहम् ईदृशम् निकारम् प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत् हन्त ! मनस्विता निराश्रया हता ॥४३॥

अर्थ—तेजस्वियों में अग्रगामी, यश को सर्वस्व माननेवाले आप जैसे शूरवीर अत्यन्त कठिनाई से सहने योग्य, इस प्रकार से शत्रु द्वारा होने वाले अपमान को प्राप्त करके यदि सन्तोष करते हैं तो हाय ! स्वाभिमानिता बेचारी निराश्रय होकर नष्ट हो गयी ॥४३॥

टिप्पणी—अर्थात् आप जैसे तेजस्वी तथा यश को ही जीवन का उद्देश्य माननेवाला भी यदि शत्रु द्वारा प्राप्त दुर्दशा को सहन करता है तो साधारण मनुष्य के लिए क्या कहा जाय ? अतः पराक्रम करना ही अब आपका धर्म है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अन्वयः—अथ निरस्तविक्रमः चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनम् पर्येषि । लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि ॥४४॥

अर्थ—अथवा (यदि अपनी पूर्व तेजस्विता को नहीं धारण करना चाहते और) अपने पराक्रम का त्याग कर चिरकाल तक शान्ति को ही सुख का कारण मानते हो तो राजचिह्नों से चिह्नित धनुष को फेंककर जटा धारण कर लो और इस तपोवन में अग्नि में हवन करो ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् बलवानों के लिए भी यदि शान्ति ही सुखदायी हो तो विरक्तों की तरह बलवानों को भी धनुष धारण करने से क्या लाभ है ? उसे फेंक देना चाहिए ।

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

अन्वयः—निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणम् न क्षमम् । हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विदधति ॥४५॥

अर्थ—नीचता पर उतारू शत्रुओं के रहते हुए आप जैसे परम तेजस्वी के लिए तेरह वर्ष की अवधि की रक्षा की बात सोचना अनुचित है, क्योंकि विजय के अभिलाषी राजा अपने शत्रुओं के साथ किसी न किसी बहाने से सन्धि आदि को भंग कर ही देते हैं ॥४५॥

टिप्पणी—जो शक्तिमान होते हैं, उनके लिए सर्वदा अपना कार्य करना ही कल्याणकारी है, समय अथवा प्रतिज्ञा की रक्षा कायरों के लिए उचित है। काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सङ्कर। पुष्पिताग्रा छन्द।

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४६॥

अन्वय.—विधिसमयवियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम् दीप्तिसहार-जिह्मम् शिथिलवसुम् रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानम् त्वाम् दिनादौ दिनकृतम् इव लक्ष्मी. भूयः समभ्येतु ॥४६॥

अर्थ—दैव और कालचक्र के कारण अगाध विपत्ति समुद्र में डूबे हुए, प्रताप के नष्ट हो जाने से अप्रसन्न, विनष्ट धन-सम्पत्ति वाले एव शत्रु-रूपी अन्धकार को विनष्ट कर उदित होने वाले आप को प्रातःकाल के (काल-चक्र के कारण पश्चिम समुद्र में निमग्न, प्रकाश एव आतप के नष्ट हो जाने से निस्तेज एवं अन्धकार को दूर कर उदित होने वाले) सूर्य की भाँति राज्यलक्ष्मी (कान्ति) फिर से प्राप्त हो ॥४६॥

टिप्पणी—रात्रि भर पश्चिम के समुद्र में डूबे हुए निस्तेज सूर्य को प्रातः-काल उदित होने पर जिस प्रकार पुनः उसकी कान्ति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार इतने दिनों तक विपत्तियों के अगाध समुद्र में डूबे हुए, निस्तेज एव निर्धन आप को भी आपकी राज्यलक्ष्मी जल्द ही प्राप्त हो—यह मेरी कामना है।

सर्ग का आरम्भ श्री शब्द से हुआ था और उसका अन्त भी लक्ष्मी शब्द से हुआ। मंगलाचरण के लिए ऐसा ही शास्त्रीय विधान है। यह मालिनी छन्द है, जिसका लक्षण है, "ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः।" छन्द मे पूर्णोपमा अलंकार है।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य का प्रथम सर्ग समाप्त ॥१॥

द्वितीय सर्ग

विहितां प्रियया मन.प्रियामथ निश्चित्य गिर गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदर. ॥१॥

अन्वय.—अथ वृकोदर. प्रियया विहिताम् मनःप्रियाम् गिर गरीयसीम् निश्चित्य नृपम् उपपत्तिमद् ऊर्जिताश्रयम् वचनम् ऊचे ॥१॥

अर्थ—द्रौपदी के कथन के अनन्तर भीमसेन प्रियतमा द्रौपदी द्वारा कही गई मन को प्रिय लगने वाली वाणी को अर्थ गौरव से सयुक्त मानकर राजा युधिष्ठिर से युक्तियुक्त एव गम्भीर अर्थों से युक्त वचन (इस प्रकार) बोले ॥१॥

टिप्पणी—द्रौपदी की उत्तेजक बातों से भीम मन ही मन प्रसन्न हुए थे, और उनमें उन्हें अर्थ की गम्भीरता भी मालूम पड़ी थी। अतः उसी का अनुमोदन करने के लिए वह तर्कसगत एव अर्थ-गौरव से युक्त वाणी में आगे स्वय युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हैं। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परित· स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचन तद्विदधीत विस्मयम् ॥२॥

अन्वयः—मानिनी स्नेहमयेन चक्षुषा परितः वीक्ष्य यद् अवोचत वागधिपस्य दुर्वच तद् वचन अपि विस्मय विदधीत ॥२॥

अर्थ—क्षत्रिय कुलोचित स्वाभिमान से भरी द्रौपदी ने स्नेह से पूर्ण नेत्रों से (ज्ञान नेत्रों से) चारों ओर देखकर जो बातें (अभी) कही हैं, बृहस्पति के लिए भी कठिनाई से कहने योग्य उन बातों से सब को विस्मय होगा। अथवा कठिनाई में भी न कहने योग्य उन बातों से बृहस्पति को भी आश्चर्य होगा ॥२॥

टिप्पणी—भीमसेन के कथन का तात्पर्य यह है कि द्रौपदी ने जो कुछ कह है वह यद्यपि स्त्रीजन-सुलभ शालीनता के विरुद्ध होने के कारण विस्मयजनक तथापि उसमें बृहस्पति को भी आश्चर्यचकित करने वाली बुद्धि की बातें हैं, उन आपको अङ्गीकार करना ही उचित है। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥३॥

अन्वय.—विषमः अपि नयः पयसाम् आशयः इव कृततीर्थः विगाह्यते। त तु सः विशेषदुर्लभः यः कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यति ॥३॥

अर्थ—नीतिशास्त्र बड़ा ही दुरूह और गहन विषय है, फिर भी जलाशय की भाँति अभ्यास आदि (सन्तरण आदि) करने से उसमें प्रवेश किया जा सकत है। किन्तु इस प्रसङ्ग में ऐसा व्यक्ति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जो सन्धि विग्रह आदि कार्यों को (स्नानादि कार्यों को) देश काल की परिस्थिति के अनुसार (गड्ढा, पत्थर, ग्राह आदि की जानकारी) प्रस्तुत करता है ॥३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र बड़ा गम्भीर है। यह उस जलाशय के समान है जिसमें बँधे हुए घाट के बिना प्रवेश कर सकना बड़ा दुष्कर है पता नहीं कहाँ उसमें गहरा गड्ढा है, कहाँ शिला खण्ड हैं, कहाँ ग्राह बैठा है राजनीति में भी इसी तरह की गुत्थियाँ रहती हैं, उसमें धीरे-धीरे प्रवेश के अभ्यास द्वारा ही गति की जा सकती है। जैसे कोई विरला ही सरोवर की भीतरी बातों को जानता है और स्नानार्थी को सब सूचनायें देकर स्नान के लिए प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार सन्धि विग्रह आदि कार्यों को जानने वाला कोई विरला ही होता है, जो समय-समय पर उनके उपयोग की आवश्यकता समझाकर राजनीति सिखाने वालों को दक्ष बनाता है। सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते। द्रौपदी ने यह सब कहा है, जो विस्मयजनक है किन्तु यह जो कुछ इस समय कह रही है, उसका हमें पालन करना चाहिए।

उपमा और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि।

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥४॥

अन्वय.—परिणामसुखे गरीयसि क्षतौजसा व्यथके अल्पीयसि अतिवीर्यवति भेषजे इव अस्मिन् वचसि बहु गुणः दृश्यते ॥४॥

अर्थ—परिमाण में लाभदायक और श्रेष्ठ किन्तु क्षीण शक्ति वालों (दुर्बल पाचन शक्ति वालों) के लिए भयङ्कर दु.खदायी, स्वल्प मात्रा में भी अत्यन्त पराक्रम देनेवाली औषधि की भाँति द्रौपदी की (इस) वाणी में अत्यन्त गुण दिखाई पड़ रहे हैं ॥४॥

टिप्पणी—जिस प्रकार उत्तम औषधि की अल्प मात्रा में भी आरोग्य, बल, पोषण आदि अनेक गुण होते हैं, परिणाम लाभदायक होता है, किन्तु, वही क्षीण पाचन शक्ति वालों के लिए भयङ्कर कष्टदायिनी होती है, उसी प्रकार द्रौपदी की यह वाणी भी यद्यपि संक्षित है, किन्तु श्रेष्ठ है। इसका परिणाम उत्तम है, और इसके अनुसार आचरण करने से निश्चय ही आपके ऐश्वर्य एव पराक्रम की वृद्धि होगी। मुझे तो इसमें मानरक्षा, राज्यलक्ष्मी की पुनः प्राप्ति आदि अनेक गुण दिखाई पड़ रहे हैं। उपमा अलङ्कार।

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती।
ननु वक्तृविशेषनि.स्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥५॥

अन्वयः—रुचिरार्था इय भारती इष्टगुणाय भवते अपि रोचताम्। गुणगृह्याः विपश्चितः वचने वक्तृविशेषनिस्पृहा. ननु ॥५॥

अर्थ—सुन्दर अर्थों से युक्त द्रौपदी की यह वाणी गुणग्राही आप के लिए भी रुचिकर होनी चाहिए। क्योंकि गुणों को ग्रहण करनेवाले विद्वान् लोग (किसी) वाणी में वक्ता की स्पृहा नहीं रखते ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् गुणग्राही लोग किसी भी बात की अच्छाई को तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं, वे यह नहीं देखते कि उसका वक्ता कोई पुरुष है या स्त्री है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरूढिमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥६॥

अन्वयः—नृप ! चतसृषु विद्यासु निरूढिम् आगता विवेकिनी ते मतिः करिणी पङ्कम् इव विपर्ययम् एत्य कथम् अवसीदति ॥६॥

अर्थ—हे राजन् ! आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओं में प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाली आपकी विवेकशील बुद्धि, दलदल में फँसी हुई हथिनी की भाँति विपरीत अवस्था को प्राप्त करके क्यों विनष्ट हो रही है ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् जैसे हथिनी दलदल में फँस कर विनष्ट हो जाती है उसी प्रकार चारों विद्याओं में निपुण आपकी बुद्धि भी आज की विपरीत परिस्थिति में फँसकर क्यों नष्ट हो रही है ? उपमा अलङ्कार ॥६॥

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥७॥

अन्वयः—त्वयि परैः इमाम् अवगीताम् दशाम् गमिते सुरैः अपि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् अवसीदति यद् अतः परं किं विधुरम् ॥७॥

अर्थ—शत्रुओं द्वारा आप के इस दयनीय अवस्था में पहुँचाए जाने पर, देवताओं द्वारा भी प्रशंसित आप का जो पुरुषार्थ नष्ट हो रहा है, उससे बढ़कर कष्ट देनेवाली दूसरी बात (भला) क्या होगी ? ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् आपके जिस ऐश्वर्य एवं पराक्रम की प्रशंसा देवता लोग भी करते थे, वह नष्ट हो गया है, अतः इससे बढ़कर कष्ट की क्या बात होगी। शत्रुओं ने आपको ऐसी दुर्दशाजनक स्थिति में पहुँचा दिया है, इसका आप को बोध नहीं हो रहा है।

काव्यलिंग अथवा अर्थापत्ति अलङ्कार।

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥८॥

अन्वयः—भूतिम् इच्छता सुमेधसा द्विषताम् गुरुः अस्वन्ततरः उदयः सुम-
: । महान् अपि फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः न ॥८॥

अर्थ—ऐश्वर्य की कामना करने वाले बुद्धिमान लोग अपने शत्रुओं के
न (किन्तु) विनाशोन्मुख अभ्युदय को सुखपूर्वक सहन कर लेते हैं किन्तु
के उस महान विनाश को वे सुखपूर्वक नहीं सहन करते, जो फलोन्मुख
था अभ्युदय की ओर अग्रसर होता है ॥८॥

टिप्पणी—शत्रु का क्षयोन्मुख उत्कर्ष सह्य है किन्तु अभ्युदयोन्मुख विनाश
नहीं है। अर्थात् किसी भी स्थिति में शत्रु के अभ्युदय की स्थिति
ना कल्याण चाहने वाले को सहन नहीं करनी चाहिये। काव्यलिंग
लङ्कार।

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥९॥

अन्वयः—कृती परस्य क्षययुक्तिम् अचिरेण भूयसीम् आत्मनः च विपरीतां
गणय्य उपेक्षते। अन्यथा तत्प्रतिकारं कुरुते ॥९॥

अर्थ—विचारशील बुद्धिमान् लोग शत्रु के अधिक परिमाण में और
घ्र होने वाले विनाश को, तथा अपने थोड़े परिमाण में और अधिक समय
होने वाले विनाश को देख कर उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु यदि
सके विपरीत देखते हैं तो उसका (तुरन्त) प्रतिकार करते हैं ॥९॥

टिप्पणी—शत्रु की शीघ्र होनेवाली बड़ी हानि तथा अपनी देर में होने
ली छोटी हानि की उपेक्षा की जा सकती है किन्तु यदि शत्रु की देर में होने
ली थोड़ी हानि है और अपनी शीघ्र होनेवाली भीषण हानि है तो उसको दूर
रने का उपाय वे तत्क्षण करते हैं। पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार।

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥१०॥

अन्वयः—उदेष्यतीम् द्विषताम् प्रभुशक्तिम् अनीहया अनुपालयताम् महीभुजाम् श्रियः जननिर्वादभयाद् इव अचिराद् अपयान्ति ॥१०॥

अर्थ—बढ़ती हुई शत्रु की शक्ति को अनुत्साह के साथ उपेक्षा करनेवाले राजाओं की राज्यलक्ष्मी मानों लोकनिन्दा के भय से शीघ्र ही दूर हो जाती है ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जो राजा अपने शत्रु के वर्द्धमान पराक्रम और ऐश्वर्य की उपेक्षा करता है और आलसी बना बैठा रहता है, उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं करता, उसकी राज्यश्री चौपट हो जाती है और उसकी लोकनिन्दा भी खूब होती है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥११॥

अन्वयः—क्षययुक्तम् अपि स्वभावजं शिवं धाम दधतम् समृद्धये उत्थितम् अनपायम् नृपम् प्रतिपच्चन्द्रम् इव प्रजाः प्रणमन्ति ॥११॥

अर्थ—क्षीणशक्ति होने पर भी सहज सर्वजनानन्ददायी तेज को धारण करने वाले, अपनी वृद्धि के लिए प्रयत्नशील अविनाशित राजा को प्रजाएँ (स्वल्प कला से युक्त, स्वाभाविक जनाह्लादकारी तेज को धारण करने वाले, उत्तरोत्तर उन्नति के लिए उठने वाले, उदीयमान) द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति नमस्कार करती हैं ॥११॥

टिप्पणी—यहाँ प्रतिपद से द्वितीया का तात्पर्य लिया गया है। क्षीण व्यक्ति का भी उत्साह कार्यसिद्धि की सूचना देता है जब कि समृद्ध और सम्पन्न व्यक्ति का आलस्य और प्रमाद उसके भावी विनाश की सूचना देता है।
उपमा अलङ्कार।

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥१२॥

अन्वयः—कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः नयः कोशदण्डयोः प्रभवः खलु। स विधेयपदेषु दक्षताम् लोकः नियतिम् इव अनुरुध्यते ॥१२॥

अर्थ—सहायता आदि सिद्धि के पाँचों उपायों का आश्रय लेकर प्रवर्तित राजनीति (राजा के) कोश और चतुरंग सेना की वृद्धि का कारण होती है। और वही राजनीति अवश्य करने योग्य कार्यों में, उत्साह की उसी प्रकार से अपेक्षा रखती है जैसे लोग कृषि आदि सभी कार्यों में भाग्य की अपेक्षा रखते हैं॥ १२ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि राजनीति को भी उत्साह की ही आवश्यकता होती है। निरुत्साही व्यक्ति राजनीति में भी कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता। "सहाया. साधनोपायाः विभागो देशकालयोः। विनिपातप्रतीकार. सिद्धिः पञ्चाग-मिष्यते।" अर्थात् मित्र राजाओं की सहायता, अपने कार्यों के सिद्ध करने के उपाय, देश और काल के अनुसार उपायों का अवलम्बन, पराजय अथवा शत्रु द्वारा प्रस्तुत विपत्ति से बचने का उपाय तथा शत्रु पर विजय प्राप्ति—ये पाँच राजनीति के अग हैं और इन्हीं के अनुष्ठान से राजा के कोश और सेना की वृद्धि होती है। उपमा अलङ्कार।

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्त्तनक्षम मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥१३॥

अन्वयः—अभिमानवतः प्रियम् उच्चैः पदम् आरुरुक्षतः मनस्विनः आत्म-पौरुषम् विनिपातनिवर्त्तनक्षमम् आलम्बनम् मतम् ॥१३॥

अर्थ—स्वाभिमानी और अपने अभिमत उच्च पद पर आरूढ़ होने की इच्छा करनेवाले मनस्वी का अपना पुरुषार्थ ही आपत्तियों से बचाने का दृढ़ सहारा माना गया है॥१३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जो उन्नति चाहता है उसे चाहिए कि अपने निज के पुरुषार्थ पर निर्भर करे। पुरुषार्थी को अपने पौरुष के सिवा किसी दूसरे पर भरोसा करना ही नहीं चाहिये। अर्थापत्ति अलङ्कार।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥१४॥

अन्वयः—विपदः अविक्रमम् अभिभवन्ति । आपदुपेतम् आयतिः रहयति । निरायतेः लघुता नियता अगरीयान् नृपश्रियः पदं न ॥१४॥

अर्थ—विपत्तियाँ पुरुषार्थहीन व्यक्ति को आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों में ग्रस्त व्यक्ति की भावी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है, उसका भविष्य उसे छोड़ देता है। फिर ऐसा हो जाने पर उसकी प्रतिष्ठा नष्ट होना निश्चित है। और अप्रतिष्ठित अथवा लघु लोग राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं कर सकते ॥१४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का एक मात्र कारण पुरुषार्थ ही है। जो पुरुषार्थ से हीन होता है, वही धीरे-धीरे अप्रतिष्ठित अथवा लघु बनकर राज्यश्री का पात्र नहीं रह जाता। कारणमाला अलङ्कार।

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥१५॥

अन्वयः—तद् उन्नतेः प्रतिपक्षम् व्यवसायवन्ध्यताम् अवलम्ब्य अलम् । पराक्रमाश्रया समृद्धयः विषादेन समं न निवसन्ति ॥१५॥

अर्थ—अतएव अपने अभ्युदय में बाधा डालने वाली इस निरुत्साहिता को अब बस (समाप्त) कीजिए। क्योंकि पुरुषार्थ अथवा पराक्रम में निवास करने वाली समृद्धियाँ (कभी) निरुत्साहिता के साथ नहीं रहतीं ॥१५॥

टिप्पणी—पुरुषार्थ और निरुत्साहिता—ये दोनों एक साथ रह नहीं सकते अतः पुरुषार्थसाध्या लक्ष्मी निरुत्साही के साथ क्यों रहेगी। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥१६॥

अन्वयः—अथ अवधिः प्रतीक्ष्यते चेत् आविष्कृतजिह्मवृत्तिना धृतराष्ट्रसुतेन नरेन्द्रसम्पदः चिरम् आस्वाद्य कथं सुत्यजाः ॥ १६ ॥

अर्थ—अब यदि आप अवधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो (यह सोचने की बात है कि) जिसने अब तक अपने अनेक छल-कपटपूर्ण कार्यों का परिचय दिया है, वह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन, चिरकाल तक राज्यश्री का सुख अनुभव करके उसे आसानी से कैसे छोड़ देगा ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस कुटिल दुर्योधन ने अधिकार होते हुए भी हमारे भाग को हड़प लिया है वह इतने दिनों तक उसका उपभोग करके हमारी वनवास की अवधि बीतने के अनन्तर उसे सुख से लौटा देगा—ऐसा समझना भूल है। आप को इसी समय जो कुछ करना है, करना चाहिए। अर्थापत्ति अलंकार

द्विषता विहित त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ! तवानुजन्मना कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥१७॥

अन्वयः—अथवा जननाथ! द्विषता विहितम् आत्मनः पद पुनः त्वया लब्धा यदि तव अनुजन्मनाम् आविष्कृतपौरुषैः भुजैः कृतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—अथवा हे राजन्! शत्रु दुर्योधन द्वारा लौटाये गये अपने राज्य सिंहासन को यदि आप पुनः प्राप्त कर लेंगे तब आपके छोटे भाइयों (अर्जुन आदि) की उन भुजाओं से फिर लाभ क्या होगा, जिनका पराक्रम अनेक बार प्रकट हो चुका है ॥१७॥

टिप्पणी—शत्रु की कृपा द्वारा यदि आपको सिंहासन मिल भी जाता है तब हमारी भुजाओं का पराक्रम व्यर्थ ही रह जायगा। अर्थापत्ति अथवा परिकर अलकार।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिप. करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥१८॥

अन्वय.—मृगाधिप. मदसिक्तमुखै. स्वय हतै. करिभि. वर्त्तयते। तेजसा

अर्थ—सिंह अपने द्वारा मारे गये मुख भाग से मद चूने वाले हाथियों से ही अपनी जीविका निर्वाहित करता है। अपने तेज से संसार को पराजित करने वाला महान् पुरुष किसी अन्य की सहायता से ऐश्वर्य की अभिलाषा नहीं किया करता ॥१८॥

टिप्पणी—तेजस्वी पुरुष किसी दूसरे द्वारा दी गई जीविका नहीं ग्रहण करते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥१९॥

अन्वय.—अभिमानधनस्य गत्वरैः असुभिः स्थास्नु यशः चिचीषतः अचिरांशुविलासचञ्चला लक्ष्मीः आनुषङ्गिकं फलं ननु ॥१९॥

अर्थ—अपनी जाति, कुल और मर्यादा की रक्षा को ही अपना सर्वस्व समझने वाले (पुरुष) अपने अस्थिर (नाशवान) प्राणों के द्वारा स्थिर यश की कामना करते हैं। इस प्रसङ्ग में (उन्हें) बिजली की चमक के समान चञ्चला (क्षणिक) राज्यश्री (यदि प्राप्त हो जाती है तो वह) अनायास ही प्राप्त होने वाला फल है ॥१९॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मनस्वी पुरुष केवल यश के लिए अपने प्राण गँवाते हैं, धन के लिए नहीं। क्योंकि यश स्थिर है और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चञ्चला है। उन्हें लक्ष्मी की प्राप्ति भी होती है, किन्तु उनका उद्देश्य यह नहीं होता। उसकी प्राप्ति तो अनायास ही हो जाती है। परिवृत्ति अलङ्कार।

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥२०॥

अन्वय.—जनः भस्मनां चयम् आस्कन्दति ज्वलितं हिरण्यरेतसं न। अतः अभिभूतिभयात् असून् सुखम् उज्झन्ति धाम न ॥२०॥

अर्थ—मनुष्य राख की ढेर को तो अपने पैरों आदि से कुचल देते हैं किन्तु जलती हुई आग को नहीं कुचलते। इसी कारण से मनस्वी लोग अपने प्राणों

को तो सुख के साथ छोड़ देते हैं किन्तु अपनी तेजस्विता अथवा मान-मर्यादा को नहीं छोड़ते ॥२०॥

टिप्पणी—मानहानिपूर्ण जीवन से अपनी तेजस्विता के साथ मर जाना ही अच्छा है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनत प्रार्थयते मृगाधिप ।
प्रकृतिः खलु सा महीयस. सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥२१॥

अन्वय.—मृगाधिपः किं फलम् अपेक्ष्य ध्वनत. पयोधरान् प्रार्थयते। महीयसः सा प्रकृतिः खलु यया अन्यसमुन्नतिम् न सहते ॥२१॥

अर्थ—(भला) सिंह किस फल की आशा से गरजते हुए बादलों पर आक्रमण करता है। मनस्वी लोगों का यह स्वभाव ही है कि जिसके कारण से वे दूसरों की अभ्युन्नति को सहन नहीं करते ॥२१॥

टिप्पणी—अपने उत्कर्ष के इच्छुक मनस्वी लोग दूसरों की वृद्धि या अभ्युन्नति को सहन भी नहीं कर सकते। मनस्वियों का यही पुरुषार्थ है कि वे दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर अपनी कीर्ति बढ़ायें। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तय. ॥२२॥

अन्वय.—नृप ! तत् प्रमादजं तमः निर्धूय विक्रमे मतिं कुरु। विद्विषां विपत्तयः त्वदनुत्साहहता. एतद् ध्रुवम् अवेहि ॥२२॥

अर्थ—हे राजन् ! इसलिए आप अपनी असावधानी से उत्पन्न मोह को दूर कर पुरुषार्थ में ही अपनी बुद्धि लगाइए। (दूसरा कोई उपाय नहीं है।) शत्रुओं की विपत्तियाँ केवल आपके अनुत्साह के कारण से रुकी हुई हैं—यह निश्चय जानिए ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् यदि आप तनिक भी पुरुषार्थ और उत्साह धारण कर लेंगे तो शत्रु विपत्तियों में निमग्न हो जायेंगे। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ॥२३॥

अन्वय.—दिग्विभावितान् आयत. चतुरः द्विरदान् इव, तोयनिधीन् इव रणे शतमन्युतेजसः तव अनुजान् द्विषता कः प्रसहेत? ॥२३॥

अर्थ—सभी दिशाओं मे सुप्रसिद्ध, आते हुए चारों दिग्गजों अथवा समुद्रों की भाँति, रणभूमि में आते हुए इन्द्र के समान पराक्रमशाली आप के कनिष्ट (चारों) भाइयों को शत्रुओं में से कौन सहन कर सकता है? ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् ऐसे परम पराक्रमशील एव तेजस्वी भाइयों के रहते हुए आप किस बात की चिन्ता कर रहे हैं। आप को निःशङ्क होकर दुर्योधन से भिड़ जाना चाहिए। उपमा तथा अर्थापत्ति अलकार की ससृष्टि।

ज्वलतस्तव जातवेदस सततं वैरिकृतस्य चेतसि।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति. ॥२४॥

अन्वय —तव चेतसि वैरिकृतस्य सतत ज्वलतः जातवेदस. शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति शम विदधातु ॥२४॥

अर्थ—आप के हृदय में शत्रुओं के कारण उत्पन्न एव निरन्तर जलती हुई अमर्ष की अग्नि को अमगलकारिणी शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्रों से बहने वाली आँसुओं की धाराएँ शान्त करें ॥२४॥

टिप्पणी—आप के शत्रु मारे जायँ और उनकी विधवा स्त्रियाँ दुःख के कारण खूब रुदन करें, जिससे आप के हृदय में जलती हुई अमर्ष की अग्नि शान्त हो। अतिशयोक्ति अलकार तथा गम्योपमा का संकर।

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुत. कोपपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥२५॥

अन्वय —इति दर्शितविक्रियं कोपपरीतमानसं मरुत सुतम् महीपतिः दुष्ट द्विरदम् इव उपसान्त्वयितुम् उपचक्रमे ॥२५॥

अर्थ—उपर्युक्त रीति से अपने अमर्ष की सूचना देने वाले क्रोध से आक्रान्त हृदय वायुपुत्र भीमसेन को राजा युधिष्ठिरने (मानसिक विकार की सूचना देने वाले तथा क्रोध से आक्रान्त) दुष्ट हाथी की तरह वश में करने का उपक्रम किया ॥२५॥

टिप्पणी—राजा को अपने अप्रसन्न बन्धु-बान्धवों को मृदु वचन द्वारा बिगड़े हुए हाथी की तरह अपने वश में करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चहिए—यह नीति की बात है। पूर्णोपमा अलङ्कार।

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥२६॥

अन्वय.—अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे आदर्शे इव तव गिरा विस्तरे विमला मतिः अभिदृश्यते ॥२६॥

अर्थ—(युधिष्ठिर ने कहा)—ऊपरी मैल से युक्त होने के कारण निर्मल, लोहशुद्धि से सुनिर्मित, मनोरम मंगलदाई दर्पण में स्वरूप की भाँति, तर्क एवं प्रमाणों से युक्त, सुन्दर शब्दों से समलकृत हृदयगाही एव मंगलकारी तुम्हारी बातों के विस्तार मे तुम्हारी निर्मल बुद्धि दिखाई पड़ रही है ॥२६॥

टिप्पणी—वचन की विशदता में ही बुद्धि का वैशद्य भी दिखाई पड़ता है। उपमा अलङ्कार।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥२७॥
उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः।
इदमीदृगनीदृगाशय प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२८॥

अन्वय —पदै. स्फुटता न अपाकृता। अर्थगौरव च न। स्वीकृतम् न। गिरा पृथगर्थता रचिता। क्वचित् सामर्थ्यं न अपोहितम्। बलाद् उपपत्ति. उदाहृता। अनुमानेन आगम· च न क्षतः ईदृग् इदम् अनीदृगाशय कः प्रसभ वक्तुम् उपक्रमेत ॥२७-२८॥

अर्थ—तुम्हारी बातों में पदों के द्वारा विशद अर्थ की स्पष्टता कहीं छिपी नहीं है, अर्थ की गभीरता कहीं अस्वीकृत नहीं हुई है, पदों तथा वाक्यों पूर्वापर का सम्बन्ध सुन्दर हुआ है अर्थात् अप्रासंगिक बातें नहीं आने प हैं तथा कहीं भी वाणी की समर्थता अप्रकट नहीं है। बुद्धि बल तथा त से वह परिपूर्ण है। युक्तियों अथवा तर्कों से शास्त्रों का कहीं विरोध नहीं है इस प्रकार तुम्हारी यह बातें तुम्हारे क्षात्र-धर्म के सर्वथा योग्य हैं। इस प्रकार क क्षात्रधर्म के पक्षपाती जो लोग नहीं हैं, वे इस प्रकार की बातें कहने का सा भी नहीं कर सकते। (कहना तो दूर की बात है।) ॥२७-२८॥

टिप्पणी—युधिष्ठिर भीम को प्रसन्न करने के लिए पहले उनके भाष चातुर्य की प्रशंसा करते हैं। अच्छे वक्ता में जो-जो विशेषताएँ होनी चाहि कवि ने इस संक्षेप संवाद में उन सब को रख दिया है। पूर्व छन्द में दी तथा पर छन्द में अर्थापत्ति अलंकार हैं।

अवितृप्ततया तथाऽपि मे हृदयं निर्णयमेव धावति।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥२९॥

अन्वयः—तथाऽपि अवितृप्ततया मे हृदयम् निर्णयम् एव धावति। विधे विशेषसम्पदः सुखम् अवसाययितुं न क्षमाः ॥२९॥

अर्थ—(यद्यपि तुमने सभी बातों का अच्छी तरह निर्णय कर दिया तथापि संशयग्रस्त होने के कारण मेरा हृदय अभी तक निर्णय का विचार ही रहा है। सन्धि-विग्रह आदि कर्त्तव्यों के निर्णय में, उनके भीतर आनेवा विशेष सम्पत्तियाँ अनायास ही अपना स्वरूप प्रकट करने में समर्थ न होतीं ॥२९॥

टिप्पणी—कुछ कार्य करने का निश्चय करने के पहले उस कार्य भीतर आने वाली छोटी-मोटी बातों का भी गहराई से विचार कर ले चाहिए, क्योंकि वे सब सरलतापूर्वक समझ में नहीं आतीं। काव्यलिङ्ग अ हुआ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा: स्वयमेव सम्पदः ॥३०॥

अन्वयः—क्रिया सहसा न विदधीत । अविवेकः आपदा परम् पदम् । हि गुणलुब्धा. सम्पदः विमृश्यकारिण स्वयम् एव वृणते ॥३०॥

अर्थ—बिना सोच-विचार किये एकाएक किसी कार्य को आरम्भ नहीं करना चाहिए। अविचार विपत्तियों का प्रमुख स्थान है, क्योंकि गुणों पर अपने आप को समर्पण करनेवाली सम्पत्तियाँ विचारशील पुरुष को स्वयमेव वरण करती हैं ॥३०॥

टिप्पणी—बिना अच्छी तरह विचार किये किसी कार्य को आरम्भ कर देना विपत्तियों को निमन्त्रण देना है। अतः हमें भी अच्छी तरह विचार करके ही अपना कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित करना चाहिये । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥३१॥

अन्वय.—यः विधिबीजानि विवेकवारिणा अनुपालयन् अभिवर्षति सः लोकः फलशालिनीम् शरदम् इव क्रियाम् सदा अधितिष्ठति ॥३१॥

अर्थ—जो कर्तव्य-कर्म रूपी बीज को अपने विवेक-रूपी जल से (फल की) प्रतीक्षा करते हुए भली भाँति सींचता है, वह मनुष्य फलों (पके अन्नों) की शोभा से समलङ्कृत शरद् ऋतु की भाँति, (फलसिद्धि से समन्वित अपने) कर्म को सदा प्राप्त करता है।।३१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आरम्भ में बोए गए अन्न से शरद् ऋतु में कृषकों को प्रचुर अन्नराशि मिलती है, उसी प्रकार विचारपूर्वक आरम्भ किए गए कर्म से भी यथासमय सफलता प्राप्त होती है। एकाएक कार्य आरम्भ करनेवालों को कभी-कभी ही सफलता प्राप्त होती है, किन्तु विचारशीलों के लिए तो वह निश्चित ही है। श्लेषमूलातिशयोक्ति और उसी के द्वारा उत्थापित उपमा अलंकार की संसृष्टि ।

शुचि भूषयति श्रुत वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रम. स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥३२॥

अन्वयः—शुचि श्रुतं वपु. भूषयति प्रशमः तस्य अलक्रिया भवति । पराक्रम. प्रशमाभरणम् । स. नयापादितसिद्धिभूषणः ॥३२॥

अर्थ—गुरु-सम्प्रदाय से पवित्र शास्त्रों का श्रवण अथवा अभ्यास शरीर को सुशोभित करता है। क्रोध की शांति करना उस शास्त्रज्ञान का अलङ्करण करना है। पराक्रम अथवा ऐश्वर्य उस क्रोध-शक्ति को शोभा देनेवाला है और वह पराक्रम नीतिपूर्वक सम्पन्न की गयी सफलता का आभूषण है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—एकावली अलकार ।

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥३३॥

अन्वय.—मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिना सुकृत. परिशुद्धः आगम' दीप. इव अर्थदर्शनम् कुरुते ॥३३॥

अर्थ—(कार्य की सफलता के सम्बन्ध में उत्पन्न) बुद्धि भेद-रूपी अन्धकार से आच्छादित होने के कारण दुर्गम कार्य-निष्पत्ति में विवेकी पुरुषों का भली भांति अभ्यस्त एवं निश्चित शास्त्रज्ञान (सुशोभित एवं वायु आदि के झकोरों से रहित) दीपक की भाँति कर्तव्य-पथ को अवलोकन कराता है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—जिस प्रकार अँधेरे पथ को वायु आदि के विघ्नों से रहित दीपक आलोकित करता है उसी प्रकार से विवेकी पुरुष का शास्त्रज्ञान भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के व्यामोह में पड़े व्यक्ति का पथ प्रदर्शन करता है। पूर्णोपमा अलङ्कार ।

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मन. ।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नते ॥३४॥

अन्वयः—स्पृहणीयगुणैः महात्मभिः चरिते वर्त्मनि मनः यच्छताम्। विधिहेतुः आगसाम् अहेतुः विनिपातः अपि समुन्नतेः समः ॥३४॥

अर्थ—प्रशंसनीय गुणों से सुशोभित महापुरुषों द्वारा आचरित (अंगीकृत) पथ पर मन लगाने वाले व्यक्तियों की, उनके अपराधों के कारण नहीं, प्रत्युत दैव द्वारा पैदा की गई असफलता भी उनकी उन्नति के समान ही होती है ॥३४॥

टिप्पणी—दैव द्वारा असफलता प्राप्त होने पर पुरुषार्थी को उलाहना नहीं दिया जा सकता। समालङ्कार।

शिवमौपयिकं गरीयसी फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥३५॥

अन्वय.—जिगीषवः विजितक्रोधरया. अदूषितायतिम् गरीयसीम् फलनिष्पत्तिम् विगणय्य पौरुषम् शिवम् औपयिकम् नयन्ति ॥३५॥

अर्थ—विजयाभिलाषी पुरुष अपने क्रोधावेश को वश में करके, उत्तर काल में सुख देनेवाली गौरवपूर्ण कार्यसिद्धि को ध्यान में रखकर पुरुषार्थ को अनुकूल अथवा कल्याणदायी उपायों से समन्वित करते हैं ॥३५॥

टिप्पणी—अर्थात् विजयाभिलाषी राजा क्रोध का त्याग कर अपने पुरुषार्थ को अच्छे-अच्छे उपायों से संयुक्त करते हैं, क्योंकि निश्चित फलवाले कार्य स्वयमेव प्रसिद्धि के कारण बनते हैं। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ॥३६॥

अन्वयः—उदेतुम् इच्छता रोषमय तिमिरम् धिया पुरः अपनेयम्। अंशुमता अपि प्रभया निशाकृत तम अविभिद्य न उदीयते ॥३६॥

अर्थ—अभ्युदय के इच्छुक पुरुष को अपने क्रोध से उत्पन्न अन्धकार को अपनी सद्बुद्धि द्वारा दूर करना चाहिये। क्योंकि भगवान् भास्कर भी अपनी कांति से रात्रि के अन्धकार को बिना दूर किये उदित नहीं होते ॥३६॥

टिप्पणी—जब परम तेजस्वी भास्कर भी ऐसा करते हैं तब साधारण मनुष्य को तो ऐसा करना ही चाहिये। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवी: कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥३७॥

अन्वयः—बलवान् अपि यः कोपजन्मनः तमसः अभिभवं न रुणद्धि सः क्षयपक्षः ऐन्दवीः कला इव सकलाः शक्तिसम्पदः हन्ति ॥३७॥

अर्थ—शूरवीर होकर भी जो मनुष्य अपने क्रोध से उत्पन्न अज्ञान-अन्धकार के आक्रमण को नहीं रोकता वह कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कला की भाँति अपनी समस्त शक्ति-सम्पत्ति (तीनों शक्तियों से समन्वित सम्पत्ति) को विनष्ट करता है ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् क्रोधान्ध व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्ति व्यर्थ होती है। उपमा अलंकार।

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥३८॥

अन्वयः—यः समवृत्तिः समये मार्दवम् उपैति तिग्मतां च तनोति सः मेदिनीपतिः विवस्वान् इव ओजसा, लोकम् अधितिष्ठति ॥३८॥

अर्थ—जो (राजा) समान भाव से (न तो अत्यन्त क्रोध से, न अत्यन्त मृदुलता से) समय आने पर मृदुता (शान्ति) धारण करता है तथा (समय आने पर) तीक्ष्ण होता है वह राजा सूर्य की भाँति अपने तेज से सम्पूर्ण भूमण्डल पर आधिपत्य जमाता है ॥३८॥

टिप्पणी—उचित समय पर मृदुता तथा तीक्ष्णता धारण करने वाला मनुष्य सूर्य की भाँति अपने तेज से सब को वशवर्ती बनाता है। दीपक अलंकार से उपमा की पुष्टि।

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥३९॥

अन्वयः—श्रिया चिराय परिग्रहः क ? दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता च क ? हि शरदभ्रचलाः बहुच्छलाः श्रियः चलेन्द्रियैः असुरक्षाः ॥३६॥

अर्थ—कहाँ लक्ष्मी को चिरकाल तक अपने वश में रखना और कहाँ दुष्ट घोड़ों की भाँति कुमार्ग पर दौड़ने वाली इन्द्रियों की वशवर्तिता ? (दोनों की एक स्थान पर स्थिति असभव है, क्योंकि) शरदृतु के बादलों की भाँति चचल एव अनेक छल-प्रपचों से पूर्ण लक्ष्मी चञ्चल इन्द्रियों द्वारा सुरक्षित नहीं रखी जा सकती ॥३६॥

टिप्पणी—अर्थात् किसी प्रकार से एक बार प्राप्त की गई लक्ष्मी चचल इन्द्रिय वालों के वश में चिरकाल तक नही ठहर सकती। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार।

किमसामयिक वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरहसः।
क्रियते पतिरुच्चकैरपा भवता धीरतयाऽधरीकृत ॥४०॥

अन्वय.—उपात्तरहस. मनसः असामयिक क्षोभ वितन्वता भवता धीरतया अधरीकृतः अपा पति किम् उच्चकै क्रियते ॥४०॥

अर्थ—वेगयुक्त मन के असामयिक क्षोम का विस्तार करते हुए तुम धीरता में पराजित किये गए समुद्र को (अब) किसलिए ऊँचा बना रहे हो ? ॥४०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह हे कि तुम तो समुद्र से भी बढ़कर धीर-गमीर थे, फिर क्यों आज वेगयुक्त मन की चचलता को बढ़ा रहे हो। धैर्य में तुमसे पराजित समुद्र भी क्षोभ में अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता और तुम अपनी मर्यादा छोड़ कर उसे अपने से ऊँचा बना रहे हो। अपने से पराजित को कोई भी ऊँचा नहीं बनाना चाहता। पदार्थहेतुक काव्यलिग अलकार।

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मन।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥४१॥

अन्वयः—ये श्रुतम् अधिगम्य अपि शरीरजन्मनः रिपून न विनयन्ते ते खलु अचिराय सम्पदा चापलाश्रयम अयश. जनयन्ति ॥४१॥

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्रज्ञान प्राप्त करके भी अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं को नहीं पराजित करते, वे निश्चय ही बहुत शीघ्र सम्पत्तियों की चञ्चलता से उत्पन्न अपकीर्ति के भागी होते हैं ॥४१॥

टिप्पणी—जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर–इन छहों शरीरज शत्रुओं को वश में नहीं रख सकते उन्हें विजयश्री की अकीर्तिकरी अस्थिरता ही प्राप्त होती है। काव्यलिंग अलकार।

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥४२॥

अन्वयः—अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी अक्षमा भवन्तं जनवद् नयसिद्धेः अपनेतुम् न अर्हति ॥४२॥

अर्थ—उपयुक्त समय और साधनों का अतिक्रमण करने वाली तथा अपने ही शरीर तथा इन्द्रियों को कष्ट देनेवाली असहिष्णुता आप को साधारण मनुष्य की भाँति न्याय द्वारा प्राप्त होनेवाली सफलता से पृथक् करने में उचित नहीं प्रतीत होती ॥४२॥

टिप्पणी—बिना समय का क्रोध अपने ही शरीर और इन्द्रियों को सन्ताप देने के अतिरिक्त कुछ दूसरा परिणाम नहीं देता। उपमा अलकार।

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥४३॥

अन्वयः—आयतेः भृशम् उपकारकम् भूरिणः कर्मफलस्य प्रसवः अनपायि तितिक्षासमम् द्विषां निबर्हणं साधनं न अस्ति ॥४३॥

अर्थ—परवर्ती काल में अत्यन्त उपकारी तथा प्रचुर मात्रा में कर्मफल को देनेवाली, स्वयं कभी विनष्ट न होनेवाली क्षमा के समान शत्रुओं का विनाश करनेवाला कोई दूसरा साधन नहीं है ॥४३॥

टिप्पणी—अर्थात् क्षमा सबसे बड़ी अभीष्टसाधिका है। लुप्तोपमा तथा व्यतिरेक अलंकार।

[यदि तुम्हें यह सन्देह है कि क्षमापूर्वक कालयापन करने से दुर्योधन सभी राजाओं को अपने वश में कर लेगा तो ऐसा भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि—]

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥४४॥

अन्वयः—सहजस्नेहनिबद्धचेतसः मानभृता प्रथमे वृष्णय' प्रणतिप्रवणान् न. विहाय सुयोधन सदा न प्रणमन्ति ॥४४॥

अर्थ—स्वाभाविक प्रेम से बँधे हुए, अभिमानियों के प्रमुख यदुवशी लोग प्रणाम करने वाले हम लोगों को छोड़कर दुर्योधन को सर्वदा प्रणाम नहीं करते हैं ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् दुर्योधन तो उन यदुवशियों से भी बढ़ कर अभिमानी है, इसलिए ये यदुवशी लोग जितना विनम्र रहने के कारण हम लोगों से स्वाभाविक प्रेम करते हैं, उतना दुर्योधन से नहीं। अतः जब कभी अवसर लगेगा वे हमारी सहायता करेंगे, दुर्योधन को छोड़ देंगे। काव्यलिंग अलकार।

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥३५॥

अन्वय.—एषा ये सहजाः सुहृदः तथा इतरे च मतं न विलङ्घयन्ति। ते आत्मसिद्धये धृतराष्ट्रात्मज विनयाद् इव यापयन्ति ॥४५॥

अर्थ—यही नहीं, इन यदुवशियों के जो सहज मित्र हैं, तथा जो कृत्रिम मित्र हैं, वे इनकी (यदुवंशियों की) इच्छा का उल्लघन नहीं करते। वे दोनों प्रकार के लोग तो अपने-अपने स्वार्थों के लिए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन के साथ विनम्र जैसा व्यवहार रखते हैं ॥४५॥

टिप्पणी—अर्थात् जब अनुकूल अवसर आयेगा तो वे सब के सब यदुवंशियों के पक्ष में होकर हमारी ही सहायता करेंगे। दीपक और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि।

[यह अभियान का उचित अवसर नहीं है, क्योंकि—]

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृत. कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्व. कमलाकरानिव ॥४६॥

अन्वय.—कृतावधे. तस्य भवता कृतः अभियोग. इमान् महीभुजः हरिदश्वः कमलाकरान् इव समुत्पतन् प्रविघाटयिता ॥४६॥

अर्थ—दुर्योधन ने जो हमारे वनवास की अवधि बाँध दी है, उसके भीतर यदि आप उसके (दुर्योधन के) ऊपर अभियान करते हैं तो हमारा यह कार्य इन यदुवंशी तथा इनके मित्र राजाओं को, हरे रंगों के अश्वोंवाले सूर्य द्वारा कमलों की पखुड़ियों की भाँति, उदय होते ही छिन्न-भिन्न कर देगा ॥४६॥

टिप्पणी—अन्यायी का साथ कोई नहीं देगा। और इस प्रकार आपका असमय का अभियान ही अपने पक्ष को छिन्न-भिन्न करने का कारण बन जायगा। उपमा अलङ्कार।

[और जो यदुवंशियों के साथ नहीं हैं, उनका क्या होगा ?]

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धत ।
सहते न जनोऽप्यध.क्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥४७॥

अन्वय —मदोद्धतः स नृपतीन् विलङ्घयन् उपजापसहान् विधाता। जन. अपि अध.क्रिया न सहते लोकाधिकधाम राजकं किमु ॥४७॥

अर्थ—अभिमान के मद में मतवाला वह दुर्योधन अन्य राजाओं का अपमान कर उन्हें भेदयोग्य बना देगा और जब साधारण मनुष्य भी अपना अपमान नहीं सहन करते तो साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी राजा लोग फिर क्यों सहन करेंगे ? ॥४७॥

टिप्पणी—अपमानित लोग टूट जाते ही हैं और ऐसी स्थिति में समय आने पर सम्पूर्ण राज-मण्डल हमारे पक्ष मे हो जायगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[यदि यह कहो कि वनवासी चर ने दुर्योधन को निरभिमानी बनाया है तो ऐसा भी नहीं है—]

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥४८॥

अन्वय.—असमापितकृत्यसम्पदाम् अभिमानशालिना विभूतय. तावता विनयेन हतवेग मदम् उत्तम्भयितु प्रभवन्ति ॥४८॥

अर्थ—कार्य को अधूरा छोड़ने वाले अभिमानी व्यक्तियों की सम्पत्तियाँ ऊपर से धारण किये गये स्वल्प विनय के द्वारा प्रतिहत वेग अभिमान को बढ़ाने मे समर्थ हो जाती हैं ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् वह अपने स्वार्थों के कारण अनुलाभगत बना रहता है, किंतु किसी कार्य की समाप्ति के भीतर तो उसका अभिमान प्रकट होकर ही रहता है क्योंकि थोड़ी देर के लिए लिपडी-चुपड़ी विनयभरी बातो से उसके न्यून वेग वाले अभिमान को बढ़ावा ही मिलता है। लोग समझ जाते हैं कि यह बनावटी विनयी है, सहज नहीं। काव्यलिंग अलङ्कार।

[अभिमान द्वारा होने वाले अनर्थ की चर्चा नीचे के दो श्लोकों में है—]

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥४९॥

अन्वय —मदमानसमुद्धत नृप मूढता नियमेन न वियुङ्क्ते। अतिमूढ. नयाद् उदस्यते, नयहीनाद् जन. अपरज्यते ॥४९॥

अर्थ—दर्प और अहङ्कार से उद्धत राजा को मूर्खता अवश्य ही नहीं छोड़ती। अत्यन्त मूर्ख राजा न्याय-पथ से पृथक् हो जाता है और अन्यायी राजा से जनता अलग हो जाती है ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थात् कार्य का अवसर आने पर अभिमान के कारण देश के सभी राजा तथा जनता भी दुर्योधन से पृथक् हो जायगी। कारणमाला अलङ्कार।

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥५०॥

अन्वयः—अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाऽऽकुलमूलसन्ततिः रिपुः महान् अपि तरुवत् सहिष्णुना उन्मूलयितुं सुकरः ॥५०॥

अर्थ—द्वेष की वायु से प्रेरित, धीरे-धीरे चञ्चलबुद्धि मन्त्रियों आदि अनुगामियों से विनष्ट शत्रु यदि महान् भी है, तब भी (भयङ्कर तूफान से प्रकम्पित तथा क्रमशः डालियों एवं जड़ समेत विनष्ट) वृक्ष की भाँति क्षमाशील पुरुष द्वारा विनष्ट करने में सुगम हो जाता है ॥५०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि क्षमाशील पुरुष धीरे-धीरे बिना प्रयास के ही अपने शत्रुओं का समूल नाश कर डालता है। कारण माला और उपमा—इन दोनों अलंकारों की संसृष्टि।

[यदि कहिए कि थोड़े से अन्तर्भेद के कारण वह सुसाध्य कैसे हो गया तो यह सुनिये—]

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ॥५१॥

अन्वय—अणुः अपि अन्तःप्रकृतिप्रकोपजः विग्रहः प्रभुम् उपहन्ति। हि तरुशाखाऽन्तनिघर्षजः अनलः अखिलं भूधरं हिनस्ति ॥५१॥

अर्थ—अणुमात्र भी अमात्य मन्त्रि आदि की उदासीनता से उत्पन्न वैर राजा का विनाश कर देता है। क्योंकि वृक्षों की शाखाओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि (दावाग्नि) समूचे पर्वत को जला देती है ॥५१॥

टिप्पणी—जैसे मामूली वृक्षों की डालियों की रगड़ से उत्पन्न दावाग्नि विशाल पर्वत को जला देती है, उसी प्रकार राजाओं के साधारण सेवकों में उत्पन्न पारस्परिक कटुता का विरोध राजा को नष्ट कर देता है। दृष्टान्त अलंकार।

[यद्यपि दुर्योधन का उत्कर्ष हो रहा है, तथापि इस समय तो उसकी उपेक्षा ही करना उचित है क्योंकि—]

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥५२॥

अन्वयः—मतिमान् विनयप्रमाथिनः द्विषः समुन्नतिं समुपेक्षेत। तादृग् अन्तरे सुजयः खलु। हि अविनीतसम्पदः विपदन्ताः ॥५२॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह अविनयी शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा करे। ऐसे अविनयी को तो किसी छिद्र के द्वारा ही सुखपूर्वक जीता जा सकता है, क्योंकि अविनयशील लोगों की सम्पत्तियों की समाप्ति विपत्तियों में ही होती है ॥५२॥

टिप्पणी—अविनयी शत्रु को उपेक्षा द्वारा ही जीता जा सकता है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[अविनीत शत्रु को उपेक्षा से कैसे जीता जा सकता है—यह सुनिए।]

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥५३॥

अन्वयः—लघुवृत्तितया बहिः अन्तः च भिदां गतं नृपस्य मण्डलम् अनन्तरः आपगारयः शिथिलं कूलम् इव अभिभूय हरति ॥५३॥

अर्थ—अपनी अविनयशीलता के कारण बाहर मित्रों में, तथा भीतर सेवकों आदि में भेद पड़ जाने के कारण छिन्न-भिन्न राजा के राष्ट्र को समीपवर्ती विजयाभिलाषी इस प्रकार से पराजित करके विनष्ट कर देता है जैसे नीचे से जर्जरित तट को नदी का वेग गिराकर नष्ट कर देता है ॥५३॥

टिप्पणी—परस्पर भेद के कारण अविनयी राजा का विनाश सुगम रहता है। उपमा अलंकार।

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥५४॥

अन्वयः—इति आकुलम् अर्जुनाग्रजम् नयवर्त्म अनाकुलम् अनुशासतं पराशरात्मजः अभिवाञ्छितः अर्थः इव स्वयम् अभीयाय ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार से (शत्रु के अपमान का स्मरण करने के कारण) क्षुब्ध भीमसेन को सुन्दर न्याय पथ का उपदेश करते हुए राजा युधिष्ठिर के पास मानो अभिलषित मनोरथ की भाँति वेदव्यास जी स्वयमेव आ पहुँचे ॥५४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥५५॥
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥५६॥

अन्वय—मधुरैः निरीक्षितैः अवशानि अपि तिर्यञ्चि शमं लम्भयन् परितः पटु एनसां दहनं विलोकनक्षमं धाम बिभ्रत्। सहसा उपगतः तपसां सूतिः आपदाम् असूतिः सः मुनिः वपुष्मान् पुण्यसञ्चयः इव जगतीभुजा सविस्मयं ददृशे ॥५५, ५६॥

अर्थ—अपने शान्तिपूर्ण दृष्टिनिक्षेप से प्रतिकूल स्वभाव के पशु पक्षियों को भी शान्ति दिलाते हुए, चारों ओर से उज्ज्वल रूप से चमकने एवं पाप कर्मों को जलाते हुए अवलोकनीय तेज को धारण करने वाले, अकस्मात आए हुए, तपस्या के मूल कारण तथा आपत्तियों के निवारणकर्त्ता उन भगवान वेदव्यास को मानो शरीरधारी पुण्यपुञ्ज की भाँति राजा युधिष्ठिर ने बड़े विस्मय के साथ

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्र. ।
रराज कीर्णाकपिशाशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥५७॥

अन्वयः—अथ उच्चकै. परार्ध्याद् आसनतः उद्यन् धूतारुणवल्कलाग्र. स. कीर्णाकपिशाशुजाल. सुमेरो. शृङ्गात् तिग्मरश्मि. इव रराज ॥५७॥

अर्थ—इसके बाद (वेदव्यास जी के स्वागतार्थ) अपने श्रेष्ठ ऊँचे सिंहासन से उठते हुए राजा युधिष्ठिर के लाल रग के वल्कल का अग्रभाग हिलने लगा। और उस समय वह पीले रग की किरण-पुजो को विस्तृत करने वाले सुमेरु पर्वत से ऊपर उठते हुए सूर्य की भाँति सुशोभित हुए ॥५७॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से सुमेरु के शिखर से ऊँचे उठते हुए सूर्य सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने ऊँचे सिंहासन से भगवान् वेदव्यास के स्वागतार्थ उठते हुए राजा युधिष्ठिर सुशोभित हुए। उपमा अलकार।

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ॥
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥५८॥

अन्वय.—सः नरेन्द्रः अवहितहृदय. ऋषिप्रवरे ऋषिवद् गुरूपदिष्टाम् अर्हा विधाय पश्चात् तदनुमतम् आसनम् प्रशमः श्रुतम् इव अलञ्चकार ॥५८॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर ने शान्तचित्त से ऋषिप्रवर वेदव्यास जी की आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्रीय विधि से पूजा करने के अनन्तर उनकी आज्ञा से अपने सिंहासन को इस प्रकार से सुशोभित किया, जिस प्रकार मे क्षमा शास्त्रीय ज्ञान को सुशोभित करती है ॥५८॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से क्षमा शास्त्रज्ञान को सुशोभित करती है उसी प्रकार से युधिष्ठिर ने वेदव्यास जी की आज्ञा से अपने सिंहासनको सुशोभित किया। उपमा अलंकार।

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्न ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं-
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्ते. ॥५९॥

अन्वयः—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ. विकीर्णधाम्न. मुनेः अभिमुख तिष्ठन् स. इद्धम् अंशुजाल तन्वन्त गुरुम् अभितः सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तः लक्ष्मीम उवाह ॥५६॥

अर्थ—मुस्कराने क कारण छिटकी हुई दाँत की किरणों से राजा युधिष्ठि के दोनों ओठ उद्भासित हो रहे थे। उस समय चतुर्दिक व्याप्त तेजवाले वेदव्या जी के सम्मुख बैठे हुए वह प्रदीप्त तेज की किरण-पुञ्जों को फैलाते हुए बृहस्पति के सम्मुख बैठे पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति को धारण कर रहे थे ॥५६॥

टिप्पणी—देवगुरु बृहस्पति के सम्मुख बैठे हुए राजा युधिष्ठिर सुशोभि हो रहे थे। पदार्थवृत्ति निदर्शना तथा उपमा अलंकार। वसन्ततिलका छन्द।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में द्वितीय सर्ग समाप्त ॥२॥

तृतीय सर्ग

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥१॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्यचेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥२॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥३॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥४॥

अन्वयः—ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैः उत्सर्पिभिः अंशुजालैः प्रांशुम् इव आनीलरुचम् पिशङ्गीः जटाः बिभ्राणं तडित्वन्तम् अम्बुवाहम् इव । समग्रां प्रसादलक्ष्मीं दधतं जनातिगेन वपुःप्रकर्षेण असंस्तुतानाम् अपि चेतःसु आर्द्रं भावं प्रसह्य समासजन्तम्, अनुद्धताकारतया अन्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां तन्वन्तम् माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा ईक्षितेन कृतोपसम्भाषम् इव । धर्मनिबन्धिनीनाम् एनःप्रणुदां श्रुतीनाम् प्रसूतिं सुखोपविष्टं मुनिम् तदभ्यागमने हेतुं परीप्सुः धर्मात्मजः आबभाषे ॥१-४॥

अर्थ—(मुनिवर वेदव्यास के आदेश से आसन पर बैठ जाने के) अनन्तर शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान आनन्ददायी, ऊपर फैलते हुए प्रभापुंज से मानो उन्नत से, श्यामल शरीर पर पीले वर्ण की जटा धारण करने के कारण मानो बिजली से युक्त मेघ की भाँति, प्रसन्नता की सम्पूर्ण शोभा से समलङ्कृत, लोकोत्तर शरीर सौन्दर्य के कारण अपरिचित लोगों के चित्त में भी अपने

सम्बन्ध में उच्च भाव पैदा करने वाले, अपनी शान्त आकृति से अन्तःकरण की (स्वच्छ पवित्र) भावनाओं को प्रकट करते हुए, अपने अति स्वाभाविक सौम्यता तथा विश्वासदायकता से युक्त अवलोकन के कारण मानो (पहले ही से) सम्भाषण किये हुए की तरह, एवं अग्निहोत्र आदि धर्मों के प्रतिपादक तथा पापों के विनाशकारी वेदों के व्याख्याता व्यास जी से, जो सुखपूर्वक आसन पर विराजमान (हो चुके) थे, उनके आगमन का कारण जानने के लिए, धर्मराज युधिष्ठिर ने (यह) निवेदन किया ॥१—४॥

टिप्पणी—तीनों श्लोकों के सब विशेषण व्यासजी के लोकोत्तर व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। अलौकिक सौन्दर्य के कारण लोगों में उच्च भाव पैदा होना स्वाभाविक है। प्रथम श्लोक में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। द्वितीय में काव्यलिंग तथा तृतीय में भी उत्प्रेक्षा अलंकार है। चतुर्थ में पदार्थहेतुक काव्यलिंग है।

> अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
> तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥५॥

अन्वयः—अनाप्तपुण्योपचयैः दुरापा फलस्य सवित्री निर्धूतरजाः एषा भवद्दर्शनसम्पद् वीतबलाहकायाः दिवः वृष्टेः तुल्या ॥५॥

अर्थ—बिना पुण्यपुञ्ज सञ्चित करने वाले लोगों के लिए दुर्लभ, अभिलाषाओं को सफल करने वाली, रजोगुणरहित यह आपके (मंगलदायी) दर्शन की सम्पत्ति बादलों से विहीन आकाश की वर्षा के समान (आनन्ददायिनी) है ॥५॥

टिप्पणी—बिना बादल की वृष्टि के समान यह आपका अप्रत्याशित शुभ दर्शन हमारे लिए सर्वथा किसी न किसी कल्याण का सूचक है। उपमा।

> अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।
> आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद् बहुमानपात्रम् ॥६॥

अन्वयः—अद्य क्रतूनां क्रियाः कामदुघाः, सम्प्रति भूमिदेवाः सत्याशिषः, यत् त्वयि आगते अहं आसंसृतेः जगत्सु बहुमानपात्रं जातः ॥६॥

अर्थ—आज के दिन मेरे किये हुए यज्ञो के अनुष्ठान फल देने वाले बन ए। इस समय भूमि के देवता ब्राह्मणो के आशीर्वचन सत्य हुए। आपके । आगमन से (आज म) जब से इस सृष्टि की रचना हुई है तब से आज क ससार भर मे सब से अधिक सम्मान का भाजन बन गया हूँ ॥६॥

टिप्पणी—सम्पूर्ण सत्कर्मों के पुण्य प्रभाव से ही आपका यह मगलदायी र्शन हुआ है। मुझसे बढ़कर इस सृष्टि मे कोई दूसरा भाग्यशाली व्यक्ति आज क नहीं हुआ। पदार्थहेतुक काव्यलिग अलकार ॥६॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्त्तिम्।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥७॥

अन्वय.—आत्मयोने' इव लोकगुरो' तव अमोघ सन्दर्शनम् श्रिय विकर्षति घानि अपहन्ति श्रेयः परिस्नौति कीर्त्ति तनोति। किं न धत्ते ॥७॥

अर्थ—ब्रह्मा के समान जगत्पूज्य आप का यह अमोघ (कभी व्यर्थ न होने ाला) पुण्य दर्शन लक्ष्मी की वृद्धि करनेवाला है, पापो का विनाशक है, ल्याण का जनक है तथा यश का विस्तारक है। वह क्या नहीं कर सकता ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात उससे ससार मे मनुष्य के सभी मनोरथ पूरे होते है। र्वार्द्ध मे समुच्चय अलकार है तथा उत्तरार्द्ध मे उपमा एव अर्थापत्ति अलकार । इस प्रकार इन तीनों की ससृष्टि है।

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षु ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसितीव चेत ॥८॥

अन्वय.—श्च्योतन्मयूखे हिमद्युतौ अपि ननिर्वृत मे चक्षुः त्वत्सन्निधौ निर्वृतिम् एति। चेत. समुज्झितज्ञातिवियोगखेदम उच्छ्वसिति इव ॥८॥

अर्थ—अमृत परिस्रवण करनेवाली किरणो से युक्त हिमाशु चन्द्रमा मे भी शान्ति न प्राप्त करने वाले मेरे ने आपके (इस) दर्शन से तृप्त हो रहे है तथा मेरा चित्त छूटे हुए बन्धु-बान्धवो के वियोग जनित दुःख को भूल कर मानो पुन नीवित सा हो रहा है ॥८॥

टिप्पणी—आपके इस पुण्य दर्शन से मेरे नेत्र सन्तुष्ट हो गए और मेरा मन नूतन उत्साह से भर गया। पूर्वार्द्ध मे विशेषोक्ति तथा उत्तरार्द्ध मे उत्प्रेक्षा—इन दोनो की ससृष्टि।

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम्।
तथाऽपि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥९॥

अन्वय.—प्रश्नकुतूहलित्व निरास्पदम् निःस्पृहाणाम् अस्मासु अधीन किमु। तथाऽपि ते कल्याणकरीं गिर श्रोतुम् इच्छा मा मुखरीकरोति ॥९॥

अर्थ—(आप के आगमन के प्रयोजन का) प्रश्न पूछने का मेरा जो कौतूहल था वह शान्त हो गया, क्योकि आप जैसे निःस्पृह वीतराग महापुरुषो का हम लोगो के अधीन ह ही क्या? किन्तु फिर भी आपकी मगलकारिणी वाणी को सुनने की इच्छा मुझे मुखर (बोलने को विवश) कर रही है ॥९॥

टिप्पणी—पदार्थहेतुक काव्यलिग अलकार।

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥१०॥

अन्वय.—इति उक्तिविशेषरम्यम् उक्तवान् उदारचेता. नरेन्द्र. द्वैपायनेन जयोपपत्तौ मनः समाधाय इति उदारा गिरम् अभिदधे ॥१०॥

अर्थ—उक्त प्रकार की सुन्दर विचित्र उक्तियो से मनोहर वाणी बोलने वाले उदारचेता महाराज युधिष्ठिर से, उनके विजय की अभिलाषा में चित्त लगा कर महर्षि द्वैपायन इस प्रकार की उदार वाणी में बोले ॥१०॥

टिप्पणी—काव्यलिग अलकार।

चिचीषता जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्रभूतिम्।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥११॥

अन्वय —अलघ्वीं यशोऽवतंसाम् उभयत्र भूतिम् चिचीषता जन्मवता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्ति अभ्यर्हिता, तपोधनाना विशेषेण ॥११॥

अर्थ—गम्भीर, कीर्ति को विभूषित करने वाले, इस लोक तथा परलोक में सुखदायी कल्याण की इच्छा रखनेवाले शरीरधारी को (भी) अपने कुटुम्बियों के प्रति समान व्यवहार करना उचित है और तपस्वियो के लिए तो यह समान व्यवहार विशेष रूप से उचित है ॥११॥

टिप्पणी—ससार में समस्त शरीरधारी को अपने कुटुम्बी जनों के लिए समान व्यवहार करना उचित है किन्तु तपस्वी को तो विशेष रूप से सम व्यवहार करना ही चाहिये, उसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। पदार्थहतुक काव्यलिंग अलकार।

तथाऽपि निघ्नं नृप ! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥१२॥

अन्वय.—नृप ! तथाऽपि तावकीनैः गुणौघैः प्रह्वीकृतम् मे हृदय निघ्नम् हि वीतस्पृहाणा मुक्तिभाजाम् अपि भव्येषु पक्षपाताः भवन्ति ॥१२॥

अर्थ—किन्तु ऐसा होते हुए भी हे राजन् ! तुम्हारे उत्तम गुणों के समूहों से आकृष्ट मेरा हृदय तुम्हारे वश में हो गया है। (यदि यह कहो कि तपस्वी के हृदय में यह पक्षपात क्यों हो गया है तो) वीतराग मुमुक्षुओं के हृदय में भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—सज्जनों के प्रति पक्षपात करने से मुमुक्षु तपस्वियों का तप खण्डित नहीं होता, यह तो स्वाभाविक धर्म है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥१३॥

अन्वय—यूय तस्य राज्ञः सुता न किमु गुणैः सुयोधन न अतीताः वा। यः वः वृथा त्यक्तवान् सः विषयाभिलाषः बलाद् वा मोह विधत्ते ॥१३॥

अर्थ—आप लोग क्या उस राजा धृतराष्ट्र के पुत्र नहीं हैं ? क्या अपने उत्तम गुणों से आप लोगों ने दुर्योधन को पीछे नहीं छोड़ दिया है ?

जो उसने बिना किसी कारण के ही आप लोगों को छोड़ दिया है। अथवा (यह सच है कि) विषयों की अभिलाषा (मनुष्य को) बलपूर्वक अविवेकी ही बना देती है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अर्थात् धृतराष्ट्र की विषयाभिलाषा ही उसके अविवेक का कारण है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥१४॥

अन्वय.—यः कर्णादिषु संशय्य तिष्ठते एनम् अर्थसिद्धिः कथं न जहातु। हि असाधुयोगाः जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥१४॥

अर्थ—जो कर्ण प्रभृति दुष्ट मन्त्रियों पर सन्देहजनक कार्यों के निर्णयार्थ निर्भर रहता है, उस धृतराष्ट्र को प्रयोजनों की सिद्धियाँ क्यों न छोड़ें। क्योंकि दुष्टों का सम्पर्क विजय का विघातक (ही नहीं होता, प्रत्युत) ध्वंस करने वाली विपत्तियों का आधार (भी) होता है ॥१४॥

टिप्पणी—दुष्टों की संगति न केवल विजय में ही बाधा डालती है, प्रत्युत वह अनर्थकारिणी भी होती है। ऐसे दुष्टों के सम्पर्क से धृतराष्ट्र का अवश्य विनाश हो जायगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥१५॥

अन्वय.—पथः च्युतायां रिपूणां समितौ चिराय धर्म्यां धुरं दधानेन त्वया विपत्सु अपि अविपत्तिरम्यं गुणेषु परं प्रेम आविष्कृतम् ॥१५॥

अर्थ—सज्जनों के पथ से भ्रष्ट शत्रुओं की सभा में चिरकाल तक धर्म के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा करते हुए आपने विपत्तियों में भी अविपत्ति अर्थात् सुख-शान्ति के समय शोभा देनेवाला आन्तरिक गुणों के प्रति ऊँचा प्रेम प्रदर्शित किया है ॥१५॥

टिप्पणी—[illegible] में, कष्ट में भी आपने गुण के साथ [illegible] प्रेम ही किया है। [illegible] अलङ्कार।

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥१६॥

अन्वयः—शमैकवृत्तेः भवतः छलेन अनात्मनीन विध्वंस विधाय प्रकाशितत्वन्मतिशीलसारा. ते विद्विषः कृतोपकारा. इव ॥१६॥

अर्थ—शान्ति के प्रमुख उपासक आप के साथ छल करके उन शत्रुओं ने अपना ही विनाश किया है और ऐसा करके उन्होंने आपकी सद् बुद्धि एव शील-सदाचरण का परिचय देते हुए मानो आपका उपकार ही किया है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—ऐसा करके उन्होंने अपनी दुर्जनता तथा आपकी सज्जनता का अच्छा प्रचार किया है। चन्दन की भाँति सज्जनों की विपत्ति भी उनके गुणों का प्रकाशन ही करती है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अत' प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥१७॥

अन्वयः—तव धरित्री विक्रमेण लभ्या विपक्ष. च वीर्यास्त्रबलैः ज्यायान अत. प्रकर्षाय विधिः विधेय.। हि रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा ॥१७॥

अर्थ—तुम पराक्रम के द्वारा (ही) पृथ्वी को प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारा शत्रु पराक्रम और अस्त्रबल में तुमसे बढ़ा-चढ़ा है। इसलिए तुम्हें भी अपने उत्कर्ष के लिए उपाय करना होगा, क्योंकि युद्धमें विजयश्री उत्कर्ष के ही अधीन रहती है ॥१७॥

टिप्पणी—बलवान् एव पराक्रमी ही रण में विजयी होते हैं, बलहीन और आलसी नहीं। काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास की ससृष्टि।

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीना हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्य।
वीर्यावधूत. स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवश गुणानाम् ॥१८॥

अन्वय.—त्रिःसप्तकृत्व' जगतीपतीना हन्ता गुरुः स. जामदग्न्य' यस्य वीर्यावधूत' तदा गुणाना प्रकर्षम आधारवश विवेद ॥१८॥

अर्थ—इक्कीस बार धरती के राजाओं का जो संहार करनेवाला है, वह धनुर्वेद का शिक्षक सुप्रसिद्ध जमदग्नि का पुत्र परशुराम जिस (भीष्म) के पराक्रम से पराजित हो गया और यह जान सका कि गुणों का उत्कर्ष पात्र के अनुसार ही होता है ॥१८॥

टिप्पणी—जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने अपने पिता के वैर का बदला चुकाने के लिए समस्त भूमण्डल के क्षत्रिय राजाओं का इक्कीस बार विनाश कर दिया था, यह एक सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा है। वही परशुराम भीष्म के धनुर्विद्या के आचार्य थे, किन्तु अम्बिका-स्वयंवर के समय उन्हें अपने ही शिष्य भीष्म से पराजित हो जाने पर यह स्वीकार करना पड़ा कि गुणों का विकास पात्र के अनुसार होता है। किसी साधारण पात्र में पड़कर वही गुण अविकसित अथवा अर्धविकसित होता है और किसी विशेष पात्र में पड़कर वह पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक मात्रा में विकसित होता है। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः ॥१९॥

अन्वयः—यस्मिन् अनैश्वर्यकृतव्यलीकः अन्तकः अपि पराभवं प्राप्तः इव सः भीष्मः रणे धनुः धुन्वन् कस्य मनः भयैकप्रवणं न कुर्यात्? ॥१९॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी (भीष्म) के सम्बन्ध में अपने ऐश्वर्य की निष्फलता के कारण दुःखी होकर मृत्यु का देवता यमराज भी मानों पराजित-सा हो गया है, वही भीष्म रणभूमि में अपने धनुष को कँपाते हुए किस वीर के मन को नितान्त भयभीत नहीं बना देंगे ॥१९॥

टिप्पणी—भीष्म स्वेच्छामृत्यु थे, यमराज का भी उन्हें भय नहीं था। तब फिर उनके धनुष को देखकर कौन ऐसा वीर था जो भयभीत न होता? पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥२०॥

अन्वयः—आजौ इषुसहतीः सृजन्त कोपज्वलित परिस्फुरल्लोलशिखाऽग्रजिह्व जगद् जिघत्सन्तम् अन्तवह्निम् इव गुरुम् वः कः सहेत ॥२०॥

अर्थ—अपने विकट वाणों के समूहों को बरसाते हुए, क्रोध से जाज्वल्यमान, जीभ की भाँति भयकर लपटें छोड़ती हुई मानों समूचे ससार को खा जाने के लिए उद्यत प्रलय काल की अग्नि की तरह रणभूमि में स्थित द्रोणाचार्य को, आप की ओर कौन ऐसा वीर है जो सहन कर सकेगा? ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् आप के पक्ष मे ऐसा कोई वीर नहीं है, जो रणभूमि मे क्रुद्ध द्रोणाचार्य का सामना कर सके। उत्प्रेक्षा अलकार।

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥२१॥

अन्वयः—सरम्भनिरस्तधैर्यम् आराधितजामदग्न्य राधेय निरीक्ष्य मृत्योः अपि असस्तुतेषु भयेषु प्रसभ पक्षपातः जायेत ॥२१॥

अर्थ—अपने क्रोध से दूसरों के धैर्य को दूर करने वाले परशुराम के शिष्य राधासुत कर्ण को देखकर मृत्यु को भी अपरिचित भय मे हठात् परिचय हो जाता है ॥२१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मृत्यु भी कर्ण से डरती है तो दूसरों की बात ही क्या? अतिशयोक्ति अलकार।

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥२२॥
महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप! देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ॥२३॥

अन्वयः—यया सुदुश्चरा तपस्याम् आचरता समासादितसाधनेन कपिकेतनेन दुराप वीर्यं समवाप्य एते उन्मूलितारः। प्रदानोचित नृप! महत्त्वयोगाय महामहिम्ना देवतानाम् आराधनीं भूरिधाम्नीं ता विद्या सिद्धिम् इव! दातुम् उपागतः अस्मि ॥२२-२३॥

अर्थ—जिस विद्या के द्वारा अत्यन्त कठोर तपस्या करके पाशुपत-अस्त्र रूपी साधन प्राप्त करने वाले अर्जुन दूसरों के लिये दुर्लभ तेज प्राप्त कर इन सु(भीष्म आदि) का विनाश करेंगे। हे उचित दान के पात्र राजन्! उस महनीय महिमा से समन्वित, देवताओं के लिये भी आराध्य तथा परम शक्तिशालिनी विद्या को, सिद्धि की भाँति उत्कर्ष-प्राप्ति के निमित्त मैं (अर्जुन को) देने के लिये यहाँ आया हुआ हूँ ॥२२-२३॥

टिप्पणी—इस विद्या से शिव की प्रसन्नता से प्राप्त पाशुपत अस्त्र के द्वारा अर्जुन उन भीष्म आदि का संहार करेंगे। पूर्व श्लोक में वाक्यार्थ हेतु काव्यलिंग तथा दूसरे में उपमा अलंकार।

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥२४॥

अन्वय.—इति उक्तवन्तं प्रसेदिवांसं तं जिष्णुः व्रज साधय इति अजातशत्रोः वाक्यम् प्रमाणयन् अन्ते वसन् इव विनयेन उपाससाद ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार की बातें करते हुए सुप्रसन्न वेदव्यास जी के समीप अर्जुन राजा युधिष्ठिर के इस वाक्य—"जाओ और (इस सिद्धि की) साधना करो।" को स्वीकार करते हुए छात्र की भाँति सविनय उपस्थित हो गये ॥२४॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद् बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥२५॥

अन्वय.—अथ वह्निकणावदाता विद्या दिनादिरम्यात् अर्कस्य बिम्बात् इव महर्षेः मुखात् निर्याय दीप्तिः स्फुरत् पद्मम् इव पार्थाननम् अभिपेदे ॥२५॥

अर्थ—तदनन्तर चिनगारी की भाँति उज्ज्वल वह विद्या, प्रातःकाल के मनोहर सूर्य मण्डल के समान महर्षि वेदव्यास के मुख से निकलकर (सूर्य की) किरणों से विकसित होनेवाले कमल के समान अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गयी ॥२५

टिप्पणी—प्रातःकाल में सूर्य मंडल से निकली हुई किरणें जैसे कमल

प्रवेश करती हैं वैसे ही वेदव्यास के मुख से निकली हुई वह विद्या अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हुई। उपमा अलङ्कार।

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्विततार सद्यः।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥२६॥

अन्वय.—योग्यतमाय तस्मै तं योगं च तपःप्रभावात् सद्यः वितताार। येन तत्त्वेषु अवभासे कृते अस्य चक्षुः चिराय समुन्मिमील इव ॥२६॥

अर्थ—मुनिवर वेदव्यास ने परम योग्य अर्जुन को वह योग-विद्या अपने तपोबल के प्रभाव से शीघ्र ही प्रदान किया, जिसके द्वारा प्रकृति महदादि चौबीस पदार्थों के साक्षात्कार हो जाने के कारण अर्जुन के नेत्र चिरकाल के लिए मानों खुले हुए से हो गये ॥२६॥

टिप्पणी—अन्धे के दृष्टिलाभ के समान अर्जुन को कोई नूतन ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानो आँखें खुल गयीं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम्।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपः समाधौ मुनिरित्युवाच ॥२७॥

अन्वयः—आशंसितभूरिलाभम् अन्तःकरणानुरूपम् आकारं दधानं तं मुनिः विजयोदये तपःसमाधौ नियोजयिष्यन् इति उवाच ॥२७॥

अर्थ—मुनिवर वेदव्यास महाभाग्य के सूचक एवं अन्तःकरण के अनुरूप आकार (आकृति) धारण करनेवाले अर्जुन को विजय लाभ दिलानेवाली तपस्या के नियमों में नियुक्त करने की इच्छा से इस प्रकार बोले ॥२७॥

टिप्पणी—पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन्।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥२८॥

अन्वयः—अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मै अयच्छन् उपात्तशस्त्रः जपोपवासाभिषवैः मुनीनाम् आचारं समाचर ॥२८॥

अर्थ—इस योग विद्या से तुम्हारा तेज बहुत बढ़ जायगा और इस प्रकार अपनी इस साधना के पथ को दूसरों से छिपा कर, सदा शस्त्रास्त्र धारण कर, स्वाध्याय, उपवास एवं स्नानादि मुनियों के सदाचरणों का पालन करना ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् मुनियों की तरह तपस्या में रत रहना किन्तु हथियार तब भी धारण किये रहना, इससे तुम्हारी तेजस्विता बहुत बढ़ जायगी।

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥२९॥

अन्वय.—यत्र गोत्रभिदः प्रसत्तये सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे चारुशिलोच्चयं तं शिलोच्चयम् त्वाम् एषः गुह्यकः क्षणात् नेष्यति ॥२९॥

अर्थ—जिस पर्वत पर इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तुमको घोर तपस्या करनी है, उस परम रमणीय शिखरों से युक्त पर्वत पर तुमको यह यक्ष क्षणभर में पहुँचा देगा ॥२९॥

टिप्पणी—अनुप्रास और काव्यलिंग की संसृष्टि।

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितस्थौ ॥३०॥

अन्वय —इति महेन्द्रसूनुम् ब्रुवाणेन तेन महर्षिणा तिरोबभूवे। राजराजानुचरः अस्य आदेशम् साक्षात् इव तं प्रदेशम् अधितस्थौ ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार की बातें इन्द्रपुत्र अर्जुन से कहकर वे महर्षि वेदव्यास (वहीं) अन्तर्हित हो गये। तदनन्तर कुबेर का सेवक वह यक्ष मानो मुनिवर के प्रदत्त आदेश की भाँति, उस अर्जुन के निवास-स्थल पर पहुँच गया ॥३०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥३१॥

अन्वयः—स. पुण्यजनः कृतानतिः व्याहृतसान्त्ववादे जिष्णौ जातस्पृहः (स्यौ इव सप्रसादम् इयाय । हि सता योगः आशु विश्वासयति ॥३१॥

अर्थ—उस यक्ष ने (आते ही) प्रणाम किया, तथा प्रिय वचन बोलने वाले र्जुन में अनुराग प्रकट करते हुए मित्र की भाँति विश्वास प्राप्त किया। क्यों न ऐसा होता) क्योंकि सज्जनो की सगति शीघ्र ही विश्वास पैदा करती है॥३१॥

टिप्पणी–तात्पर्य यह है कि यक्ष ने आने के साथ ही अर्जुन को प्रणाम किया था उनसे अपनी मैत्री मान ली। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥३२॥

अन्वयः—अथ उष्णभासा उदयाय विहीयमानान् बृहद्द्युतीन् सुमेरुकुञ्जान् इव तेन पाडुसुतान् दुःखकृतात्मलाभ तमः शनैः प्रपेदे ॥३२॥

अर्थ—(यक्ष के आने तथा प्रणामादि के) अनन्तर भगवान् भास्कर द्वारा उदय के लिये छोड़े गए परम प्रकाशमान सुमेरु के कुञ्जो की भाँति अर्जुन द्वारा अपने अभ्युदय के लिए छोड़े गये परम तेजस्वी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि को, दुःख के साथ अपना प्रसार प्राप्त करनेवाले अन्धकार ने धीरे-धीरे व्याप्त कर लिया ॥३२॥

टिप्पणी—जिस प्रकार सूर्य उदय के लिए जब सुमेरु के कुञ्जों को छोड़ देता है तो उन्हें अन्धकार घेर लेते हैं उसी प्रकार अपने अभ्युदय के लिए जब अर्जुन ने पाण्डवो को छोड़ दिया तो उन्हें शोकान्धकार ने घेर लिया। श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार।

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः ।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने ॥३३॥

अन्वयः—असंशयालोचितकार्यनुन्न. प्रेम्णा समानीय विभज्यमान. सः दुःखा-तिभारः अपि तन्मनोभिः तुल्याद् विभागाद् इव लघुः मेने ॥३३॥

अर्थ—बिना सन्देह के सम्यक् विचार किए गए भविष्य के कार्य-क्र
कारण दूर किए गए तथा पारस्परिक स्नेह से विभक्त वह दुःख का
भारी बोझा भी युधिष्ठिर आदि चारों भाइयों के चित्तों से मानों बराबर
बँटकर हल्का मान लिया गया ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थात् चारों भाइयों ने पारस्परिक स्नेह से अर्जुन के वि
जनित शोक के भार को कम करके भविष्य के कार्यक्रमों पर विचार कि
हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार।

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥३४॥

अन्वयः—धैर्येण महर्षेः विश्वास्यतया अरातिप्रभवात् तीव्राद्
मघोनः सुते वीर्यं च विद्वत्सु तेषु सः शोकः स्थानं न अवाप ॥३४॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक धैर्य से, इस कार्य के प्रवर्त्तक महर्षि वेद
की बातों में अडिग विश्वास करने के कारण तथा दुर्योधनादि श
द्वारा उत्पन्न होने वाले तीव्र क्रोध के कारण इन्द्रपुत्र अर्जुन के प
को जाननेवाले उन युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को वह शोक आक्रान्त न
सका ॥३४॥

टिप्पणी—अर्थात् युधिष्ठिर आदि चारों पाण्डवों को अर्जुन के वियो
दुःख इन उपर्युक्त कारणों से अधिक नहीं सता सका। हेतु अलङ्कार।

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥३५॥

अन्वयः—तद् अशर्म भूरिधाम्नः तान् चतुरः अपि वासरस्य यामान् इ
विहाय एकौघभूतं विभावरीम् ध्वान्तम् इव कृष्णां प्रपेदे ॥३५॥

अर्थ—उस अर्जुन वियोगजनित शोक ने उन परम तेजस्वी चारों यु
प्रभृति पाण्डवों को, परम प्रकाशमान दिन के चारों प्रहरों की तरह दूर से
कर, एकत्रित होकर रात्रि की गति के अन्धकार की तरह द्रौपदी पर
किया ॥३५॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से अन्धकार दिन के चारो प्रहरों को छोड़कर कृष्ण पक्ष की रात्रि को ही घेरता है उसी प्रकार से अर्जुन के वियोग का वह अन्धकार चारो पाण्डवों को छोड़कर एकत्र होकर द्रौपदी पर छा गया। उपमा अलङ्कार।

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥३६॥

अन्वयः—सा विलोकने अगूढभावा अपि मङ्गलभङ्गभीरुः तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी लोचने मीलयितुं न विषेहे ॥३६॥

अर्थ—द्रौपदी यद्यपि अर्जुन को देखने के लिए स्पष्ट रूप में इच्छुक थी तथापि अमङ्गल के भय से वह हिमकण से युक्त कमल के समान, आँसुओं से भरे हुए अपने नेत्रों को मूँदने में समर्थ न हो सकी ॥३६॥

टिप्पणी—अर्जुन के वियोग की गहरी व्यथा से द्रौपदी की आँखों में आँसू भरे हुए थे, जिससे वह ठीक तरह से अर्जुन को देख नहीं पाती थी। और चाहती थी हृदय भर कर देखना, किन्तु ऐसा तब तक नहीं हो सकता था जब तक नेत्र आँसुओं से स्वच्छ न हो। यदि वह आँसू गिराती तो अमङ्गल होता, क्योंकि यात्रा के समय स्त्री के आँसू अपशकुन के सूचक होते हैं, अतः वह जैसी की तैसी रही। उस समय उसके नेत्र हिमकण से युक्त कमल पत्र के समान सुशोभित हो रहे थे। उपमा और काव्यलिंग का संकर।

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम्।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥३७॥

अन्वयः—इन्द्रसूनुः अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टं मनःप्रसादाञ्जलिना पाथेयम् इव निकामं जग्राह ॥३७॥

अर्थ—इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सहज प्रेम रस से मनोहर, पत्नी द्वारा समर्पित, दृष्टि को लुभाने वाले उसके अवलोकन को अपने प्रसन्न मन रूपी अञ्जलि से पाथेय (मार्ग के सम्बल) की भाँति यथेष्ट रूप से ग्रहण किया ॥३७॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से कोई पथिक सहज प्रेम से अपनी प्रियतमा द्वारा दिए गए मधुर पाथेय को अंजलि में ग्रहण करता है, उसी प्रकार से सहज स्नेह से मनोहर नेत्रानन्ददायी द्रौपदी के दर्शन को अर्जुन ने अंजलि के समान अपने प्रसन्न मन से ग्रहण किया। उपमा अलङ्कार।

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥३८॥

अन्वय—वन्यद्विपेन हृतप्रसादा निदाघसिन्धुः इव धैर्यावसादेन राजपुत्री निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठं कृच्छ्राद् इति उवाच ॥३८॥

अर्थ—जङ्गली हाथी द्वारा गदली की गई ग्रीष्म की नदी की भाँति, धैर्य के छूटने से उदास राजपुत्री द्रौपदी, बाष्प के रुक जाने से गदगद कण्ठ द्वारा बड़ी कठिनाई से यह बोली ॥३८॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन्।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥३९॥

अन्वय—पङ्कभूते द्विषच्छद्मनि मग्नां सम्भावनाम् भूतिम् इव उद्धरिष्यन् आधिद्विषाम् तपसाम् आ प्रसिद्धेः अस्मद्विना भृशम् मा उन्मनीभूः ॥३९॥

अर्थ—कीचड़ के समान शत्रुओं के कपट-व्यवहार में डूबी हुई हम लोगों की सम्पत्ति व सम्मान के योग्यता उद्धारकर्त्ता तुम ही हो। अतः मन की व्यथा को दूर करनेवाली साधना की सफलता पर्यन्त तक तुम हम लोगों के बिना अत्यन्त व्यथित मन होना ॥३९॥

टिप्पणी—शत्रु के कपट से नष्ट हम सब की योग्यता को तुम ही पहले जैसा बना सकते हो। अतः जब तक तपस्या का फल न मिले तब तक तुम अत्यन्त उदास या व्यथित नहीं होना चाहिए। उपमा अलङ्कार।

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥४०॥

न्वयः—यशः अधिगन्तुम् वा सुखलिप्सया मनुष्यसंख्याम् अति- वा अभियोगभाजा निरुत्सुकाना सिद्धिः समुत्सुका इव अङ्कम् ४० ॥

र्थ—उज्ज्वल कीर्ति पाने के लिए, सुख प्राप्ति के लिए अथवा साधारण से ऊपर उठकर कोई असाधारण काम करने के लिए उद्यत होनेवाले ो अनुत्साहित न होनेवाले लोगो को सफलता अनुरक्ता स्त्री की भाँति अंकगत होती है ॥४०॥

प्पणी—जिस प्रकार प्रेमी से अनुरक्त रमणी उसके अंक मे स्वयमेव ी है उसी प्रकार सफलता भी उस मनुष्य के समीप स्वयमेव आती है ुक्त प्रकार से कठिन से कठिन कार्य करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। अलकार।

ीचे के चार श्लोकों मे द्रौपदी शत्रुओं द्वारा किए गए अपमान का स्मरण हुए तपस्या की आवश्यकता दिखाकर अर्जुन के क्रोध को भड़काती ा चारो श्लोको का कर्त्ता और क्रियापद एक ही मे है—]

क विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोजः।
जस्वितायां विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥४१॥

ाडानतैराप्तजनोपनीत. संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः।
ितानभूत विततं पृथिव्या यश. समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥४२॥

र्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम्।
र्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः ॥४३॥

सह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्य. किमुताधिकर्तुम्।
वीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदय निकार. ॥४४॥

न्वय'—विधात्रा लोक गोप्तु विहितस्य क्षत्रस्य जैत्रम् ओजः वसु मुष्णन् वृत्ते' तेजस्वितायाः प्रियं प्राणम् इव अभिमानं निघ्नन्, आप्तजनोपनीत. ोडानतैः नृपै कृच्छ्रेण प्रपन्न पृथिव्या वितानभूतं दिग्विकीर्णं विततं

यः समूहन् इव, वीर्यावदानेषु कृतावमर्षः सम्प्रतीतिम् अभूताम् इव तन्वन्
हः अवशेषः अर्कत्विषाम् इव आयतीनाम् प्रयामक्षय कुर्वन्, परैः अस्मासु
सह्य प्रयुक्तः यः स्मर्तुं न शक्यः अधिकर्तुं किमुत, स निकारः त्वद्विनो
ार्द्रः उपशुष्यद् मे हृदयं नवीकरिष्यति ॥४१-४४॥

अर्थ—ब्रह्मा द्वारा लोक-रक्षा के निमित्त बनाये गये क्षत्रियों के विजय ील तेज-रूपी धन का अपहरण करता हुआ, एकमात्र विजय प्राप्ति ही जिनकी त्ति है, ऐसे तेजस्वियों के प्रिय प्राणों की भाँति अभिमान को खण्डित करता आ, परिचित लोगों द्वारा कहे जाने पर सन्देहयुक्त किन्तु लज्जा से ीचे मुख किए हुए राजाओं द्वारा बड़ी कठिनाई से कहे जाने पर किसी कार विश्वास योग्य पृथ्वी पर तवे की भाँति सभी दिशाओं में फैले हुए मारे यश को मानो संकुचित सा करता हुआ, पहले के पराक्रमपूर्ण कार्यों को रने के कारण प्राप्त प्रसिद्धि को मानो झूठा-सा सिद्ध करता हुआ, दिन के ौथे पहर द्वारा सूर्य की कान्ति के समान भविष्य की प्रतिष्ठा को नष्ट करता आ, शत्रुओं द्वारा हम पर हठपूर्वक किया गया, जो स्मरण करने योग्य भी हीं हो, उसके अनुभव की बात क्या कही जाय, वही मेरा केशाकर्षण रूप अपमान तुम्हारे न रहने पर ताजा (गीला) होकर, तुम्हारी विरह-व्यथा से सूखते ए मेरे हृदय को फिर गीला कर देगा ॥४१-४४॥

टिप्पणी—चारों श्लोकों में दिए गए सभी विशेषण 'निकार' शब्द के लिए ही हैं। द्रौपदी अर्जुन के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए ही इस प्रकार की बातें कह रही है। प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि तेजस्वी पुरुषों की मानहानि ही उनकी मृत्यु के समान है। इसमें उपमा अलंकार है। द्वितीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओं से पराजित लोग कभी यश के भागी नहीं होते। इसमें काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा का संकर है। तृतीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओं द्वारा अपमानित व्यक्ति को [illegible]। उसे कभी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती। इसमें उत्प्रेक्षा और उपमा की संसृष्टि है। चतुर्थ श्लोक का तात्पर्य है कि केश का अपमान अब तुम्हारे यहाँ न रहने पर तुम्हें और भी सताएगा। इसमें समासोक्ति अलंकार है।

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विपत्प्रतापान्तरितोरुतेजा. शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्न. ॥४५॥

अन्वय.—अभिमानव्यसनाद् दन्तव्यसनाद् दन्ती इव असह्य विकार प्राप्तः द्विपत्प्रतापान्तरितोरुतेजः शरद्घनाकीर्णः अह्न. आदिः इव ॥४५॥

अर्थ—अभिमान् अर्थात् अपनी मान-मर्यादा के नष्ट हो जाने से (इस समय) आप दाँतो के टूट जाने से कुरूप हाथी की भाँति असह्य कुरूपता को प्राप्त हो गए हैं। शत्रुओं के प्रताप से आप का तेज मलिन हो गया है अतः आप शरद् ऋतु के मेघो से छिपे हुए प्रभात की भाँति दिखाई पड़ रहे ॥४५॥

टिप्पणी—अर्थात् शत्रुओं के प्रताप से आप का तेज बिलकुल नष्ट हो गया । दन्तविहीन हाथी के समान मानमर्यादाविहीन आप का जीवन कुरूप हो गया है। उपमा अलकार।

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमान. ।
यशःक्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः ॥४६॥

अन्वय.—निष्क्रियत्वात् सव्रीडमन्द. इव अस्त्रै. अत्यर्थं न अवभासमान. यश.क्षयक्षीणजलार्णवाभ॰ त्वम् अन्यम् आकारम् अभिपन्न इव ॥४६॥

अर्थ—उपयोग मे न आने के कारण मानो लज्जित एवं कुंटित अस्त्रो से (इस समय आप) अत्यन्त शोभायमान नहीं हो रहे हैं, प्रत्युत यश के नष्ट होने से जलहीन समुद्र के समान आप मानो किसी भिन्न ही आकृति को प्राप्त हो गये हैं ॥४६॥

टिप्पणी—उपमा एव उत्प्रेक्षा की ससृष्टि ।

दु.शासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशै. कदर्थीकृतवीर्यसार. कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥४७॥

अन्वय —दु शासनामर्षरजोविकीर्णै. विनाथै. इव भाग्यनाथैः एभि केशै कदर्थीकृतवीर्यसार त्वं स एव धनञ्जय. असि कच्चित ॥४७॥

अर्थ—दुःशासन के आकर्षण रूप धूलि से धूसरित, मानो असहायों के समान भाग्य के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशों से, जिनके बल और पराक्रम का तिरस्कार हो चुका है, तुम क्या वही अर्जुन हो ? ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् यदि तुम वही अर्जुन हो तो मुझे भरोसा है कि तुम अब हमारी वैसी उपेक्षा न करोगे और इन्हें फिर पूर्ववत् सुसम्माननीय कर दोगे। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ॥४८॥

अन्वय.—यः सतां त्राणसहः सः क्षत्रियः यस्य कर्मसु शक्तिः तद् कार्मुकम् यदि द्वयीम् उक्तिम् अफले अर्थजाते वहन् असंस्कारहताम् इव करोति ॥४८॥

अर्थ—जो सत्पुरुषों की रक्षा करने में समर्थ है, वही क्षत्रिय है। जिसमें कर्म करने अर्थात् रणक्षेत्र में शक्ति दिखाने की क्षमता है उसी को कार्मुक अर्थात् धनुष कहते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों शब्दों को (मण्डप और कुशल शब्द के समान अवयवार्थ शून्य) केवल जातिमात्र में प्रवृत्ति कराने वाला मनुष्य इन्हें मानों अव्युत्पत्ति दूषित अर्थात् व्याकरण विरुद्ध वाणी के समान (प्रयोग) करता है ॥४८॥

टिप्पणी—व्याकरण प्रक्रिया की रीति से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ मिलकर क्षत्रिय और कार्मुक शब्द से ऐसे ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यदि कोई क्षत्रिय सत्पुरुषों की रक्षा करने में असमर्थ है तथा धनुष रणभूमि में पराक्रम दिखाने वाला नहीं है तो वे केवल जातिबोधक शब्द हैं जैसे 'मण्डप' और 'कुशल' शब्द हैं। तुम यदि यथार्थ में क्षत्रिय शब्द के अधिकारी हो और तुम्हारा धनुष शक्तिशाली है तो मेरे अपमान का बदला चुकाकर अपना कलङ्क दूर करो। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥४९॥

अन्वय.—हे पार्थ ! वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषाः भवत्कृताम् भूतिम् अपेक्ष-माणाः त्वदीयाः गुणाः समानदुःखाः नः इव सरूपतां भजन्ते ॥४९॥

अर्थ—हे अर्जुन ! कान्तिविहीन, अस्तित्वमात्र शेष, आपके द्वारा सम्भव अभ्युदय की अपेक्षा रखने वाले आपके शौर्यादि गुण मानों समान दुःखभोगी के समान हमारी समानधर्मता प्राप्त कर रहे हैं ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थात् जैसे हम लोग कान्तिविहीन हैं, प्राणमात्र धारण किये हैं और आपके अभ्युदयाकांक्षी हैं, वैसे ही आपके शौर्यादि गुण भी इस समय हो गये हैं। उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम्।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥५०॥

अन्वयः—नागैः आलूनसटं मृगेन्द्रम् इव प्रमादात् रिपुभिः आक्षिप्यमाणं त्वाम् इयं धूः तिग्मरश्मिं दीप्त्या दिनश्रीः इव योग्यतया अधिरूढा ॥५०॥

अर्थ—हाथियों द्वारा जिसके गर्दन के बाल नोच लिये गये हैं—ऐसे सिंह की भाँति, अपनी असावधानी के कारण शत्रुओं द्वारा अपमानित आपके ऊपर, योग्य समझकर यह कार्य-भार उसी प्रकार से आरूढ हो रहा है जिस प्रकार से दिनश्री अपनी कान्ति से प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य का आश्रय लेती है ॥५०॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से दिनश्री सूर्य का आश्रय लेती है उसी प्रकार से हमारे शत्रुओं के विनाश का भार केवल आपके ऊपर है। उपमा अलकार।

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥५१॥

अन्वयः—यः अशेषजनातिरिक्तां सम्भावनां क्रियाभिः अर्थवतीं करोति, तं संसत्सु पुरुषाधिकारे जाते पूरणी संख्या न समुपैति ॥५१॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वसाधारण से ऊपर उठकर अधिक योग्यता वाले कार्य को अपने प्रयत्नों से सफल करता है, उसी को सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित होने पर, समानता के लिए कोई दूसरी संख्या नहीं मिलती ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् सभा में वही सर्वश्रेष्ठ अथवा अद्वितीय पुरुष माना जाता है, जो साधारण मनुष्यों की शक्ति से ऊपर उठ कर कोई असाधारण कार्य कर दिखलाता है। काव्यलिंग अलङ्कार।

प्रियेषु यैः पार्थ ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः ।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघाना मघवा विघातम् ॥५२॥

अन्वयः—पार्थ ! प्रियेषु उपपत्तेः विना विचिन्त्यमानैः यैः चेतः क्लमम् एति जयाय प्रयातस्य तव तेषाम् अघाना मघवा विघात क्रियात् ॥५२॥

अर्थ—हे अर्जुन ! हम प्रियजनों के विषय में जो दुःख बिना किसी कारण के ही, चिन्तन किये जाने मात्र से तुम्हारे चित्त को खिन्न कर देने वाले हैं, विजयार्थ प्रस्थित तुम्हारे उन (सब) दुःखों को देवराज इन्द्र नष्ट करें ॥५२॥

टिप्पणी—द्रौपदी के कथन का तात्पर्य यह है कि हम लोगों के कल्याण के सम्बन्ध में आपके चित्त में जो आशंकाएँ हों वह इन्द्र की कृपा से दूर हो जायँ, अर्थात् आप वहाँ पहुँचकर हम सब की चिन्ता न करें, अन्यथा आपकी विजयाभिलाषा में बाधा पहुँचेगी ।

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मना हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥५३॥

अन्वय —असम्बाधशिवे अपि देशे चिराय एकचरः वसन् प्रमाद मागाः । हि मात्सर्यरागोपहतात्मना मानसानि साधुषु अपि स्खलन्ति ॥५३॥

अर्थ—(उस) निर्जन और विघ्नबाधा से रहित स्थान में भी चिरकाल तक अकेले निवास करते हुए तुम कोई असावधानी मत करना, क्योंकि रागद्वेष से दूषित स्वभाव वाले व्यक्तियों के चित्त महापुरुषों के सम्बन्ध में भी विकृत हो जाते हैं ॥५३॥

टिप्पणी—रागद्वेष से दूषित लोग महापुरुषों के सम्बन्ध में भी जब विकृत भावनाएँ बना लेते हैं तो उस निर्जन देश में यद्यपि कोई विघ्नबाधा नहीं आयेगी तथापि अकेला होने के कारण कोई असावधानी मत करना, क्योंकि अकेले में चित्त का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥५४॥

अन्वय.—तद् आशु महर्षे. वचनम् कुर्वन् नः मनोरथान् सफलीकुरुष्व। कृतार्थं प्रत्यागतम् एव त्वा स्तनोपपीड परिरब्धुकामा अस्मि ॥५४॥

अर्थ—इसलिये शीघ्र ही महर्षि वेदव्यास जी के आदेश का पालन करते हुए तुम हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाओ। कार्य पूरा करके वापस लौट कर आने पर ही तुम्हें गाढ़ा आलिंगन करने की मैं अभिलाषिणी हूँ ॥५४॥

टिप्पणी—कार्यसिद्धि के पूर्व इस समय तुम्हें मेरा आलिंगन करना भी उचित नहीं है। अर्थापत्ति अलङ्कार।

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम्।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मि. ॥५५॥

अन्वयः—सः इति याज्ञसेन्या उदीरिता नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकारा ता वाचम आसाद्य उदीचीं काष्ठाम् तिग्मरश्मिः इव भृश दिदीपे ॥५५॥

अर्थ—राजा यज्ञसेन की कन्या द्रौपदी की इस प्रकार कही गई उन बातों को सुनकर, जिसने शत्रुओं के अपकार को फिर से नूतन रूप देकर हृदय में जमा दिया, अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सूर्य की तरह अत्यन्त जल उठे ॥५५॥

टिप्पणी—उत्तर दिशा (उत्तरायण) में पहुँच कर सूर्य जिस प्रकार से अत्यन्त दीप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार से द्रौपदी की बातें सुनकर अर्जुन अत्यन्त क्रोध से जल उठे। पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उपमा अलङ्कार की संसृष्टि।

अथाभिपश्यन्निव विद्विष पुर. पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः।
बभार रम्योऽपि वपु. स भीषणं गत क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अन्वय.—अथ विद्विष. पुरः अभिपश्यन् इव पुरोधसा आरोपितहेतिसंहति· सः रम्य. अपि आभिचारिकीं क्रिया गत. मन्त्र. इव भीषण वपु. बभार ॥५६॥

अर्थ—तदनन्तर शत्रुओं को सामने उपस्थित की तरह देखते हुए, पुरोहित (धौम्य) द्वारा मन्त्रोच्चारण सहित उपस्थित शस्त्रों से युक्त अर्जुन ने रम्याकृति होते हुए भी दूसरों के मारण-अनुष्ठान में प्रयुक्त मन्त्र के समान, अति भयङ्कर स्वरूप धारण कर लिया ॥५६॥

टिप्पणी—जिस प्रकार मारण आदि आभिचारिक अनुष्ठानों में नियुक्त मन्त्र भयङ्कर हो जाते हैं उसी प्रकार से मनोहर आकृति होते हुए भी धौम्य द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक उपस्थापित शस्त्रों से अर्जुन भयानक हो गये। उपमा।

अविलङ्घ्य विकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥५७॥
यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥५८॥
अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान्।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम् ॥५९॥

अन्वयः—परैः अविलङ्घ्यविकर्षणं प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्, अरिदृष्टिगोचरम् अगतौ शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी, गोत्रभिदायुधक्षतीः महसा यशसा इव मुहुः तिरोदधत्, सरत्नं ज्वलितज्योतिः दिवः अन्तरम् इव कवचं च उद्वहन्, सः अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवम् उर्वीधरवर्त्म सम्प्रयान् क्षणं उद्बाष्पदृशां तपोभृतां हृदयानि समाविवेश ॥५७-५९॥

अर्थ—शत्रुओं द्वारा जिसका खींचा जाना कभी व्यर्थ नहीं होता, जिसकी प्रत्यञ्चा को खींचने का कार्य प्रसिद्ध है। (ऐसे गाण्डीव धनुष तथा) जो शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे, तथा तेज तलवार से युक्त थे (ऐसे दो तरकस धारण किये हुए) देवराज इन्द्र के वज्र-प्रहार के चिह्नों से मानो अपने तेज से मूर्तिमान यश की भाँति बारबार आच्छादित* करने वाले तथा रत्नयुक्त होने के कारण मानो उज्ज्वल नक्षत्रों से युक्त आकाश के मध्य भाग की भाँति सुशोभित कवच को धारण किये हुए, अर्जुन ने अलकापति कुबेर के सेवक उस यक्ष द्वारा दिखाये गये निर्बाध हिमवान पर्वत के मार्ग पर जाते हुए, क्षणभर के लिए वियोग से दुःखित होने के कारण अश्रु से भरे नेत्रों वाले उन (द्वैतवन निवासी)

* मनुष्य की पीठ में जिस प्रकार उसके अनेक छिद्र छिप जाते हैं, उसी प्रकार।

तपस्वियों के चित्तों में प्रवेश कर लिया। (अर्थात् उनको अपने वियोग से खिन्न कर दिया) ॥५७-५६॥

टिप्पणी—अपने उत्कृष्ट गाण्डीव धनुष, तेज तलवार से युक्त दो तरकस तथा रत्न-जटित देदीप्यमान कवच को धारण कर अर्जुन हिमालय की ओर यक्ष के साथ चल पड़े। उस समय उन्हें इस प्रकार जाते देखकर द्वैत-वनवासी तपस्वियों का मन खिन्न हो गया। द्वितीय श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार की संसृष्टि तथा तृतीय श्लोक में पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः-
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं-
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः ॥६०॥

अन्वय.—अथ आशाः दिव्यं दुन्दुभिध्वानम् अनुजगुः, व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैः लक्ष्मीः वितेने, अनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः स्फुरन्तीं भुवम् प्रियं कथयिष्यन् इव आलिलिङ्ग ॥६०॥

अर्थ—तदनन्तर (तपस्या के लिये अर्जुन के चले जाने के पश्चात्) दिशाएँ आकाश में दिव्य दुन्दुभियों की आवाज करने लगीं, पारिजात आदि देव-कुसुमों की वृष्टि से आकाशमण्डल में विचित्र शोभा हो गई और तट पर पहुँचने वाली चञ्चल-तरंगरूपी भुजाओं से समुद्र भी मानो हर्षातिरेक से भरी पृथ्वी को प्रिय सन्देश सुनाते हुए की भाँति आलिंगन करने लगा ॥६०॥

टिप्पणी—अर्थात् सर्वत्र शुभ-शकुन होने लगे। दिशा, आकाश, समुद्र और पृथ्वी—सब आनन्द से भर गये। समुद्र पृथ्वी को यह शुभ सन्देश सुनाने लगा कि अब शीघ्र ही तुम्हारा असह्य भार उतरने वाला है, क्योंकि अन्यायियों के विनाशार्थ ही अर्जुन तपस्या करने जा रहे हैं। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति से अनुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से सङ्कर।

श्री भारवि कृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में तृतीय सर्ग समाप्त ॥३॥

चतुर्थ सर्ग

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥१॥

अन्वयः—ततः जनप्रियः सः कूजत्कलहंसमेखलाम् सपाकसस्याहितपाण्डुता-
गुणाम् भुवम् आसादितयौवनाम् प्रियाम् इव उपजनम् आससाद ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर सर्वजनप्रिय अर्जुन मधुर ध्वनि करती हुई मेखला
समान राजहंसों को धारण करनेवाली तथा पके हुये अन्नों से पीले वर्णों
पृथ्वी के पास, (मधुर ध्वनि करने वाले राजहंसों के समान मेखला धारण करने
वाली) युवावस्था प्राप्त अपनी प्रियतमा की भाँति जन समीप में (सखियों के समक्ष)
पहुँच गये ॥१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नायक उसकी सखियों के समक्ष अपनी युवती
प्रियतमा के पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार लोकप्रिय अर्जुन उस भूमि में पहुँ
गये, जहाँ कृषकों का निवास था। उपमा अलङ्कार।

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥२॥

अन्वयः—स विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीः अपेतपङ्काः ससरोरुहा-
उपायनीभूतशरद्गुणश्रियः उपसीम स्थलीः पश्यन् ननन्द ॥२॥

अर्थ—अर्जुन नीचे की ओर झुकी हुई धान की बालों से सुशोभित, प
निर्मल तथा कमलों से युक्त जलोंवाली ऐसी सरल मनोहर ग्राम-सीमा की भू
को देखते हुए बहुत हर्षित हुए जिनमें शरद् ऋतु की सम्पूर्ण समृद्धियाँ उ
भेंट रूप में अर्पित कर दी गई थीं ॥२॥

टिप्पणी—...

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः ॥३॥

अन्वयः—विस्मयाकुलैः उन्मीलितपद्मलोचनैः पयोभिः निरीक्ष्यमाणाः इव स्थिताः हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमाः शफरीविवृत्तयः अस्य मनः जह्रुः ॥३॥

अर्थ—आश्चर्य रस से भरे, खिले हुये कमल रूपी नेत्रों के द्वारा मानों जलों द्वारा देखी जाती हुई तथा प्रियतमा रमणियों के दृष्टि-विलास की चञ्चलता को हरण करने वाली शफरी (सहरी) मछलियों की उछल-कूद की चेष्टाओं ने अर्जुन के मन को हर लिया ॥३॥

टिप्पणी—मार्ग के सरोवरों में कमल खिले थे और सहरी मछलियाँ उछल-कूद रही थीं, जिन्हें देखकर अर्जुन का मन मुग्ध हो गया। रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का सङ्कर।

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥४॥

अन्वय.—स. सवारिजे वारिणि कलमस्य रामणीयकम् पश्यन् अधिकं तुतोष, सुदुर्लभे अनुरूपसङ्गमे प्रकर्षलक्ष्मीम् अभिनन्दितुं कः न अर्हति ॥४॥

अर्थ—अर्जुन कमलों से सुशोभित जल में जड़हन धान की मनोहर शोभा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। क्यों न होते? अत्यन्त दुर्लभ और योग्य व्यक्तियों के समागम की उत्कृष्ट शोभा का अभिनन्दन कौन नहीं करना चाहता? ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् ऐसे सुन्दर समागम की शोभा का सभी अभिनन्दन करते हैं। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसंतति ।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः ॥५॥

अन्वयः—उच्चकैः विवृत्तपाठीनपराहतम् आविष्कृतफेनसन्तति अवाप्तकिञ्जल्कविभेदम् पयः तस्य स्थलपद्मिनीगतम् वितर्कं नुनोद ॥५॥

अर्थ—ऊँचाई तक उछलती हुई रोहू नामक मछलियों से ताड़ित होने के कारण फेन समूहों को प्रकट करनेवाले तथा सटे हुये पद्मों के सर समूह से सुशोभित जल ने अर्जुन की (कमलों में) गुलाब सम्बन्धी शका को निवृ कर दिया ॥५॥

टिप्पणी—रोहू मछलियाँ जब ऊँचाई तक कूदती थीं, तब जल के ऊप तैरनेवाली पद्म केसर दूर हट जाती थी तथा निर्मल जल में फेनों के सम भी दिखाई पड़ने लगते थे, इससे कमलों के पुष्पों में अर्जुन को गुलाब पुष्प होने की जो शका हो रही थी, वह निवृत्त हो गयी। निश्चयोत्तर सन्देह अलकार।

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शांतरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतम् ॥६॥

अन्वयः—सः शनैः शनैः शिथिलत्वम् आयता शान्तरयेण वारिणा कृतोर्मिरेखं समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतं निरीक्ष्य रेमे ॥६॥

अर्थ—अर्जुन धीरे-धीरे क्षीणोन्मुख एव शान्त-वेग जल से निर्मित लहरों की रेखाओं से सुशोभित समुद्रपत्नी नदियों के भगिमायुक्त (चुन्नटदार) रेशमी साड़ी की भाँति शुभ्र बालुकामय तटों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥६॥

टिप्पणी—नदियों के जल ज्यों-ज्यों कम होने लगते हैं त्यों त्यों उनके बालुकामय तट पर शान्त लहरों के निशान साड़ियों के चुन्नट की भाँति सुशोभित होते जाते हैं। कवि उसी की उपमा स्त्री की उस साड़ी से कर रहा है जो चुनियाई गई हो। उपमा अलङ्कार।

[नीचे के तीन श्लोकों में धान की रखवाली करनेवाली स्त्रियों का वर्णन है—]

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलंकृतं केसररेणुनाणुना।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम् ॥७॥
नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥८॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विपा विभूषयन्तीमवतसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥६॥

अन्वयः—अणुना केसररेणुना अलङ्कृत मनोरम भ्रुवो, अन्तर प्रापित बन्धुधकम् अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीम् इव, महानिवेशौ पयोधरौ परितः हुः आहितं नवातपालोहितम् अरविन्दज रजः सर्पता परिश्रमाम्भः पुलकेन कासयन्तीम्, कपोलसश्लेपि अवतसकोत्पल विलोचनत्विपा विभूषयन्तीं कलमस्य गोपिका निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेन शरद' कृतार्थता मेने ॥७-६॥

अर्थ—महीन केसरों के पराग से अलङ्कृत होने के कारण मनोहर और दोनों भौहों के मध्य में स्थापित बन्धूक पुष्प की मानों जावक के रग से रँगे हुए अधरपल्लवों की शोभा से तुलना करती हुई-सी, पीन (विशाल) स्तनों के चारों ओर फेर से लगाये गये प्रातःकाल की धूप के समान लाल कमल-पराग को चूते हुए परिश्रमजनित पसीनों की बूँदों से अत्यन्त सुशोभित करती हुई तथा कपोल तट पर लगे हुए कान के आभूषण-कमल को अपने नेत्रों की कान्ति से विभूषित करती हुई, जड़हन धान को रखानेवाली रमणियों को देखकर पाडुपुत्र अर्जुन ने शरद् ऋतु की कृतार्थता को स्वीकार किया ॥७ ६॥

टिप्पणी—शरद् ऋतु के प्राकृतिक उपकरणों से अलङ्कृत रमणियों की सुन्दरता ही उस की सफलता थी । प्रथम छन्द में उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्त' पतितु जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणा' प्रस्नुतपीवरौधसः ॥१०॥

अन्वय·—पश्चिमरात्रिगोचराद् उपागताः जवेन गा पतितुम् अपारयन्त प्रस्नुतपीवरौधस, उत्सुका, गवा गणा' तम् अवेक्षणोत्सुक चक्रु, ॥१०॥

अर्थ—पिछली रात्रि में चरने के स्थान से लौटी हुई, वेग से भूमि पर दौड़ने में असमर्थ, अत्यन्त मोटे स्तनों से क्षीर-क्षरण करनेवाली एव अपने-अपने बच्चों के लिए उत्कण्ठित गौओं ने अर्जुन को अपने देखने के लिये समुत्सुक कर दिया ॥१०॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलकार ।

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिंधुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥११॥

अन्वयः—उक्षावजये जयश्रिया परितम् उच्चैः नदन्तं क्षतसिंधुरोधसम् शारदीं पुष्टिं दधतं गवाम् अधिपं सः सविग्रहं दर्पम् इव ददर्श ॥११॥

अर्थ—दूसरे (अपने प्रतिद्वन्द्वी) बलवान साँड़ को जीतकर विजय शोभा से समलङ्कृत, उच्च स्वर में गरजते हुए, नदी तट को (अपनी सींगों से) क्षत-विक्षत करते हुए, एवं शरद् ऋतु की पुष्टि को धारण करनेवाले (शरद् ऋतु के पौष्टिक घासों को चर कर खूब हृष्टपुष्ट) एक साँढ को अर्जुन ने मानों मूर्तिमान अभिमान की भाँति देखा ॥११॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥१२॥

अन्वयः—हिमानीविशदैः गवां कदम्बकैः मन्थरं विमुच्यमानैः अपि शरन्नदीनां पुलिनैः गलद्दुकूलैः जघनैः इव तस्य कुतूहलम् आदधे ॥१२॥

अर्थ—हिमराशि के समान श्वेत गौओं के समूहों द्वारा धीरे-धीरे छोड़े जाते हुए भी शरद्ऋतु की नदियों के तटों ने, रमणी के उस जघन-प्रदेश के समान अर्जुन के कुतूहल का उत्पादन किया, जिस पर से साड़ी नीचे सरक रही हो ॥१२॥

टिप्पणी—शरद् ऋतु के विशेषण का तात्पर्य यह है कि इसी ऋतु में नदियों के तट मनोहर दिखाई पड़ते हैं । उपमा अलकार ।

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥१३॥

अन्वयः—पाण्डवः पशूनां सहजन्मबन्धुतां गतान् गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः आर्जवे गोभिः कृतानुकारान् इव गोपान् उपधेनु ददर्श ॥१३॥

अर्थ—अर्जुन ने पशुओं के साथ सहोदर जैसी बन्धु-भावना रखनेवा-

वनों में (भी) वर जैसा प्रेम रखनेवाले तथा सरलता में मानों गौओं का अनुकरण करते हुये गोपों को गौओं के समीप देखा ॥१३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार।

[नीचे के चार श्लोकों में गोपियों की तुलना नर्तकियों से की गयी है—]

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलै. स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥१४॥

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणै. पाणिविहारहारिभि. ॥१५॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषित. ।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥१६॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनी' परिश्रमक्लान्त विलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितु नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥१७॥

अन्वयः—परिभ्रमन् मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितै. नवातपामृष्टसरोजचारुभि. मुखै. , निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा. प्रस्फुरितैकपल्लवाः लताः इव व्यपोढपार्श्वै. पाणिविहारहारिभि. विकर्षणै. अपवर्तितत्रिकाः , व्रजाजिरेषु अम्बुदनादशङ्किनीः मथाम् विवर्तनैः मुहु. प्रणुन्नेषु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् नदत्सु शिखण्डिनाम् योषित. उन्मदयत्सु , सः मन्थरावल्गितपीवरस्तनी परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः बल्लवी' अभिप्रनृत्ता. वारयोषित. इव निरीक्षितुम् न उपरराम ॥१४-१७॥

अर्थ—चचल भ्रमरों के समान घुँघराले बालो से सुशोभित, किञ्चित् मुस्कराने से प्रकाशित केसर के समान दाँतो से विभूषित, चचल कुडलो की कान्तियों से रंजित होने के कारण प्रातःकालीन सूर्य की किरणो से स्पर्श किए गए कमल के समान सुन्दर मुखो से युक्त, परिश्रम के कारण रुकी हुई श्वासो से कंपित अधरो के कारण एक-एक पल्लव जिनके हिल रहे हों—ऐसी लताओ के समान मनोज्ञ, बगलो के बारम्बार परिवर्तनो तथा (दधिमन्थन के कारण) हाथो के सञ्चालन से

मनोहर तथा (मथानी की रस्सियों के खींचने से) चञ्चल नितम्बोंवाली, गोप्रांगणों में मथन दण्डों के घुमाने से बारम्बार कम्पित होकर दधि अथवा दुग्ध के कलशों के मृदंगों के समान गम्भीर ध्वनि करने के कारण बादलों के गर्जन का भ्रम पैदा करके मयूरियों को उन्मत्त करती हुई, धीरे-धीरे चलने वाले पीन (विशाल) स्तनों से युक्त और परिश्रम से मलिन नेत्र-कमलों वाली गोपियों को, नृत्य-कार्य में लगी हुई वेश्याओं की भाँति देखते हुए अर्जुन नहीं थके ॥१४-१७॥

टिप्पणी—गोपियाँ गोष्ठों में दधि या दूध का मथन कर रही थीं, उस समय उनकी जो शोभा थी वह नर्तकी वेश्याओं के समान ही थी। नृत्य के समय नर्तकियों के अङ्गों की जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वही उस समय गोपियों की भी थीं। चारों श्लोकों में उपमा और स्वाभावोक्ति अलङ्कार की संसृष्टि है। तृतीय श्लोक में भ्रान्तिमान अलंकार।

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान्प्रसक्तसम्पातपृथक्कृतान्पथः ॥१८॥

अन्वयः—पूर्वाम् विजिह्मताम् जहतः वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान् प्रसक्तसंपातपृथक्कृतान् पथः पपात ॥१८॥

अर्थ—पूर्वकालिक अर्थात् वर्षा काल के टेढ़ेपन को त्याग कर शरद् ऋतु में सीधे बने हुए, बैलों द्वारा खाई गई दोनों ओर के सस्यों (फसलों) की सम्पत्ति वाले तथा रथों के चक्कों के आने-जाने से जिनके गीले कीचड़ घनीभूत हो गए थे एवं बहुतेरे लोगों के निरन्तर आने-जाने से जो स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, ऐसे पथों पर से होते हुए अर्जुन (आगे) चलने लगे ॥१८॥

टिप्पणी—वर्षा ऋतु में जगह-जगह पानी होने के कारण मार्ग टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं, किन्तु वही शरद् ऋतु में पानी के सूख जाने पर सीधे बन जाते हैं। मार्गों के दोनों ओर के खेतों के अन्न अथवा मार्ग प्रायः पशुओं द्वारा चर ली जाती है। गाड़ी अथवा रथ के चक्कों के आने जाने से गीले कीचड़

घनीभूत हो जाते हैं। लोगों के निरन्तर आने जाने से शरद् ऋतु में मार्ग स्पष्ट हो जाते हैं। स्वभावोक्ति अलंकार।

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥१६॥

अन्वयः—सः उपग्रामम् अनिन्द्यकर्मभिः विविक्तभावेङ्गितभूषणैः जनैः वृताः आश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः निवेशवीरुधः भृशम् ददर्श ॥१६॥

अर्थ—अर्जुन ने ग्रामों में अनिन्द्य अर्थात् प्रशंसनीय कार्य करने वाले शुद्ध अभिप्राय, चेष्टा तथा आभूषणों से अलंकृत ग्राम निवासियों द्वारा अधिष्ठित होने के कारण (द्वैतवन वासी) मुनियों के आश्रमों के लता-मण्डपों के समान शोभा देने वाली एवं खिले हुए पुष्पों से मानों हास करनेवाली गृहलताओं को आदर पूर्वक देखा ॥१६॥

टिप्पणी—गाँवों में किसानों के घरों के सामने लताएँ लगी थीं और उनके कुंजों की छाया में बैठकर वे आनन्दपूर्वक गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे। वे लताएँ मुनियों के आश्रमों में बने हुए लता मंडपों के समान थीं, क्योंकि उनके नीचे बैठनेवाले ग्राम्य-कृषक भी मुनियों के समान ही सीधे-सादे आचार-विचार वाले थे। उपमा अलंकार।

ततः स सम्प्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम्।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥२०॥

अन्वयः—ततः सः यक्षः शरद्गुणश्रियम् सम्प्रेक्ष्य शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् तम् अचोदितः अपि गाम् उवाच। हि इङ्गितज्ञः अवसरे न अवसीदति ॥२०॥

अर्थ—तदनन्तर उस यक्ष ने शरद् ऋतु की मनोहारिणी शोभा देखकर, शरद की शोभा को देखने में उत्सुक नेत्रों वाले अर्जुन से बिना कुछ पूछे ही बातें कहीं। गूढ़ संकेतों को समझने वाला बोलने का अवसर आने पर चूकता नहीं ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

इयं शिवाया नियतेरिवायति. कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।
जयश्रिय पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥२१॥

अन्वयः—हे पार्थ ! शिवायाः नियतेः आयतिः इव जगतः क्रियाः फलैः कृतार्थयन्ती प्रसन्नाम्बुः अनम्बुवारिदा इयम् शरत् ते जयश्रियम् पृथूकरोतु ॥२१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मङ्गलदायिनी भाग्य के फल देने वाले शुभ अवसर के समान संसार की समस्त क्रियाओं को फलों द्वारा कृतार्थ करती हुई, निर्मल जलों तथा जलहीन बादलों से सुशोभित यह शरद् ऋतु तुम्हारी विजयश्री का वर्द्धन करे ॥२१॥

टिप्पणी—निर्मल जल तथा जलहीन बादल—ये दोनों विशेषण पृथ्वी और आकाश दोनों की प्रसन्नता के परिचयार्थ हैं । उपमा अलङ्कार ।

उपैति सस्य परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कता मही ।
नवैर्गुणैः संप्रति संस्तवस्थिर तिरोहित प्रेम घनागमश्रियः ॥२२॥

अन्वयः—सस्य परिणामरम्यता उपैति नदीः अनौद्धत्यम् मही अपङ्कताम् उपैति, संप्रति नवैः गुणैः संस्तवस्थिरम् घनागमश्रियः प्रेम तिरोहितम् ॥२२॥

अर्थ—(इस शरद् ऋतु में) अन्न पकने के कारण मनोहर हो जाते हैं, नदियाँ निर्मल जल एवं स्थिर धारा होने के कारण रमणीय हो जाती हैं, पृथ्वी कीचड़-रहित हो जाती है । इस प्रकार अब अपने नूतन गुणों से इस शरद् ऋतु ने अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण वर्षाऋतु के सुदृढ़ प्रेम को निरर्थक बना दिया है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् चार महीनों से चलने वाली वर्षा ऋतु के मनोहर गुणों ने यद्यपि लोगों का उसके प्रति सुदृढ़ प्रेम हो गया था किन्तु इस शरद् ने थोड़े ही दिनों में अपने इन नूतन गुणों से उसे निरर्थक बना दिया । क्योंकि प्रेम उत्कृष्ट गुणों के अधीन होते हैं, परिचय के अधीन नहीं ।

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपंक्तयः ।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥२३॥

अन्वय.—अस्मिन् विशदा. पतत्रिण. न पतन्ति धृतेन्द्रचापा. पयोदपङ्क्तय. न पतन्ति, तथापि नभ. परम् श्रियम् पुष्णाति। रम्यम् आहार्यम् गुणम् न अपेक्षते ॥२३॥

अर्थ—इस शरद ऋतु में यद्यपि श्वेत पक्षीगण (बगुलों की पंक्तियाँ) नहीं उड़ते और न इन्द्र धनुष से सुशोभित मेघों की पंक्तियाँ ही उड़ती हैं, तथापि आकाश की निराली शोभा रहती है। क्यों न हो, स्वभाव से सुन्दर वस्तु सुन्दर बनाने के लिए बाहरी उपकरणों की अपेक्षा नहीं रखती ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभि.।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूना कृशता न राजते ॥२४॥

अन्वय.—कदम्बभर्तु. अत्यये म्लानतया विपाण्डुभि च्युताचिराभागुण-हेमदामभि. पयोधरै. दिग्वधूनाम् इयम् कृशता न राजते न ॥२४॥

अर्थ—वर्षा ऋतु रूपी पति के विरह में विद्युत्-रूपी सुवर्ण-हार से रहित तथा मलिनता (निर्जलता अथवा दुर्बलता) के कारण पाण्डु वर्ण (पीले रंग) को धारण करने वाले पयोधरों (मेघों तथा स्तन-मण्डलों) से युक्त (इन) दिशा-रूपी सुन्दरियों की यह दुर्बलता शोभा नहीं दे रही है—ऐसा नहीं अपितु अत्यन्त शोभा दे रही है ॥२४॥

टिप्पणी—पति के वियोग में पत्नी का मलिन, कृश तथा अलङ्कारविहीन होना शास्त्रीय विधान है। उस समय की उनकी शोभा इसी में है। वर्षा ऋतु रूपी पति की वियोग-व्यथा में दिगङ्गनाओं की यह दशा प्रोषितपतिका की भाँति कवि ने चित्रित की है। वर्षा ऋतु पति है, दिशाएँ स्त्रियाँ हैं, मेघ स्तन-मण्डल है, बिजली सुवर्ण हार है। रूपक अलङ्कार।

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिन.।
श्रुति श्रयत्युन्मदहंसनि स्वनं गुणा. प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तव. ॥२५॥

अन्वय —मदात्ययादरक्तकण्ठस्य शिखण्डिन उदिते रुते वाञ्छाम् विहाय श्रुति. उन्मदहंसनि.स्वनम् श्रयति। प्रियत्वे गुणा. अधिकृता संस्तव न ॥२५॥

अर्थ—(इस शरद् ऋतु में) मद के क्षय हो जाने से सुनने में अनाकर्षक अथवा कटु स्वर वाले मयूरों के उच्च स्वर के कूजन में अभिलाषा छोड़कर लोगों के कान अब मतवाले हंसों के कल-कूजन के इच्छुक हो गए हैं। क्यों न हो; प्रीति में गुण ही अधिकारी हैं, परिचय नहीं ॥२५॥

टिप्पणी—अर्थात् किसी चीज पर प्रेम होने का कारण उसके गुण हैं, चिरकाल का परिचय नहीं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥२६॥

अन्वय.—अमी फलस्य विपाकेन पिशङ्गताम् गताः पृथुस्तम्बभृतः शालयः वप्राम्भसि विकासि गन्धसूचितम् असितोत्पलम् निघ्रातुम् इव नमन्ति ॥२६॥

अर्थ—ये बालों के पक जाने से पीतिमा धारण करने वाले तथा मोटे-मोटे पुञ्जों वाले जड़हन धान के पौदे, जलयुक्त क्षेत्रों में विकसित होने वाले एवं मनोहर सुगन्ध से परिपूर्ण नील कमलों को मानो सूँघने के लिए नीचे की ओर झुके हुए हैं ॥२६॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥२७॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥२८॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम्।
ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥२९॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतामतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम्।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥३०॥

अन्वय.—मृणालिनीनाम् त्विषा अनुरञ्जितम् अम्भोजपलाशशोभया विभिन्नम् स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितम् द्रुतम् अहिविद्विषः धनुष्खण्डम् इव पयः,

का गलना लोक-प्रसिद्ध नहीं है। द्वितीय श्लोक में उपमा अलङ्कार है। तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति है तथा चतुर्थ में उत्प्रेक्षा है।

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।
असक्तमूधांसि पयः क्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥३१॥

अन्वय.—विहारभूमेः अभिघोषम् उत्सुकाः च्युतयूथपङ्क्तयः अमूः धेनवः असक्तम् पयः क्षरन्ति ऊधांसि शरीरजेभ्यः उपायनानि इव नयन्ति ॥३१॥

अर्थ—अपनी विहार भूमि से निवास-स्थल की ओर उत्कण्ठित, समूह से बिछुड़ी हुई ये गौएँ निरन्तर दुग्ध बहाती हुई अपने स्तनों को मानों अपने बछड़ों के लिये उपहार में लिये जा रही हैं ॥३१॥

टिप्पणी—जैसे माताएँ किसी मेले-ठेले से लौटते हुए अपने बच्चों के लिए उपहार लाती हैं, उसी प्रकार गौएँ भी अपने विशाल स्तनों को मानों उपहार की गठरी के रूप में लिए जा रही हैं। उनके स्तन इतने बड़े हैं कि वे शरीर के अंग की भाँति नहीं प्रत्युत गठरी के समान मालूम पड़ते हैं। उत्प्रेक्षा अलंकार।

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥३२॥

अन्वय.—जगत्प्रसूतिः जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठम् तनयैः उपेयुषी असौ गवाम् समितिः मन्त्रैः संहिताहुतिः इव समग्राम् द्युतिम् उपैति ॥३२॥

अर्थ—अपने घृत आदि हवनीय सामग्रियों के द्वारा संसार की स्थिति के कारण तथा संसार को पवित्र करने में एक मुख्य हेतुभूत ये गौओं के समूह गोष्ठ भूमि के समीप अपने बछड़ों से मिलकर, वेद-मन्त्रों से पवित्र आहुति के समान सम्पूर्ण शोभा धारण कर रहे हैं ॥३२॥

टिप्पणी—यज्ञ की आहुतियाँ भी संसार की स्थिति का कारण तथा संसार को पवित्र करने का एक मुख्य साधन हैं। क्योंकि कहा गया है—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' ॥

अर्थात् अग्नि में वेदमंत्रों से पवित्र आहुतियाँ आदित्य को प्राप्त होती हैं और आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है। उपमा अलंकार।

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनि:स्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥३३॥

अन्वय.—जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनि:स्वने कृतावधानम् इदं मृगीकदम्बकम् भूयसीम् जिघत्साम् अपहाय सस्यम् न अभ्येति ॥३३॥

अर्थ—मयूरों की षडज् ध्वनि को जीतनेवाली मधुर-कंठ गोपियों के गानों में दत्तचित्त यह हरिणियों का समूह खाने की प्रबल इच्छा को छोड़कर घासों की ओर नहीं जा रहा है ॥३३॥

टिप्पणी—मधुर स्वर में गानेवाली गोपियों के गानों के आकर्षण में इनकी भूख ही बन्द हो गई है।

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥३४॥

अन्वयः—शिरसा नमन्नपि अनास्थापरया सरोरुहिण्या अवधीरितः, सहाम्भसा शुष्यन् असौ कलमः मनोभुवा तप्त इव अभिपाण्डुताम् उपैति ॥३४॥

अर्थ—(नायक की भाँति) सिर झुकाकर प्रणत होने पर भी अनादर करने वाली (नायिका की भाँति) कमलिनी से तिरस्कृत होकर सहचारी जल के साथ सूखता हुआ यह जड़हन धान मानों कामदेव से सताए हुए की भाँति पीले वर्ण का हो रहा है ॥३४॥

टिप्पणी—जैसे कोई नायक कुपिता नायिका द्वारा अपमानित होकर कामाग्नि से सूख कर काँटा हो जाता है, वैसे ही शरदृतु में जड़हन धान भी पक कर पीले हो गए हैं। अतिशयोक्ति अलंकार से अनुप्राणित समासोक्ति और उपमा का अंगागी भाव से संकर।

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥३५॥

अन्वयः—समुद्धूतसरोजरेणुना हृतासारकणेन वायुना हृता अमी शिलीमुखाः आपदाम् उपागमे दुश्चरिताः इव गतिम् निश्चेतुम् नालम् ॥३५॥

अर्थ—उड़ते हुए कमल-परागों से भरे हुए तथा वर्षा के जल-कणों से युक्त (शीतल, मन्द, सुगन्ध) वायु द्वारा आकृष्ट ये भ्रमरों के समूह राजा आदि का भय उपस्थित होने पर चोरों एवं लम्पटों की भाँति अपने गन्तव्य का निश्चय नहीं कर पा रहे हैं ॥३५॥

टिप्पणी—अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है तथा भ्रमरावली उड़ती हुई गुञ्जार कर रही है। उपमा अलङ्कार।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥३६॥

अन्वयः—विद्रुमभङ्गलोहितैः मुखैः पिशङ्गीः कलमस्य शिखाः बिभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला असौ शुकावलिः गोत्रभिदः धनुःश्रियम् अनुगच्छति ॥३६॥

अर्थ—मूँगे के टुकड़ों की भाँति अपने लाल रँग के मुखों (चोंच) से पीले रँग की जड़हन धान की बालों को धारण किये हुए एवं विकसित शिरीष के पुष्प की भाँति हरे रँगवाले इन शुकों की पंक्तियाँ इन्द्र धनुष की शोभा का अनुसरण कर रही हैं ॥३६॥

टिप्पणी—तीन रङ्गों (लाल, पीले और हरे) के संयोग से इन्द्रधनुष की उपमा दी गई है। उपमा अलङ्कार।

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥३७॥

अन्वयः—अथ तत्र इति कथयति नातिदूरात् पिहितोष्णरश्मिबिम्बः नगाधिराजः विगलितजलभारशुक्लभासाम् अम्बुमुचाम् निचयः इव ददृशे ॥३७॥

अर्थ—इस प्रकार अर्जुन से बातें करते हुए उस यक्ष ने समीप से, भगवान भास्कर के मण्डल को छिपानेवाले पर्वतराज हिमालय को, जलभार से मुक्त होने के कारण श्वेत कान्तिवाले मेघों के समूह की भाँति देखा ॥३७॥

पाँचवाँ सर्ग

[निम्नलिखित पन्द्रह श्लोकों द्वारा कवि हिमालय पर्वत का वर्णन कर रहा है]

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया ।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं न विलङ्घयितुं नभः ॥१॥

अन्वय—अथ सः मेरुमहीभृतः जयाय नु रभसया दिगन्तदिदृक्षया नु नभः विलङ्घयितुम् न समुदितम् उच्छ्रितम् हिमाचलम् अभिययौ ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन उस हिमालय पर्वत के सम्मुख पहुँच गए, जो या तो सुमेरु पर्वत को जीतने के लिए, अथवा अत्यन्त उत्कण्ठा से दिशाओं का अवसान देखने के लिए, अथवा आकाश मण्डल का उल्लंघन करने के लिए मानों उछलकर अत्यन्त ऊँचा उठ खड़ा हुआ है ॥१॥

टिप्पणी—गम्योत्प्रेक्षा । द्रुतविलम्बित छन्द ।

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥२॥

अन्वय—एकतः तपनमण्डलदीपितम् अन्यतः सततनैशतमोवृतम् पुरः हसितभिन्नतमिस्रचयम् गजचर्मणा अनुगतम् शिवम् इव स्थितम् ॥२॥

अर्थ—एक ओर सूर्यमण्डल से सुप्रकाशित तथा दूसरी ओर रात्रि के घोर अन्धकार से आवृत (यह हिमालय) सामने की ओर अपने शुभ्र अट्टहास से अन्धकार को दूर करनेवाले तथा पिछले भाग को गजचर्म से विभूषित करनेवाले भगवान शङ्कर के समान है ॥२॥

टिप्पणी—हिमालय इतना ऊँचा है कि इसके एक ओर प्रकाश दूसरी ओर अन्धकार रहता है । शिव जी भी ऐसे ही हैं । उनका मुखभाग तो उनके

अट्टहास से प्रकाशमान रहता है और पृष्ठ भाग गजचर्म से आवृत होने के कारण काले वर्ण का है। अतिशयोक्ति अलङ्कार।

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ॥३॥

अन्वयः—अदृष्टपरस्परैः क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतम् शम्भुना विभुताम् प्रथयितुम् अभिनिर्मितम् जगताम् प्रतिनिधिम् इव ॥३॥

अर्थ—परस्पर एक दूसरे को न देखनेवाले पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गलोक के निवासियों द्वारा निवास स्थान बनाने के कारण (यह हिमालय) ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों शङ्कर भगवान ने अपनी कीर्ति के प्रचार के लिए संसार के प्रतिनिधि के रूप में इस का निर्माण किया है ॥३॥

टिप्पणी—यह शंकर भगवान के निर्माण-कौशल का ही नमूना है कि तीनों लोकों के निवासी यहाँ रहते हैं और कोई किसी को देख नहीं पाते। जो बात किसी दूसरे से नहीं हो सकती थी उसे ही तो शंकर भगवान करते आ रहे हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥४॥

अन्वयः—भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना तडित्वतीम् शरदम्बुदसंहतिम् लघयता निचयेन समुदितम् ॥४॥

अर्थ—शेषनाग के समान श्वेत-शुभ्र वर्ण की गगनचुम्बी, सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित चट्टानों से युक्त होने के कारण यह हिमालय विद्युत्-रेखाओं से युक्त शरदृतु के बादलों की पंक्तियों को तिरस्कृत करनेवाले शिखरों से अत्यन्त ऊँचा (दिखाई पड़ रहा) है ॥४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में यद्यपि शिखर शब्द नहीं आया है किन्तु प्रसंगानुरोध से 'निचय' शब्द का ही 'पाषाण निचय' अर्थात् शिखर अर्थ ले लिया गया है। उपमा अलंकार।

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधत मुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥५॥

अन्वयः—मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः उच्चशिलान्तरगोपुराः उदितपुष्पवनाः पुरः इव भुवः दधतम् ॥५॥

अर्थ—वस्त्रों के समान मणियों के किरण समूहों से चमकते हुए देवाङ्गनाओं द्वारा सेवित गृहों के समान लताओं से युक्त, ऊँचे-ऊँचे पुर द्वारों की भाँति शिलाखंडों के मध्य भागों से युक्त एव पुष्पों से समृद्ध वनों से सुशोभित नगरों के समान भूमि भागों को यह हिमालय धारण किये हुए है ॥५॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥६॥

अन्वय.—अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः अचिरद्युतितेजसा विरहितैः आरतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिः अम्बुदैः उदितपक्षम् इव ॥६॥

अर्थ—निरन्तर वृष्टि करने से जलशून्य होने के कारण श्वेत वर्णों वाले बिजली की चमक से विहीन, गर्जन रहित, एव विस्तृत नितम्ब अर्थात् मध्य भाग में फैले हुए बादलों से यह हिमालय ऐसा मालूम पड रहा है मानों इसके पर फिर से उग आये हों ॥६॥

टिप्पणी—पौराणिक कथाओं के अनुसार पूर्वकाल में सभी पर्वत पक्षधारी होते थे और जब जहाँ चाहते थे उड़ा करते थे। उनके इस कार्य से लोगों को सदा बड़ा भय बना रहता था कि न जाने कब कहाँ गिर पड़ें। देवताओं की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से सभी पर्वतों के पक्षों को काट डाला। उत्प्रेक्षा अलंकार।

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥७॥

अन्वयः—आकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैः असमैः तटैः महिताम्भसः विधिकामहिता स्फुटसरोजवनाः जवनाः नदीः दधतम् ॥७॥

अर्थ—(यह हिमालय) आकर अर्थात् खानों से उत्पन्न हाथियों द्वारा क्षत-विक्षत, स्नानादि योग्य स्थलों पर सम एवं अनुपम तटों से युक्त, प्रशस्त जलयुक्त होने के कारण विविध कामों के लिए हितकारी एवं विकसित कमलों के समूहों से सुशोभित वेगवती नदियों को धारण करने वाला है ॥७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इस हिमालय के जिन भागों में रत्नों की खानें हैं उनमें हाथियों की भी अधिकता है। वे हाथी नदियों के तटों को तोड़ा-फोड़ा करते हैं। किन्तु फिर भी स्नान करने योग्य स्थलों पर वे तट बहुत सम हैं। नदियों में कमल खिले रहते हैं तथा उनकी धारा बहुत तीव्र है। शब्दालंकारों में यमक और वृत्य अनुप्रास तथा अर्थालंकारों में समुच्चय है।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥८॥

अन्वयः—नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषाम् द्युतिमताम् महाश्मनाम् निकरेण क्वचित् निचितकाञ्चनभित्तिषु विहितसान्ध्यमयूखम् इव ॥८॥

अर्थ—नूतन विकसित जपाकुसुम की कान्ति के समान कान्तिवाली चमकती हुई पद्मरागमणियों के समूहों से कहीं-कहीं पर (यह हिमालय) सुवर्ण खचित भित्तियों वाली चोटियों पर मानों सायकाल के सूर्य की किरणों से प्रतिभासित-सा (दिखाई पड़ता) है ॥८॥

टिप्पणी—अर्थात् इस हिमालय की सुवर्णयुक्त भित्तियों में पद्मराग मणि की कान्ति जब पड़ती है तो वह सन्ध्या काल की सूर्य-किरणों की भाँति दिखाई पड़ता है। उत्प्रेक्षा अलंकार।

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥९॥

अन्वयः—पृथुकदम्बकदम्बकराजितम् ग्रथितमालतमालवनाकुलम् लघुतुषार तुषारजलश्च्युतम् धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥९॥

अर्थ—विशाल कदम्बों के पुष्प समूहों से सुशोभित, पंक्तियों में लगे हुए तमालों के वनों से संकुलित, छोटे-छोटे हिमकणों की वृष्टि करता हुआ एवं सर्वदा मद बरसाने वाले सुन्दरमुख गजराजों से युक्त (यह हिमालय) है ॥९॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुव ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधत न महीरुहः ॥१०॥

अन्वयः—रहितरत्नचयान् शिलोच्चयान् न दधतम् अपलताभवना दरीभुव न विपुलिनाम्बुरुहाः सरिद्वधूः न अकुसुमान् महीरुहः न ॥११॥

अर्थ—यह हिमालय रत्नराशिरहित कोई शिखर नहीं धारण करता, लता-गृहों से शून्य कोई गुफा नहीं धारण करता, मनोहर पुलिनों तथा कमलों से विहीन कोई सरिद्वधू (नव वधू की भाँति नदियाँ) नहीं धारण करता तथा बिना पुष्पों का कोई वृक्ष नहीं धारण करता ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि हिमालय की चोटियाँ रत्नों से व्याप्त हैं, गुफायें लतागृहों से सुशोभित हैं, नदियाँ मनोहर तटों तथा कमलों से समन्वित हैं तथा वृक्ष पुष्पों से लदे हैं। नदियों की वधू के साथ उपमा देकर पुलिनों की उनके जघन स्थल तथा कमलों की उनके मुख से उपमा गम्य होती है।

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः ॥११॥

अन्वयः—अनीरशनैः घनैः अमरलोकवधूजघनैः शनैः व्यथितसिन्धुम् दयितरम्यलताबकुलैः फणभृताम् कुलैः अभितः ततम् विततम् ॥१२॥

अर्थ—(यह हिमालय) सुन्दर मेखलाओं से सुशोभित, सघन देवांगनाओं के जघन-स्थलों से धीरे-धीरे क्षुब्ध धारावाली नदियों एवं मनोहर लताओं एवं केशरों के प्रेमी सर्पों से चारों ओर व्याप्त एवं विस्तृत है ॥१२॥

टिप्पणी—यमक और वृत्यनुप्रास अलङ्कार।

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ॥१२॥

अन्वय.—अनेकमणिप्रभैः हिमपाण्डुभिः शिखरैः ससुरचापम् अपपयोविशदम् अविचलम् ध्वनितसूचितम् अम्बुमुचाम् चयम् उपबिभ्रतम् ॥१२॥

अर्थ—अनेक प्रकार की विचित्र मणियों की प्रभा से सुशोभित हिमशुभ्र शिखरों से (यह हिमालय) इन्द्र-धनुष से युक्त, जलरहित होने के कारण श्वेत एवं निश्चल (अतएव शिखर की शंका कराने वाले किन्तु) गर्जन से अपनी सूचना देने वाले मेघ-समूहों को धारण करता है ॥१२॥

टिप्पणी—जल न होने से मेघ श्वेत एवं निश्चल हो जाते हैं, हिमालय के शिखर भी ऐसे ही हैं। मेघों में इन्द्रधनुष की रंग-बिरंगी छटा होती है तो वह विचित्र मणियों की प्रभा के कारण हिमालय के शिखरों में भी है। केवल गर्जन ऐसा है, जो शिखरों में नहीं है और इसी से दोनों में अन्तर मालूम पड़ते हैं। सन्देह अलङ्कार।

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम्।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥१३॥

अन्वय.—विकचवारिरुहम् सकलहंसगणम् शुचि मानसम् सरः दधतम् कृतेर्ष्यया अगात्मजया सकलहम् सगणम् शुचिमानसम् शिवम् च (दधतम्) ॥१३॥

अर्थ—नित्य विकसित होने वाले कमलों से सुशोभित तथा राजहंसों से युक्त निर्मल मानस सरोवर को एवं किसी कारण से कदाचित् कुपिता पार्वती के साथ कलह करने वाले अपने गणों समेत अविद्यादि दोषों से रहित भगवान् शंकर को (यह हिमालय) धारण किये हुए है ॥१३॥

टिप्पणी—संसार के अन्य पर्वतों से हिमालय की यही विलक्षणता है। यमक अलङ्कार।

अर्थ—तदनन्तर धनपति कुवेर के उस सेवक यक्ष ने हिमालय की अलौकिक छटा के अवलोकन से आश्चर्य-चकित अर्जुन से आदरपूर्वक यह प्रिय वचन कहे। वाचालता (ऐसे ही) उचित अवसरों पर शोभा देती है ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् मनुष्य उचित अवसर समझकर बिना पूछे भी यदि कुछ कह देता है तो उसकी शोभा होती है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम्।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥१७॥

अन्वयः—हिमगौरैः शिरोभिः घनवर्त्म सहस्रधा कुर्वन् इव एषः अचलाधिपः विलोकितः प्रजानाम् अंहसाम् संहतिम् सहसा विहन्तुम् अलम् ॥१७॥

अर्थ—हिम के कारण शुभ्र शिखरों से मेघ-पथों को मानों सहस्रों भागों में विभक्त करता हुआ यह पर्वतराज हिमालय देखने मात्र से लोगों के पाप-समूहों को नष्ट करने मे समर्थ है ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् इसे देखने मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है। औपच्छन्दसिक वृत्त।

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिवपरं पद्मयोनिः परम् ॥१८॥

अन्वयः—इह असुतरम् अन्तरम् दुरधिगमैः आगमैः किञ्चिदेव सततम् वर्णयन्ति। (किन्तु) अतिविपिनम् दिग्व्यापिनम् अमुम् परम् पुरुषम् इव पद्मयोनिः एव वेद ॥१८॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत के दुस्तर अन्तर्वर्ती अर्थात् मध्य भाग को कठिनाई द्वारा चढ़ने योग्य वृक्षों से (उनपर चढ़कर पक्षान्तर में पुराणादि का अध्ययन कर) कुछ-कुछ बताया जा सकता है, किन्तु इस अत्यन्त गहन एवं दिगन्तव्यापी पर्वतराज को परमात्मा के समान सम्पूर्णरीति से केवल पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्मा जी ही जानते हैं ॥१८॥

टिप्पणी—अर्थात् ब्रह्मा के सिवा कोई दूसरा इसके विशाल स्वरूप को नहीं जानता। क्षमा वृत्त। उपमा और यमक अलकारों की संसृष्टि।

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥१६॥

अन्वयः—अयम् रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैः उपलसज्जलजैः जलराशिभिः उपका-न्तम् धृतिमतीः अपि स्त्रियः सन्ततम् उत्सुकताम् नयति ॥१६॥

अर्थ—यह हिमालय अपने मनोहर पल्लवों एवं पुष्पों से सुशोभित लता मण्डपों तथा विकसित कमलों से समन्वित सरोवरों से अपने प्रियतम के समीप में स्थित धैर्यशालिनी मानिनी रमणियों को भी निरन्तर उत्सुक बना देता है ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् जो मानिनी रमणियाँ पहले अपने समीपस्थ भी प्रियतमों का अपमान करती थीं वे भी उत्कण्ठित हो उठती हैं, उनकी मान ग्रंथि इस हिमालय में आने से छूट जाती है। अतिशयोक्ति अलंकार। द्रुतविलम्बित छन्द।

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृताऽतिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥२०॥

अन्वयः—नयवता अयवता सदा सुलभैः निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः धनैः अमुना क्षितिभृता अतिभृता जगती जगती समतीत्य भाति ॥२०॥

अर्थ—नीतिपरायण एवं भाग्यशाली पुरुषों के लिए सर्वदा सुलभ एवं महापद्म आदि नव निधियों एवं यक्षों के अधिपति कुबेर को भी प्रसन्न करने वाले उत्कृष्ट धन-सम्पत्तियों के द्वारा इस पर्वतराज हिमालय से परिपूर्ण यह पृथ्वी स्वर्ग और पाताल—दोनों लोकों को जीत कर सुशोभित होती है ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात जो सम्पत्तियाँ देवताओं एवं यक्षों को भी दुर्लभ हैं वे यहाँ हैं। नव निधियाँ ये हैं—

अन्यी पद्मो (१) महापद्मो (२) शङ्खो (३) मकर कच्छपौ (४-५)।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च (६-७ ८) खर्वश्च (९) निधयो नव ॥

[illegible] और यमक की संसृष्टि। प्रमिताक्षरा छन्द।

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥२१॥

अन्वय—मन्ये इदम् अखिलम् त्रिभुवनम् अपि अमुष्य गौरीगुरो तुलाम् नैति
् जनैः अविदितविभवः भवानीपतिः सदा एनम् अधिवसति ॥२१॥

अर्थ—मैं मानता हूँ कि यह सम्पूर्ण त्रैलोक्य भी इस पर्वतराज हिमालय
ी तुलना नहीं कर सकता क्योंकि जिनकी महिमा लोग नहीं जान पाते ऐसे
वानीपति भगवान शंकर सर्वदा इस पर्वत पर निवास करते हैं ॥२१॥

टिप्पणी—अर्थात् यह धर्मक्षेत्र है । प्रभावृत्त ।

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥२२॥

अन्वय—वीतजन्मजरसम् ब्रह्मण परम् शुचि पदम् उपैतुम् इच्छताम् आग-
ात् इव तमोपहात् इतः भवच्छिदः मतयः सम्भवन्ति ॥२२॥

अर्थ—जिसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म और वृद्धता का भय बीत जाता है, ऐसे
ह्म के परमोत्कृष्ट पद अर्थात् मुक्ति को पाने के इच्छुक लोगों के लिए शास्त्रों
ी भाँति अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले इस हिमालय से संसार के कष्टों
को नष्ट करने वाली बुद्धि अर्थात् तत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् यह केवल भोगभूमि नहीं है प्रत्युत मुक्ति प्राप्ति करने
का भी पुण्य-स्थल है । रथोद्धता छन्द ।

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ॥२३॥

अन्वयः—अस्मिन् सचरणलाक्षारागाः निपतितपुष्पापीडाः पीडाभाजः कुसुम-
चिताः दिव्यस्त्रीणाम् शय्याः रागायाते साशंसम् सुरतविशेषम् शंसन्ति ॥२३॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत में देवांगनाओं के लिए पुष्पों से रचित शैय्याएँ
उनके चरणों में लगाये हुए महावर के रंग में निश्चित गिरे हुए मुरझाये पुष्पों

से युक्त एव विमर्दित दशा मे अत्यन्त कामोद्रेक की अवस्था में की गई सतृष्ण विशेष सुरत क्रियाओं की सूचना देती हैं ॥२३॥

टिप्पणी—धेनुकादि विपरीत बन्धों की सूचना मिलती है। जलधरमाला छन्द ।

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम्।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमौषधयः ॥२४॥

अन्वयः—जगताम् महिते अत्र औषधयः नयशालिनि अधिपतौ श्रियः इव गुणसम्पदा परम् महिमानम् समधिगम्य ज्वलितुम् न विरमन्ति ॥२४॥

अर्थ—इस संसार-पूज्य हिमालय मे औषधियाँ नीतिमान राजा मे राज्य लक्ष्मी की भाँति क्षेत्रीयगुणों की सम्पत्ति से (राजा के पक्ष में सन्ध्या, पूजन, तर्पणादि गुणों से) अत्यन्त शक्ति प्राप्त कर अहर्निश प्रज्वलित रहने से विश्राम नहीं लेतीं ॥२४॥

टिप्पणी—अर्थात् रात दिन प्रज्वलित रहा करती हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सन्ध्या-पूजनादि गुणों से नीतिमान राजा के प्रताप की अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार से हिमालय के क्षेत्रीय गुणों से उस पर उगी औषधियाँ सदा प्रज्वलित रहती हैं। उपमा अलंकार प्रमिताक्षरा छन्द ॥२४॥

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम्।
इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ॥२५॥

अन्वयः—इह कुररीगणः कृतरवः तरवः कुसुमानताः कमलम् सकमलम् वरणावरणाः सनलदानलदाः सिन्धवः करिणाम् मुदे "भवन्ति" ॥२५॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत में कुररी पक्षी बोल रहे हैं, वृक्ष पुष्पभार से नीचे को झुक गये हैं, जलाशय कमलों से सुशोभित हैं, वृक्षों के आवरण एवं उशीरों से युक्त सन्ताप दूर करने वाली नदियाँ हाथियों का आनन्द बढ़ाने वाली हैं ॥२५॥

टिप्पणी—वृक्षों के आवरण का तात्पर्य है, तटवर्ती सघन वृक्ष पंक्तियों से

सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धै-
रामोद मदजलसेकज दधानः ।
एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले-
लीनालिः सुरकरिणां कपोलकापः ॥२६॥

अन्वयः—एतस्मिन् अपनिद्रचूतगन्धैः सादृश्यम् गतम् मदजलसेकजम् आमोदम् दधान. लीनालि. सुरकरिणाम् अकाले कोकिलान् मदयति ॥२६॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत में बौरे हुए आम की मञ्जरी की सुगन्ध के समान सुगन्धित मदजल के सिञ्चन से उत्पन्न सुगन्ध धारण करने वाले, भ्रमरों से व्याप्त देवगजों के कपोलों (गण्डस्थलों) के घर्षण के स्थान (अर्थात् वृक्षों की शाखाएँ) बिना वसन्त ऋतु के ही कोकिलों को उन्मत्त बना देते हैं ॥२६॥

टिप्पणी—विभावना उपमा और काव्यलिंग अलङ्कारों का अङ्गागी भाव से सङ्कर और भ्रान्तिमान अलङ्कार की व्यञ्जना भी है । प्रहर्षिणी छन्द ।

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।
मता फणवतोऽवतो रसपरापरास्तवसुधा सुधाधिवसति ॥२७॥

अन्वयः—सनाकवनितम् नितम्बरुचिरम् सुनिनदै. नदैः वृतम् अमुम् अवतः फणवतः मता रसपरा परास्तवसुधा सुधा चिरम् अधिवसति ॥२७॥

अर्थ—अप्सराओं से युक्त मनोहर कटि प्रदेश से सुशोभित कलकल शब्द करने वाले नदों से व्याप्त इस पर्वतराज हिमालय पर पाताल लोक के रक्षक नागराज वासुकि की अत्यन्त उत्कृष्ट प्यारी स्वादुयुक्त एव भूलोक को त्यागने वाली सुधा चिरकाल से निवास करती है ॥२७॥

टिप्पणी—इस पर्वत के अतिरिक्त संसार में अन्यत्र कहीं भी सुधा नहीं है । यह सुमेरु की समानता करने वाला है । समासोक्ति अलकार और यमकालंकार की संसृष्टि । जलोद्धतगति वृत्त ।

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः ।
शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।

अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः ।
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ॥२८॥

अन्वय.—अस्मिन् श्रीमत् लताभवनम् ओषधयः प्रदीपाः नवानि हरिचन्दनपल्लवानि शय्या. रतिश्रमनुद सरोजवाताश्च सुरसुन्दरीभ्यः दिवः स्मर्तुम् न दिशन्ति ॥२८॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर शोभायुक्त लता-मण्डप रूपी भवन, प्रकाशमान औषधि रूप के दीपक, नूतन कल्पवृक्ष के पल्लव रूपी शय्याएँ तथा सुरत के श्रम को दूर करने वाला कमल वन का वायु—ये सभी सामग्रियाँ देवांगनाओं को स्वर्ग का स्मरण नहीं करने देतीं ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् देवांगनाएँ स्वर्ग को भी भूल जाती हैं । उनके लिए यह स्वर्ग से बढ़ कर सुखदायी है । वसन्ततिलका छन्द । रूपक अलंकार ।

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या-
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः ।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्या

श्च्योतन्निदाघसलिलांगुलिना करेण ॥२९॥

अन्वय.—ईशार्थम् चिराय अम्भसि तपश्चरन्त्याः यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः भवान्याः अग्रकरम् भवः श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण अत्र आलम्बत ॥२९॥

अर्थ—भगवान् शंकर को प्राप्त करने के लिए चिरकाल तक जल में तप-साधना में लगी हुई, क्षुद्र जल-जन्तुओं के कूदने से चकित नेत्रों वाली पार्वती जी के पाणि को शंकर जी ने चूते हुए पसीने की बूँदों से युक्त अँगुलियों वाले अपने हाथ से इसी पर्वत पर ग्रहण किया था ॥२९॥

टिप्पणी—अर्थात इसी हिमालय पर पार्वती जी का पाणिग्रहण हुआ था । वसन्ततिलका छन्द । भाविक अलंकार ।

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।

व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥३०॥

अन्वयः—येन देवासुरैः अपविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा अम्बुनिधिः अमृतम् ममन्थे। अहिपतेः व्यावर्तनैः आहिताङ्कः सः अयम् मन्दराद्रिः खम् व्यालिखन् इव विभाति ॥३०॥

अर्थ—जिस (मन्दराचल) के द्वारा देवताओं और असुरों ने अमृत प्राप्ति के लिए समुद्र-मन्थन किया था और जिससे समुद्र का जल अत्यन्त क्षुब्ध हो गया था और पाताल लोक स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा था। सर्पराज वासुकि के मथानी की रस्सी की भाँति लपेटने से चिह्नित वह यही मन्दराचल है जो आकाश मण्डल का मानों भेदन-सा करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥३०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार।

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ॥३१॥

अन्वयः—इह अशिशिररश्मेः उस्रैः नीतोच्छ्रायम् आनीलाभैः रत्नैः विरचितपरभागा हंसश्येनी स्फटिकरजतभित्तिच्छाया अह्नः मध्येऽपि मुहुः ज्योत्स्नाशङ्काम् वितरति ॥३१॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर सूर्य की किरणों द्वारा विस्तारित तथा इन्द्रनील मणि की समीपता के कारण अत्यधिक उत्कर्ष अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त हंस के समान श्वेतवर्ण की स्फटिक एवं चाँदी की भित्तियाँ मध्याह्न काल में भी बारम्बार चाँदनी की शंका उत्पन्न करती हैं ॥३१॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलंकार।

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥३२॥

अन्वयः—इह मृदु पतता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनि जनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु. विलासशालि नृत्यम् दधत इव ॥३२॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर मन्द-मन्द बहने वाली वायु द्वारा कम्पित कमलवृन्द विलासिनी रमणियों की कुटिल भौहों के समान तरंगयुक्त जलराशि में मानो मनोहर नृत्य-सा करते हुए दिखाई पड़ते हैं ॥३२॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार। पुष्पिताग्रा छन्द।

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलील-
माबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणि. ॥३३॥

अन्वयः—अस्मिन् पिनाकभृता अधीरविलोचनायाः ईश्वरायाः विन्यस्तमङ्गलमहौषधि. आबद्धवेपथुः पाणिः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण सलीलम् अगृह्यत ॥३३॥

अर्थ—इसी हिमालय पर्वत पर पिनाकपाणि भगवान् शंकर ने (सर्पदर्शन से भयभीत होने के कारण) चकितलोचना पार्वती जी के यवांकुर आदि मांगलिक उपकरणों से अलङ्कृत कम्पित हाथ को लीलापूर्वक ग्रहण किया था और उस समय उनके हाथ से सर्परूप कौतुक-सूत्र नीचे की ओर खिसक पड़ा था ॥३३॥

टिप्पणी—पार्वती जी के पाणिग्रहण के समय सर्प शंकर जी के हाथ की कलाई में कौतुक-सूत्र की भाँति विराजमान था। जिस समय वह शंकर जी पार्वती जी का पाणि-ग्रहण करने लगे उस समय उनके हाथ का सर्प नीचे की ओर सरकने लगा। उस सर्प को देखकर पार्वती जी भयत्रस्त हो गयीं और उनके हाथ काँपने लगा। वसन्ततिलका छन्द भाविक अलङ्कार।

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यै-
स्तेजोभि. शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः।
उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्ते·
पर्यस्यन्निह निचय· सहस्रसंख्याम् ॥३४॥

अन्वयः—इह घनपदवीम् क्रामद्भिः अनेकसंख्यैः शुचिमणिजन्मभिः तेजोभिः मिश्र. पर्यस्यन् सप्तसप्तेः उस्राणाम् निचय सहस्रसंख्याम् व्यभिचरति इव ॥३४॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर आकाश-मण्डल में व्याप्त बहुसंख्यक स्फटिक मणियों से उत्पन्न किरण-जालों से मिश्रित होने के कारण फैलता हुआ सूर्य की किरणों का समूह मानों अपनी नियत सहस्र की संख्या का अतिक्रमण-सा करता है ॥३४॥

टिप्पणी—हिमालय पर्वत पर स्फटिक की सहस्रों किरणें नीचे की ओर से आकाश में चमकती रहती हैं, ऊपर से सूर्य की किरणें चमकती हैं। दोनों का जो मेल हो जाता है तो ऐसा मालूम होता है मानों सूर्य की किरणों की संख्या अपनी नियत सहस्र-संख्या से ऊपर बढ़ गई है। उत्प्रेक्षा अलंकार।

व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः।
स एष कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः ॥३५॥

अन्वयः—यस्मिन् धनाधिप· पुराम् विजेतु· धृतये उच्चगोपुरम् पुरम् व्यधत्त। सः एषः कैलास. उपान्तसर्पिण विवस्वत· अकाले अस्तमयम् करोति ॥३५॥

अर्थ—जिस कैलास पर्वत पर कुबेर ने त्रिपुरविजयी भगवान् शंकर के सन्तोष के लिए उन्नत गोपुरों (फाटकों) से समलंकृत अलकापुरी का निर्माण किया था, यह वही कैलास है जो अपनी सीमा में संचरण करनेवाले सूर्य नारायण को समय के पहले ही मानों अस्त-सा बना देता है ॥३५॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति से उत्थापित गम्योत्प्रेक्षा अलंकार। वंशस्थ वृत्त।

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वंतःसानु वप्रान्तरेषु।
बद्धांबद्धां भित्तिशङ्कामभुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहंति ॥३६॥

अन्वयः—अमुष्मिन् अन्तःसानु नानारत्नज्योतिषाम् सन्निपातै. छन्नेषु वप्रान्तरेषु बद्धाबद्धाम् भित्तिशङ्काम् आवान् आवान् मातरिश्वा निहन्ति ॥३६॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत के शिखरों पर विविध प्रकार के रत्नों के प्रभापुंजों से आच्छादित होने पर उनके वप्रान्तर अर्थात् कगारों के बीच के स्थल-भाग

सुदृढ़ दीवाल की शंका उत्पन्न करते हैं, किन्तु बारम्बार पवन का आगमन उ
शङ्का को निवृत्त कर देता है ॥३६॥

टिप्पणी—रत्नों के प्रभापुञ्जों से व्याप्त होने के कारण शिखरों के गह्वर
खड्ड भी सुदृढ़ दीवाल की शंका उत्पन्न करते हैं किन्तु जब हवा का आ
बारम्बार चलता है और उनका अवरोध नहीं होता तो शंका दूर हो जाती है
क्योंकि यदि दीवाल रहती तो हवा रुक जाती। निश्चयान्त सन्देह अलंकार
शालिनी छन्द।

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः
श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तवकाचितानां
शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥३७॥

अन्वयः—अस्मिन् शाद्वलेभ्यः रम्या नवद्युतिः न अपैति। नलिनीवना
अनुदिनम् श्यामी भवन्ति। विचित्रकुसुमस्तवकाचितानाम् शाखाभृताम् पल्लवानि
न परिणमन्ति ॥३७॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत पर नूतन घासों से व्याप्त प्रदेशों की मनोहर
नूतन शोभा कभी दूर नहीं होती, नील कमलों के वन प्रतिदिन नूतन श्यामल
धारण करते हैं, और रंग बिरंगे पुष्पों के गुच्छों से सुशोभित वृक्षों के पल्ल
कभी पुराने नहीं होते ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् यहाँ सभी वस्तुएँ सदा नूतन बनी रहती हैं। किसी में
पुरानापन नहीं आता। पर्यायोक्ति अलंकार। वसन्ततिलका छन्द।

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ॥३८॥

अन्वयः—इह परिसरविषयेषु मृगीभिः हरिततृणोद्गमशङ्कया लीढमुक्ता नव
शुककोमलाः मणीनाम् भासः रविकरसंवलिताः फलन्ति ॥३८॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत के इर्द-गिर्द के प्रदेशों में हरिणियों द्वारा नवीन
तृणों के अङ्कुर की आशङ्का से पहले चाट कर पीछे छोड़ दी गयीं, नूतन शु

के पत्तों के समान हरे रंग की मरकतमणियों की कान्तियाँ सूर्य-किरणों से मिश्रित होकर अधिकाधिक प्रकाशयुक्त हो जाती हैं ॥३८॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार।

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा—
दुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥३९॥

अन्वय.—वात्याभिः उद्धूतः अमुष्मात् उत्फुल्लस्थलनलिनीवनात् वियति समन्तात् विवर्तितः सरसिजसम्भवः परागः कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् आधत्ते ॥३९॥

अर्थ—इस पर्वत में बवंडरों द्वारा उड़ाये जाने पर इसमें दिखाई पड़नेवाले विकसित स्थल कमलिनीवन से उड़ता हुआ चारों ओर आकाश में मंडलाकार रूप में फैला हुआ कमलपराग सुवर्णमय छत्र की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार।

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥४०॥

अन्वयः—इह उषसि सुरापगायाम् सयावकसव्यपादरेखा विषमपदा पदवी विवर्तनेषु सनियमयोः शिवयोः शरीरयोगम् कथयति ॥४०॥

अर्थ—इस पर्वत में उषाकाल के समान सुरनदी गंगा के तट पर लाक्षा अर्थात् महावर के रंग से रँगे हुए बायें चरण की रेखा से चिन्हित तथा छोटी-बड़ी विषम पद-पंक्तियों से युक्त परिक्रमा-मार्ग सन्ध्यावन्दनादि नियमों में लगे हुए उमाशंकर के अर्धनारीश्वर रूप का परिचय देता है ॥४०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इस कैलाश पर्वत पर अत्यन्त प्रातःकाल में भगवान् अर्द्धनारीश्वर उमाशंकर गङ्गा तट पर सन्ध्यावन्दनादि करते हैं, जिससे

उनके बाएँ पेर तथा दाहिने पेर की छोटी-बड़ी पद-पंक्तियाँ यहाँ सुशोभित हैं। अर्धनारीश्वर रूप में पार्वती का पैर बायाँ होता है, जिसमें महावर रहते हैं और वह दाहिने पैर की अपेक्षा छोटा भी होता है। अर्थात् शिव-ा का यह विहार-स्थल है। सन्ध्यावन्दनादि के क्षणों में भी वे परस्पर विरः सहन कर सकते। काव्यलिंग अलकार।

सम्मूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालै-
रालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम्।
धर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्ना-
मादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥४१॥

अन्वय.—इह रजतभित्तिमयूखजालैः सम्मूर्च्छताम् आलोलपादपलत निर्गतानाम् धर्मद्युतेः धाम्नाम् आदर्शमण्डलनिभानि पटलानि मुहु ल्लसन्ति ॥४१॥

अर्थ—इस पर्वत पर चाँदी की भित्तियों के किरण समूहों से बहुल प्राप्त एवं चञ्चल वृक्षों एवं लताओं के मध्यभागों से निकली हुई सूर्य की के दर्पण बिम्ब के समान मण्डल बारम्बार प्रस्फुटित होते हैं ॥४१॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्ति-
र्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा
कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥४२॥

अन्वय—शुक्लैः मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिः वप्राभिघातपरिमण्ड देहः गणभर्तुः उक्षा वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् कुर्वन् अमुष्य भजते ॥ ४२ ॥

अर्थ—श्वेत किरण-समूहों से व्याप्त शरीर, सींगों से मिट्टी कुरेद वप्रक्रीडा में मग्न होने के कारण अपने विशाल शरीर को समेटे हुए,

धिपति शकर का वाहन भूत नन्दिकेश्वर युवतियों के मन में चन्द्रमा की भ्राति उत्पन्न करते हुए उस पर्वत के शिखरों का आश्रय लेता है ॥४२॥

टिप्पणी—सन्देह, भ्रान्तिमान तथा काव्यलिंग अलकारों का अङ्गागी भाव से सकर।

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले।
खण्डितविग्रह् बलभिदो धनुरिह् विविधाः
पूरयितु भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥४३॥

अन्वय.—इह विविधाः शिखरमणिरुच. सम्प्रति लघुनि क्षीणपयसि (अत एव) भिदा उपेयुषि जलधरपटले शनकैः लब्धजन्म (अत एव) खण्डितविग्रहम् बलभिदः धनु॰ पूरयितु विभव भवन्ति ॥४३॥

अर्थ—इस पर्वत में शिखरों की मणि कान्तियाँ इस शरदऋतु में क्षीण जल वाले एव छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभक्त मेघमडलों में किसी प्रकार से उत्पन्न होने के कारण छिन्न अथवा अस्पष्ट स्वरूप वाले इन्द्रधनुष की पूर्ति करने में समर्थ होती हैं ॥४३॥

टिप्पणी—अर्थात् छोटे-छोटे श्वेत बादलों में मणियों की प्रभाएँ चमक कर इन्द्रधनुष की पूर्ति कर देती हैं। अतिशयोक्ति अलकार। वंश पत्र पतित छन्द।

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह् वनान्तमिन्दुलेखा ॥४४॥

अन्वय.—इह शम्भो इन्दुलेखा स्नपितनवलतातरुप्रवालै॰ अमृतलवस्रुतिशालिभिः मयूखै. सततम् असितयामिनीषु वनान्तम् अमलयति ॥४४॥

अर्थ—इस पर्वत में भगवान् शकर के भाल में स्थित चन्द्रमा की कान्ति नूतन लताओं और वृक्षों के पल्लवों को सींचनेवाली एवं अमृत-बिन्दु बरसाने वाली अपनी किरणों से सर्वदा कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी वन प्रदेशों को धवल बनाती रहती है ॥४४॥

टिप्पणी—अन्य पर्वतों में यह नहीं है, यह इसकी विशेषता है। व्यति अलंकार की व्यंजना।

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम्।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥४५॥

अन्वयः—यः अनुवनं वितता रौचनकीं रुचम् बृहद्बृहतिका इव क्षिप अनेकहिरण्मयकन्दरः अयम् तव पितुः दयितः जगतीधरः ॥४५॥

अर्थ—जो पर्वत विस्तृत चादर की भाँति प्रत्येक वन में अपनी सुवर्ण कान्ति प्रसारित कर रहे हैं, अनेक सुवर्णमयी कन्दराओं से युक्त वही यह स दिखाई पड़ने वाला तुम्हारे पिता इन्द्र का सबसे प्रिय पर्वत है ॥४५॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारी तपस्या का पुण्य-स्थल इन्द्रनील पर्वत अब सामने दिखाई पड़ रहा है जिसकी सुवर्णमयी छाया चारों ओर के वन्य-प्रदेश सुनहली चादर की भाँति पड़ रही है। उपमा अलंकार।

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां
वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥४६॥

अन्वयः—अमुत्र अनिले जवात् लतानां सक्तिं अपनयति सति सहसा वैरोचनैः मयूखैः द्विगुणिताः हिरण्मयीनाम् रोधोभुवां भासः मुहुः तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥४६॥

अर्थ—इस इन्द्रनील पर्वत पर वायु द्वारा वेगपूर्वक लताओं के संयोग को छुड़ा देने पर उसी क्षण सूर्य की किरणों से द्विगुणित कान्ति प्राप्त वाली सुवर्णमयी तटवर्ती भूमि की प्रभाएँ बारम्बार बिजली चमकने की शो अनुकरण करने लगती हैं ॥४६॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥४७॥

अन्वयः—इह कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः मदस्नपितैः हरिचन्दनैः सुरगजस्य गतं अनुमीयते ॥४७॥

अर्थ—इस पर्वत पर ऐरावत के मद से सिंचित उन हरिचन्दनों के द्वारा ऐरावत का आना-जाना मालूम हो जाता है, जो ऐरावत के गण्डस्थल के खुजलाने के कारण होनेवाले कम्पन से बड़े-बड़े भीषण सर्पों से रहित हो जाते हैं, तथा क्षणभर के लिए बड़े-बड़े मतवाले गजराज भी जिन्हें छोड़कर भाग जाते हैं ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—अर्थात् इसी पर्वत पर हरिचन्दनों के वे वृक्ष हैं, जिनपर बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं तथा जिनके बीच देवराज इन्द्र का वाहन क्रीडा करता है। किन्तु जब कभी ऐरावत अपने गण्डस्थल को खुजलाने के लिए किसी हरिचन्दन पर धक्का लगाता है तो वे भीषण सर्प भाग जाते हैं तथा ऐरावत के मद की विचित्र सुगन्ध से अन्यान्य मतवाले गजराज भी भाग जाते हैं। काव्यलिंग अलंकार।

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥४८॥

अन्वयः—इह जलदजालघनैः असिताश्मनाम् मरीचिभिः उपहतप्रचया अदीपितकन्दरा विवस्वतः दीप्तिः तिमिरसंवलिता इव भवति ॥४८॥

अर्थ—इस पर्वत पर काले मेघ समूहों की भाँति सघन इन्द्रनील मणियों की किरणों से सामना होने पर सूर्य की किरणों का तेज-पुंज मलिन हो जाता है और कन्दराएँ प्रकाश से विहीन हो जाती हैं, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानों सूर्य की कान्ति अन्धकार से मिश्रित हो गई है ॥४८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्यहतप्रमादः ।

प्रायेण सत्यपिहितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥४९॥

अन्वयः—इह, भव्यः भवन्नपि मुनेः शासनेन क्षात्रे पथि स्थितः हतप्रमादः सन् तपस्य हि प्रायेण हितार्थकरे विधौ सति अन्तरायैः विना श्रेयांसि लब्धुं असुखानि ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस इन्द्रनील पर्वत पर शान्त स्वभाव होने पर भी असावधानी से रहित और क्षत्रिय धर्म में स्थित अर्थात् शस्त्र ग्रहण कर महर्षि वेदव्यास के बताये हुए नियमों के अनुसार आप तपस्या करें। क्योंकि प्रायः हितकारी उपायों के होते हुए भी बिना विघ्न-बाधा के कल्याण की प्राप्ति असम्भव होती है ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—अर्थात् अकारण वैर रखनेवाले सर्वत्र होते हैं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
सन्तापे दिशतु शिवः शिवां प्रसक्तिम्।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥५०॥

अन्वयः—तव इन्द्रियाश्वाः अपथहृतः मा भूवन्। सन्तापे शिवः शिवाम् प्रसक्तिम् दिशतु। लोकपालाः तपसि बलम् रक्षन्तः कल्याणीम् क्रियाम् अधिकफलाम् क्रियासुः ॥५०॥

अर्थ—तुम्हारे इन्द्रिय-रूपी अश्वगण तुम्हें कुमार्ग में न ले जायँ, तपस्या में कोई क्लेश उपस्थित होने पर भगवान शंकर आप को पर्याप्त उत्साह-शक्ति प्रदान करें। लोकपाल गण तपः साधना में तुम्हारे बल की रक्षा करते हुए इस कल्याणदायी अनुष्ठान को अधिकाधिक फल देनेवाला बनायें ॥५०॥

टिप्पणी—प्रथम चरण में रूपक अलङ्कार।

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये।

सोत्कंठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
संधत्ते भृशमरति हि सद्वियोगः ॥५१॥

अन्वयः—प्रियार्हे राजराजभृत्ये हितम् प्रियम् इति उक्त्वा सपदि स्वम् धाम् गतवति पृथासुत. सोत्कठम् किमपि प्रदध्यौ । तथाहि सद्वियोगः भृशम् अरतिम् सन्धत्ते ॥५१॥

अर्थ—प्रेमपात्र कुबेर-सेवक यक्ष के इस प्रकार कल्याणयुक्त एव प्रिय वचन कहकर शीघ्र ही अपने निवास-स्थान को चले जाने के अनन्तर कुन्ती-पुत्र अर्जुन कुछ उत्कठित-से होकर सोचने लगे । क्यों न हो, सज्जनों का वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता ही है ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥५२॥

अन्वयः—अकृशलक्ष्मीः सः सर्वत. सारयोगात् अनतिशयनीयम् अनेकेनाङ्कभाजा फलेन इव अविरहितम् अकृशम् चेतसाशंसितम् शैलम् स्वम् पुरुषकारम् इव अभ्याससाद ॥५२॥

अर्थ—परिपूर्ण शोभा से समलंकृत वह अर्जुन सर्व प्रकार से बल प्रयोग करने पर भी अनतिक्रमणीय अर्थात् दुर्जेय एव शीघ्र पूरे होने वाले अनेक प्रकार के सत्फलों से युक्त, तथा चिरकाल से पाने के लिए मन में अभिलषित एव विशाल उस इन्द्रकील पर्वत पर अपने पुरुषार्थ की भाँति आश्रय प्राप्त किया ॥५२॥

टिप्पणी—जो-जो विशेषण पर्वत के लिए हैं, वही सब अर्जुन के पुरुषार्थ के लिए भी हैं । उपमा अलङ्कार । मालिनी छन्द ।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥५॥

छठाँ सर्ग

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परम: पुमानिव पतिं पतताम्।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ॥१॥

अन्वय:—अथः रुचिराकृतिः धृतसत्पथ: सः पुरुहूतसुत: कनकसानुम् त्रिपथगाम् अभित: परमः पुमान् पतताम् पतिम् इव आरुरोह ॥१॥

अर्थ—इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचने के अनन्तर मनोहर शरीरधारी त सन्मार्गगामी इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सुवर्णमय शिखरों से युक्त उस इन्द्रकील पर्व पर त्रिपथगा गङ्गा के सामने की ओर से होकर इस प्रकार आरोहण कि जिस प्रकार से भगवान विष्णु अपने वाहन पक्षिराज गरुण पर आरूढ़ ह हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार। प्रमिताक्षरा वृत्त।

तमनिन्द्यवन्दिन इवेन्द्रसुतं विहितालिनिक्वणजयध्वनयः।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः ॥२॥

अन्वय:—विहितालिनिक्वणजयध्वनय: पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा: जग रुह: अनिन्द्यवन्दिन इव तम् इन्द्रसुतम् कुसुमै: अवचकरु ॥२॥

अर्थ—जय-जयकार की तरह भ्रमरों के गुंजन से युक्त, वायु द्वारा प्र म्पित होने के कारण डालियों के टेढ़े-मेढ़े अग्रभागों वाले वृक्षों ने अच्छे स्त पाठकों की भाँति उस इन्द्रपुत्र अर्जुन के ऊपर पुष्पों की वृष्टि की ॥२॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिद:।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखा: सुहृद: सखायमिव तं मरुत: ॥३॥

अन्वयः—अवधूतपङ्कजपरागकणः तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिदः सुखाः मरुतः तम् सुहृदः सखायम् इव अभिमुखम् एत्य परिरेभिरे ॥३॥

अर्थ—कमलों के पराग-कणों को बिखेरते हुए, छोटी-छोटी गङ्गाजल की लहरियों का सम्पर्क करते हुए शीतल सुखदायी वायु ने उस अर्जुन को अपने मित्र की भाँति सम्मुख आकर परिरम्भण (अंक मिलन) किया ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् अनुकूल शीतल मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी। मित्र का भी सामने से आकर परिरम्भण किया जाता है। उपमा अलङ्कार।

उदितोपलस्खलनसंवलिता स्फुटहंससारसविरावयुजः।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृता ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ॥४॥

अन्वयः—उदितोपलस्खलनसंवलिता स्फुटहंससारसविरावयुजः अनुवप्रमपाम् ध्वनयः अस्य माङ्गलिकतूर्यकृताम् मुदम् प्रतेनुः ॥४॥

अर्थ—ऊँचे-ऊँचे पत्थरों की शिलाओं से टकरा कर चूर-चूर, होने वाली हंस और सारस के गुंजन से युक्त नीचे गिरती हुई जल की कल-कल ध्वनियों ने अर्जुन के लिए मङ्गलसूचक तुरही आदि के शब्दों से होनेवाली प्रसन्नता का विस्तार किया ॥४॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरित्पयसाम्।
स ददर्श वेतसवनाचरितां प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥५॥

अन्वय.—स पुरः अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ बलीयसि सुरसरित्पयसाम् निचये वेतसवनाचरिताम् समृद्धिकरीम् प्रणतिम् ददर्श ॥५॥

अर्थ—अर्जुन ने ऊँचे-ऊँचे देवदारु के वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाले प्रखर वेगयुक्त सुरनदी गङ्गा के जल-प्रवाह में बेंत के वनों की कल्याणदायी विनम्रता को देखा ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् एक ओर तो ऊँचे ऊँचे देवदारु के वृक्षों को गङ्गा की प्रखर धारा उखाड़ फेंकती थी किन्तु विनम्रतायुक्त बेंत के वन उसी में आनन्द-

पूर्वक झूम रहे थे। जो लोग गर्वोन्मत्त होकर अपना शिर व्यर्थ ही ऊँचा उठाकर अकड़ते फिरते हैं उनका गर्व चूर्ण हुए बिना नहीं रहता है, किन्तु विनम्रता से व्यवहार करने वाले सर्वत्र कल्याण प्राप्त करते हैं, आपत्तियाँ उन्हें नहीं सता सकतीं। विनम्रता कितनी हितकारिणी है, यह बात बेंतों के उदाहरण में अर्जुन के ध्यान में आयी।

प्रबभूव नालमवलोकयितुं परित. सरोजरजसारुणितम्।
सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ॥६॥

अन्वयः—सः परितः सरोजरजसा रुणितम् सहतिमत् तरङ्गरङ्गि, सरिदुत्तरीयम् इव कलहसकुलम् अवलोकयितुम् अलम् न प्रबभूव ॥६॥

अर्थ—अर्जुन चारों ओर से कमल-पराग से लाल रग में रँगे हुए, बिल्कुल एक दूसरे से सटे हुए, जलतरगा के समान शोभायमान,। गगा के स्तनों को ढँकनेवाली ओढ़नी की भाँति दिखाई पड़नेवाले राजहमा की पक्तियों को बड़ी-देर तक देखने में समर्थ नहीं हुए ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् उनका सौन्दर्य अत्यधिक उत्तेजक था। अर्जुन विचलित होने लगे।

दधति क्षतीः परिणतद्विरदे मुदितालियोपिति मदस्रुतिभिः।
अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रुजन्नपि गुणाय महान् ॥७॥

अन्वय.—स. क्षतीः दधति परिणतद्विरदे मदस्रुतिभि. मुदितालियोषिति, रोधसि अधिकाम् धृतिम् बबन्ध। तथाहि महान् रुजन्नपि महते गुणाय ॥७॥

अर्थ—अर्जुन ने मतवाले हाथियों के तिरछे दन्त प्रहारों की चोटों को धारण करने वाले, मद के चूने के कारण उसकी सुगन्ध से लुब्ध प्रमुदित एवं भ्रमरियों से युक्त गङ्गा तट में अत्यधिक प्रीति प्रकट की। क्यों न हो, महान् लोग पीड़ा पहुँचा कर भी पीड़ित को उत्कर्ष की प्राप्ति करा देते हैं ॥७॥

टिप्पणी—मतवाले हाथियों के दन्त-प्रहारों से गङ्गा तट छिन्न-विछिन्न हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो गई थी, किन्तु हाथियों के मद की धारा उनमें

रही थी, अत. वहाँ मद सुगन्ध-लोभी भ्रमरियाँ गुञ्जार कर रही थीं, जिससे अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई। क्यो न होती, महान् लोगों का विरोध भी उत्कर्ष का कारण होता है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

अनुहेमवप्रमरुणैः समतां गतमूर्मिभि. सहचरं पृथुभिः।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिननन्द रुतैः ॥८॥

अन्वयः—अनुहेमवप्रम् अरुणैः पृथुभिः ऊर्मिभिः समताम् गतम् सहचरम् करुणैः रुतै. अनुबध्नतीम् रथाङ्गनामवनिताम् अभिननन्द ॥८॥

अर्थ—अर्जुन ने (इन्द्रकील गिरि के) सुवर्णमय शिखर के समीप, (शिखर की स्वर्णिम कान्ति से युक्त होने के कारण) लाल रग की विशाल तरगों की समानता को प्राप्त अपने प्रिय सहचर को अपने करुण स्वरों से खोजती हुई चक्रवाकी का अभिनन्दन किया ॥८॥

टिप्पणी—सुवर्णमय शिखर की समीपता के कारण गगा की बड़ी-बड़ी लहरें लाल रग के चक्रवाकों के समान दिखाई पड़ रही थीं। उनमें से अपने प्यारे चक्रवाक को अपने करुण स्वर से कोई चक्रवाकी ढूँढ़ना चाहती थी। अर्जुन को बहुत पसन्द आई, उन्होंने उसके इस अत्यधिक प्रेम की मन में प्रशसा की। तद्गुण और भ्रान्तिमान अलङ्कार का अङ्गागी भाव से सकर।

सितवाजिने निजगदू रुचयश्चलवीचिरागरचनापटव.।
मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितं मनोगतमिवाकृतयः ॥९॥

अन्वय.—चलवीचिरागरचनापटव· रुचय अम्भसि निमग्नमपि मणिजालम् मनोगतम् स्फुरितम् इव आकृतयः सितवाजिने निजगदुः ॥९॥

अर्थ—चचल तरङ्गो को अपने रग में रंग देने की रचना मे निपुण मणि-कान्तियों ने जल की तह मे डूबे हुए मणियों के समूहों के होने की सूचना, भ्रूभङ्ग आदि बाह्य विकारो द्वारा मन के क्रोधादि विकारों की भाँति अर्जुन को दे दी ॥९॥

टिप्पणी—गङ्गा की निर्मल शुभ्र जल धारा की तह मे मणियाँ पड़ी थीं, उनकी कान्तियाँ ऊपर चचल जलतरगों में भी सक्रान्त हो रही थीं। और इस

प्रकार अर्जुन को ऊपर की लहरों को देखकर ही उनकी सूचना मिल गयी थी। बाह्य आकृति से मनोगत विकारों की सूचना चतुर लोग पा जाते हैं। उपमा अलङ्कार।

उपलाहतोद्धततरङ्गधृत जविना विधूतवितत मरुता ।
स ददर्शकेतकशिखाविशदं सरितः प्रहासमिव फेनमपाम् ॥१०॥

अन्वयः—सः उपलाहतोद्धततरङ्गधृतम् जविना मरुता विधूतविततम् केतकशिखाविशदम् अपाम् फेनम् सरितः प्रहासम् इव ददर्श ॥१०॥

अर्थ—अर्जुन ने बड़े-बड़े पत्थरों से टकराने के कारण चञ्चल तरंगों से युक्त, तीव्र वायु के झोंकों से प्रकम्पित एवं खण्ड-खण्ड में विशीर्ण, केतकी के शिखाग्र की भाँति श्वेत जल के फेनों को मानो गङ्गा के हास्य के समान देखा ॥१०॥

टिप्पणी—हास्य भी श्वेत ही वर्णित होता है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

बहु बर्हिचन्द्रकनिभं विदधे धृतिमस्य दानपयसां पटलम् ।
अवगाढमीक्षितुमिवेभपतिं विकसद्विलोचनशत सरितः ॥११॥

अन्वयः—बर्हिचन्द्रकनिभम् बहु दानपयसाम् पटलम् अवगाढम् इभपतिम् ईक्षितुम् विकसत् सरितः विलोचनशतम् अस्य धृतिम् विदधे ॥११॥

अर्थ—मयूरों की पुच्छों के चन्द्रक के समान दिखाई पड़ने वाले अनेक मदजल के बिन्दुओं ने जल के भीतर डूबे हुए गजराज को देखने के लिए मानो नदी के खुले हुए सैकड़ों नेत्रों के समान अर्जुन की प्रीति उत्पन्न की ॥११॥

टिप्पणी—गजराज तो पानी में डूब कर आनन्द ले रहा था और उसके मदजल के बिन्दु धारा के ऊपर तेल की भाँति तैर रहे थे, जो रंग-बिरंगे होकर मयूरों के पुच्छों में रहनेवाले चन्द्रकों की भाँति दिखाई पड़ रहे थे। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है, मानो नदी अपने सैकड़ों नेत्रों को खोलकर उस गजराज को ढूँढ़ना चाहती है कि वह क्या हो गया। अर्जुन को यह दृश्य परम प्रीतिकर लगा। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे ।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधूः ॥१२॥

अन्वयः—सरोरुहदृशा प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी, पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकराः गलदश्रुबिन्दुः इव शुक्तिवधूः पुलिने ददृशे ॥१२॥

अर्थ—कमलनयन अर्जुन ने स्फुटित होने के कारण (नींद से जागने के कारण जम्भाई लेने से) विभिन्न मुखवाली, अतएव स्वच्छमुक्ता की कान्तियों का प्रसार करती हुई, एवं मानों जलबिन्दु गिराती हुई सीपी रूपिणी वधू को तटवर्ती प्रदेश पर देखा ॥१२॥

टिप्पणी—जैसे कोई नववधू निद्रा से जागकर अपनी शैया पर जँभाई लेती हुई मुँह बाती है, अपने शुभ्र दाँतों की किरणों का प्रसार करती है तथा आनन्दाश्रु बहाती है उसी प्रकार नदी के तटवर्ती प्रदेश पर वह सीपी पड़ी हुई थी। उसका मुँह चटक गया था और उसमें से मोती की कान्ति बाहर झलक रही थी तथा जलबिन्दु चू रहे थे। उत्प्रेक्षा अलंकार।

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटपस्तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः ।
स्मरदायिनः स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृतः ॥१३॥

अन्वयः—अप्सु शुचिः तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः विद्रुमलताविटपः स्मरदायिनः दशनांशुभृतः दयिताधरस्य भृशम् स्मरयतिस्म ॥१३॥

अर्थ—(नदी की) जलराशि में स्वच्छ छोटे-छोटे एवं सघन फेन के टुकड़ों के साथ मिले हुए प्रवालता के पल्लव, कामोत्तेजना देने वाले, स्वच्छ दाँतों की किरणों से मनोहर प्रियतमा के अधरों का अत्यधिक स्मरण करा रहे थे ॥ १३ ॥

टिप्पणी—स्मरण अलङ्कार।

उपलभ्य चञ्चलतरङ्गधृतं मदगन्धमुत्थितवतां पयसः ।
प्रतिदंतिनामिव स सम्बुबुधे करियादसामभिमुखान्करिणः ॥१४॥

अन्वयः—सः चञ्चलतरङ्गधृतम् मदगन्धम् उपलभ्य पयसः उत्थितवतां करियादसाम् प्रतिदन्तिनाम् इव अभिमुखान् करिणः सम्बुबुधे ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन ने चचल लहरों पर तैरते हुए मदगन्ध को सूँघकर जल के सतह से ऊपर निकले हुए गजाकृति जलजन्तुओं (जलहस्ती) को अपने प्रतिपक्षी हाथी समझ कर उन पर आक्रमण करने के लिए तत्पर हाथियों को देखा ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुरः सहसा समुत्पिपतिषोः फणिनः ।
प्रहितं दिवि प्रजविभिः श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ॥१५॥

अन्वयः—सः पुरः सहसा समुत्पिपतिषः फणिनः प्रजविभिः श्वसितैः दिवि प्रहितम् शरदभ्रविभ्रमम् अपाम् पटलम् उदीक्ष्य विस्मयम् जगाम ॥१५॥

अर्थ—अर्जुन ने आगे की ओर अकस्मात् ऊपर आने के इच्छुक एक स के अत्यन्त वेगयुक्त फुफकार से आकाश मे फेंके हुए, शरद ऋतु के बादल की भाँति दिखाई पड़नेवाले जल के मण्डलाकार समूह को देखकर बड़ा आश्च माना ॥ १५ ॥

टिप्पणी—उपमा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार ।

स ततार सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः ।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः ॥१६॥

अन्वयः—सः सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः सुरनिम्नगाम उपयतीः बृहज्जघनाः ललिताः सखीः इव सरितः ततार ॥१६॥

अर्थ—अर्जुन ने बालुकामय तटवर्ती प्रदेशों से युक्त, चारों ओर मछलियों के फुदकने रूपी सुन्दर नेत्रों से सुशोभित सुरनदी गङ्गा मे मिलनेवाली उसकी सहायक नदियों को, मोटे जङ्घों वाली मनोहर सखियों की भाँति पार किया ॥ १६ ॥

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलङ्कार का संकर ।

अभिरम्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततला तरुभिः ।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम् ॥१७॥

अन्वयः—सः अधिरुह्य गिरेः मूर्ध्नि पुष्पभरनम्रशिखैः तरुभिः परितः परिष्कृतभूलाम् शुचिम् वनान्तभुवम् मनसः प्रसत्तिम् इव आससाद ॥१७॥

अर्थ—अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर चढ़ कर उसके शिखर पर पुष्पों के भार से अवनत शिखा वाले वृक्षों से चारों ओर झाड़-बहार कर परिष्कृत एवं पवित्र वन्यभूमि को मानो मन की मूर्तिमती प्रसन्नता की भाँति प्राप्त किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

अनुसानु पुष्पितलतावितति: फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥१८॥

अन्वयः—अनुसानु पुष्पितलतावितति: फलितोरुभूरुहविविक्तवनः अचलः हरेः तनयस्य तपसे अधिवस्तुम् अचलाम् धृतिम् आततान ॥१८॥

अर्थ—प्रत्येक शिखर पर फूली हुई लताओं के वितानों से युक्त, एवं फले हुए वृक्षों से सुशोभित पवित्र अथवा निर्जन वनों से विभूषित इन्द्रकील पर्वत ने इन्द्रपुत्र अर्जुन को तपश्चर्या के अनुष्ठान में अविचल उत्साह प्रदान किया ॥१८॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलंकार ।

प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥१९॥

अन्वयः—अथ तत्र विधिना धियम् प्रणिधाय मुनिताम् दधतः पुरातनमुनेः असुकरम् तपः श्रमम् न आदधौ । आत्मवताम् अवसादकरम् किमिव ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर उस इन्द्रकील पर्वत पर योग शास्त्र के अनुसार अपनी चित्तवृत्तियों का नियमन कर मुनियों जैसी वृत्ति धारण करने वाले उस पुराने मुनि (नर के अवतार) अर्जुन को दुष्कर तपस्या के क्लेशों ने नहीं सताया । मनस्वियों को क्लेश पहुँचाने वाली भला कौन सी वस्तु है । (कोई नहीं) ॥१९॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

अर्थ—अहिंसा आदि मे निरत रहकर ध्यान, जप एव नमस्कारादि के द्वारा स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए अर्जुन ने अपने स्वाभाविक एव अभ्यास से प्राप्त वीररस एव शान्त रसों को पुष्ट करने वाले तेजो को एक साथ धारण किया ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् वीरो के समान शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर भी वह जप, तप, अहिंसा आदि शान्त कर्मों के उपासक बन गये। एक साथ ही इन दो परस्पर विरोधी तेजो का धारण करना अद्भुत महिमा का कार्य है।

शिरसा हरिन्मणिनिभ. स वहन्कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः।
उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥२३॥

अन्वय.—हरिन्मणिनिभ. अभिषवणेन कृतजन्मनः जटाः शिरसा वहन् सः अरुणदीधितिभि. परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ उपमाम् ययौ ॥२३॥

अर्थ—मरकत मणि के समान हरे वर्ण वाले एव नियमानुष्ठित स्नान करने के कारण पिंगल वर्ण की जटाओं को धारण किये हुए अर्जुन बाल सूर्य की किरणों से सुशोभित शिखर वाले तमाल के वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥२३॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ॥२३॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयन्शुचिभिः।
रचयाञ्चकार विरजा. स मृगान्कमिवेशते रमयितु न गुणाः ॥२४॥

अन्वयः—धृतहेतिः अप्यधृतजिह्ममतिः शुचिभिः चरितैः मुनीनधरयन् विरजाः सः मृगान् रचयाञ्चकार। गुणाः कमिव रमयितुम् न ईशते ॥२४॥

अर्थ—हथियार धारण करने पर भी सरल बुद्धि वाले एव अपने पवित्र आचरणों से मुनियों को नीचा दिखाने वाले रजोगुणविहीन अर्जुन ने वन्य पशुओं को प्रसन्न कर दिया। भला गुण किसे नहीं वश में कर सकते ॥२४॥

टिप्पणी—चरित्र की शुद्धता ही विश्वास का कारण होती है, वेश अथवा परिचय नहीं। अर्थान्तरन्यास अलकार।

अनुकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥२५॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरूनगमयतावनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥२६॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥२७॥

अन्वयः—अनुकूलपातिनम् अचण्डगतिम् सुगन्धिम् पवनम् अभितः किर[ता] अवधीरितार्तवगुणम् अंशुमतः रुचाम् निचयम् सुखताम् नयता । प्रचये नवप[ल्ल]वाञ्जलिभृतः बृहतः तरून् अवनतिम् गमयता प्रतिनिशम् शयनीयताम् उपयत[ीम्] वसुधाम् मृदुभिः तृणैः स्तृणता । अपेतजलदान्नभसः पतितैः अपाम् पृषतैः र[जः] च शमयता तपसा दयालुना एव परिगाढकृशः सः परिचर्यया अनुजगृहे ॥२५-२[७]॥

अर्थ—अर्जुन की उस तपश्चर्या ने अनुकूल मन्द-मन्द सुगन्धित वायु उसके (अर्जुन के) चारों ओर विकीर्ण कर दिया तथा सूर्य की किरणों [की] ग्रीष्मकालीन तेजस्विता को दबाकर उसे सुखस्पर्शी बना दिया । पुष्प चुनने [के] अवसर पर नूतन पल्लव रूपी अजलियों को धारण करने वाले विशाल वृक्षों [को] नम्र बना दिया तथा प्रत्येक रात्रि में शयन-स्थान अर्थात् शय्या बनने वा[ली] पृथ्वी को कोमल तृणों से आच्छादित कर दिया । एवं जलरहित बादलों [से] बरसते हुए जल-विन्दुओं द्वारा धरती की धूल को शान्त कर दिया । इस प्र[कार] की उस तपश्चर्या की शुश्रूषा से मानो दयालु की भाँति अत्यन्त क्षीणश[रीर] अर्जुन परम अनुगृहीत हुए ॥२५-२७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उस कठोर साधना में निरत अर्जुन को प्र[कृति] की सारी सुविधाएँ प्राप्त हुईं । यद्यपि वह खुली धूप में रहते थे, पृथ्वी पर श[यन] करते थे, स्वयं वृक्षों से पुष्प चुनते थे और वह तपोभूमि धूल-धक्कड़ से भरी [थी] किन्तु उनके तपोलीन होने पर सब असुविधाएँ स्वतः दूर हो गयीं । तीनों श्लो[कों] में उत्प्रेक्षा ही प्रधान अलंकार है । जैसे किसी दुर्बल दीन-हीन व्यक्ति को देख

कोई दयालु व्यक्ति उसकी सेवा-शुश्रूपा में लीन हो जाता है, उसी प्रकार उनकी तपस्या को भी मानो उन पर दया हो गई।

महते फलाय तदवेक्ष्य शिव विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः।
न जगाम विस्मयवश वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ॥२८॥

अन्वयः—सः महते फलाय विकसत् शिवम् तत् निमित्तकुसुमम् पुरः अवेक्ष्य विस्मयवशम् न जगाम। (तथाहि) वशिनाम् अनुभावगुणः धैर्यम् न निहन्ति ॥२८॥

अर्थ—महान् सिद्ध रूप कल्याण (फल) को प्राप्ति के लिए विकसित होने वाले उस कल्याणकारी शकुन-रूपी पुष्पों को सामने देखकर विस्मित नहीं हुए। जितेन्द्रिय लोग फल-प्राप्ति के सूचक अनुभवों के होने पर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ते ॥२८॥

टिप्पणी—क्योंकि यदि विस्मय करते तो तपःसिद्धि क्षीण हो जाती, जैसा कि शास्त्रीय विधान है। "तपः क्षरति विस्मयात्।" अर्थान्तरन्यास अलंकार।

तदभूरिवासरकृतं सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम्।
उपतस्थुरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम् ॥२९॥

अन्वयः—सुकृतैः अभूरिवासरकृतम् तत् वैभवम् अनन्यभवम् उपलभ्य आस्थितविषादधियः वनचराः शतयज्वनः वसतिम् उपतस्थुः ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार की तपश्चर्या द्वारा थोड़े ही दिनों में अर्जुन के दूसरों द्वारा असम्भव अर्थात् अलौकिक प्रभाव को देखकर खेद से भरे हुए किरात वृन्द इन्द्र की पुरी अमरावती पहुँच गए ॥२९॥

टिप्पणी—किरातों को भ्रम हुआ कि कहीं अपनी कठोर तपस्या से यह इन्द्रपद प्राप्त तो नहीं करना चाहता ॥२९॥

विदिता. प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयाम्बभूवुरिति गोत्रभिदे ॥३०॥

अन्वयः—विदिताः प्रविश्य विहितानतय. अधिकृतकृत्यविधौ शिथिलीकृते अनपेतकालम् गोत्रभिदे इति अभिरामकथाः कथयाम्बभूवुः ॥२०॥

अर्थ—उन वनचरो ने अनुमति लेकर इन्द्र के समीप प्रवेश किया और हाथ जोड़कर नमस्कार किया। पर्वत की रक्षा का गुरु कार्य छोड़ कर वे आये थे अतः व्यर्थ मे अधिक समय न लगाकर इन्द्र से इस प्रकार का श्रवणसुखद संवाद कह सुनाया ॥२०॥

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः।
महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तपञ्जगतीम् ॥२१॥

अन्वयः—शुचिवल्कवीततनुः तिमिरच्छिदाम् अन्यतमः इव अनघः पुरुषः हे मघवन् भवतः गिरौ जगतीम् तपन् महते जयाय तपस्यति ॥२१॥

अर्थ—हे महाराज इन्द्र ! पवित्र वल्कल से शरीर को आच्छादित कर अन्धकार दूर करनेवाले सूर्य आदि तेजस्वियों में से मानों अन्यतम कोई एक निष्पाप पुरुष आपके इन्द्रकील नामक पर्वत पर, ससार को उत्तप्त करता हुआ किसी महान् विजय-लाभ के लिए तपस्या कर रहा है ॥२१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनु ।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनय. ॥२२॥

अन्वय.—भीषणभुजङ्गभुजः स विद्विषाम् भयविधायि पृथु. धनु. बिभर्ति। अमलेन तस्य चरितेन धृतसच्चरिताः च मुनय अतिशयिता. ॥२२॥

अर्थ—भयङ्कर सर्पों के समान भुजाओं वाला वह पुरुष शत्रुओं को भयभीत करनेवाला विशाल धनुष धारण किये हुए है। उसके निर्मल आचरणों ने सच्चरित ऋषियों-मुनियों को भी जीत लिया है ॥२२॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

मरुत. शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम्।
गुणसम्पदानुगुणतां गमित. कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगण. ॥२३॥

अन्वयः—मरुतः शिवाः जगती नवतृणाः नभः विमलम् रजसि अपाम् वृष्टिः अस्य गुणसम्पदः अनुगुणताम् गमितः भूतगणः भक्तिम् कुरुते इव ॥३३॥

अर्थ—उस तपस्वी पुरुष के सद्गुणों के प्रभाव से अनुकूलता को प्राप्त होने वाले पृथ्वी जल आदि पाँचों महाभूत भी मानों उसके प्रति भक्ति करते हैं, क्योंकि हवाएँ सुखदायिनी हो गयी हैं, धरती नूतन कोमल घासों से आच्छादित हो गयी है, आकाश निर्मल हो गया है, धूल उठने पर जल की वृष्टि होती है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः।
विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान्स तेन भवतेव नगः ॥३४॥

अन्वयः—मृगाः तम् अन्तसदः गुरुम् इव इतरेतरानभिभवेन उपासते। प्रचये तरवः अस्य विनमन्ति। सः नगः भवतेव तेन परवान् ॥३४॥

अर्थ—वन्य पशु उस तपस्वी पुरुष की सेवा विद्यार्थियों द्वारा गुरु के समान, परस्पर का वैर-विरोध भूलकर करते हैं। पुष्प चुनने के समय वृक्ष उसके सामने स्वयं झुक आते हैं। (इस प्रकार) वह इन्द्रकील आप की भाँति ही अब उस तपस्वी के अधीन-सा हो गया है ॥३४॥

उरु सत्वमाह विपरिश्रमता परमं वपुः प्रथयतीव जयम्।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जनः ॥३५॥

अन्वयः—विपरिश्रमता उरु सत्वम् आह। परमं वपुः जयम् प्रथयति इव शमिनः अपि तस्य नवसङ्गमने जनः विभुतानुषङ्गि भयम् एति ॥३५॥

अर्थ—कठिन परिश्रम करने पर भी उसका श्रान्त न होना उसके महान् आन्तरिक बल की सूचना देता है, उसका सुन्दर एवं विशाल शरीर उसके विजय की सूचना देता है, यद्यपि वह शान्त रहता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम समागम होता है उस समय आगन्तुक व्यक्ति में उसकी विभुता से आतंक उत्पन्न हो जाता है ॥३५॥

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमिभृताम्।
चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वय निरूपयितुमस्य गतिम् ॥३६॥

अन्वयः—स ऋषिवंशजः यदि वा दैत्यकुले यदि वा महति भूमिभृताम् अन्वये तव वनेषु तपः चरतः अस्य गतिम् निरूपयितुम् वयम् न सहा ॥३६॥

अर्थ—वह तपस्वी ऋषियों का वंशज है अथवा दैत्यों के वंश का है अथवा राजाओं के महान् कुल में उत्पन्न हुआ है ? तुम्हारे वन में तपस्या करने वाले उस पुरुष के भेद को जानने मे हम असमर्थ हैं ॥३६॥

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ॥३७॥

अन्वयः—अनेकगुण कारणम् विगणय्य अथवा निजया अल्पतया कथितम् नः अदः असद् अपि सहितुम् अर्हसि। वनेचरा. क्व। निपुणाः यतयः क्व ॥ ३७ ॥

अर्थ—(उसकी इस तपस्या का क्या प्रयोजन है, इसका) अनेक प्रकार से अनुमान करके अथवा अपनी स्वल्पबुद्धि से जो यह बात हमने आप से निवेदन की है, वह अनुचित भी हो तो आप उसे क्षमा करें। क्या कि कहा हम जगली लोग और कहाँ वह कुशलमति तपस्वी ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनस. प्रिय प्रियसुतस्य तप.।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवता हि धियः ॥३८॥

अन्वय.—मघवा इति गुह्यकगणात् तत् मनस. प्रियम् प्रियसुतस्य तपः, अधिगम्य उदितम् हर्षम् निजुगोप। तथा हि प्रभवताम् धियः नयवर्त्मगा. ॥३८॥

अर्थ—देवराज इन्द्र ने इस प्रकार यक्षों के मुख से मन को आनन्दित करनेवाली अपने प्यारे पुत्र की तपस्या का वृत्तान्त सुनकर अपनी प्रकट होने-वाली प्रसन्नता को छिपा लिया। क्या न हो, प्रभुओं अर्थात् बड़े लोगों की बुद्धि नीतिमार्गानुसारिणी होती है ॥३८॥

टिप्पणी—बड़े लोग किसी इष्ट कार्य के सिद्ध होने से उत्पन्न अपने मन की प्रसन्नता छिपाकर रखते हैं क्योंकि उसके प्रकट होने से कार्यहानि की सम्भावना रहती है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरिः।
उपलब्धुमस्य नियमस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥३९॥

अन्वयः—अथ हरिः चित्तम् प्रणिधाय तत्र भक्ततया विदिते अपि अपूर्वः इव अस्य नियमस्थिरताम् उपलब्धुम् सुरसुन्दरी इति वचः अभिदधे ॥३९॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र ने समाधिस्थ होकर अर्जुन को अपना अनन्य भक्त जान लेने पर भी, अनजान की भाँति उसकी नियम-निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए देवांगनाओं से इस प्रकार की बातें कीं ॥३९॥

टिप्पणी—इन्द्र यद्यपि यह जान गये थे कि अर्जुन अनन्य भाव से तपस्या में लीन है तथापि लोक-प्रतीति के लिए अप्सराओं द्वारा उसकी दृढ़ नियमानुवर्तिता की परीक्षा लेना उन्होंने उचित समझा। क्योंकि अर्जुन उनका पुत्र था। पुत्र के प्रति अनायास कृपा भाव का होना उनके पक्षपाती कहे जाने का कारण बनता। अतः लोगों को दिखाने के लिए उन्होंने यह नाटक रचा।

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया।
अविपक्षमस्त्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥४०॥

अन्वय.—मर्मभिदाम् अस्त्रम् अपरम् कतमत् यूयम् इव सुकुमारम् एकम् अणु अतिदूरगम् अमोघतया युतम् तथा अविपक्षम् चित्तभुवः विजयाय ॥४०॥

अर्थ—मर्म पर आघात करनेवाले शस्त्रास्त्रों में भला दूसरा कौनसा ऐसा अस्त्र हमारे पास है जो तुम लोगों की तरह सुकुमार, एकमात्र, सूक्ष्म, अत्यन्त दूरगामी, कभी निष्फल न होने वाला, एवं प्रतिकाररहित है कामदेव के ऐसे अस्त्रों (आप लोगों को) छोड़कर विजय प्राप्ति के लिए कोई दूसरा अस्त्र नहीं है ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् दूसरे अस्त्र तो कठोर होते है, बहुत से धारण क पड़ते हैं क्योंकि एक से कभी काम चलने वाला नहीं होता, भारी और बड़े हे हैं, बहुत कम अथवा निर्दिष्ट दूरी तक जा सकते हैं, कभी-कभी निष्फल हो जाते और उनके प्रतिकार भी हैं, किन्तु तुम लोगों के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात न है। उपमा और परिकर अलङ्कार का अगागी भाव से सकर।

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसः शमनम्।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥४१॥

अन्वयः—भववीतये हतबृहत्तमसाम् रजसः शमनम् अवबोधवारि व. अ कलैः नयनाञ्जलिभिः परिपीयमाणम् इव अवसादम् एति ॥४१॥

अर्थ—सान्सारिक दुःखों से सदा के लिए छूट जाने की इच्छा से मा मोह को दूर हटानेवाले महान योगियों के, रजोगुण को शान्त करनेवाले तत्व बोध रूप जल को, आप लोग अपने नेत्रों के कटाक्ष रूपी अजलियों से म क्षणभर में पान करके उसे विनष्ट कर देती हैं ॥४१॥

टिप्पणी—जब मुमुक्षुओं की यह दशा केवल आपके कटाक्षों से ही उ है तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या है? उत्प्रेक्षा और रूपक का सकर।

बहुधा गतां जगति भूतसृजा कमनीयतां समभिहृत्य पुरा।
उपपादिताः विदधता भवती. सुरसद्मयानसुमुखी जनता ॥४२॥

अन्वय.—पुरा जगति बहुधा गता कमनीयताम् समभिहृत्य भवतीः विदध भूतसृजा जनता सुरसद्मयानसुमुखी उपपादिता ॥४२॥

अर्थ—प्राचीन काल में अनेक स्थलों में बिखरी हुई सुन्दरता को एकत्र आप लोगों की रचना करनेवाले विधाता ने साधारण जनता को स्वर्ग लोक यात्रा के लिए लालायित बना दिया है ॥४२॥

टिप्पणी—अर्थात् चन्द्रमा आदि अनेक पदार्थों में जो सुन्दरता बि हुई थी उसी को एकत्र कर विधाता ने तुम लोगों की रचना की है। और जो स्वर्ग की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं, उसमें केवल तुम लोगों की प्राप्ति की लालसा ही मूल कारण है। अतिशयोक्ति अलङ्कार।

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवै. ।
हृतवीतरागमनसा ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजिति. । ॥४३॥

अन्वयः—तत् कलासु कृतिभिः सचिवैः सहिताः उपेत्य तस्य तपः विघ्नयत ननु हृतवीतरागमनसाम् व. सुखसङ्गिनम् प्रति सुखावजितिः ॥४३॥

अर्थ—अतएव आप लोग गायन वादनादि कलाओं मे निपुण अपने सहचर गन्धर्वों के साथ जा कर उस तपस्वी पुरुष की तपस्या में विघ्न प्रस्तुत कर । आप लोग जब वीतराग तपस्वियों के मन को भी अपनी ओर खींच लेती हैं तो सुखाभिलाषी पुरुष तो सुगमता से वश में हो सकता है ॥४३॥

टिप्पणी—अर्थात् वह तपस्वी तो बड़ी सुगमता से आप लोगों के वश में हो जायगा । उसे वश मे करना कठिन नहीं है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधिः क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथ ॥४४॥

अन्वय.—(हे अप्सरस.) स' द्विषताम् वधेन विषयाभिरतिम् अभिलष्यति एतत् अविमृष्यम् हि स' विधि. भववीतये न (कुतः) शरासनम् क्व विमुक्तपथश्च क्व ॥४४॥

अर्थ—वह तपस्वी अपने शत्रुओं का संहार कर विषय सुख भोगने का अभिलाषी है, यह बात तो असंदिग्ध ही है । उसकी यह तपस्या संसार से मुक्ति पाने के लिए नहीं है । क्योंकि कहाँ धनुष और कहाँ मुक्ति का मार्ग ? ॥४४॥

टिप्पणी—वह धनुष लेकर तपस्या कर रहा है, यही इस बात का प्रमाण है कि मुमुक्षु नहीं है, क्योंकि मुक्ति हिंसा द्वारा प्राप्त नहीं होती. दोनों विरोधी चीजें हैं अत. निश्चय ही वह विषयसुखाभिलाषी है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृति ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धिय. ॥४५॥

अन्वयः—पृथुधाम्नि तत्र अन्यमुनिवद् विकृतिः च भवतीभिः मा परिबो स्वयशांसि, अवताम् विक्रमवताम् धियः वधूषु, अघानि न विमृषन्ति ॥४५॥

अर्थ—महान तेजस्वी उस तपस्वी पुरुष के सम्बन्ध में दूसरे मुनियों की त क्रुद्ध होकर शाप देने की शका तुम लोग मत करो। क्योंकि अपने यश की करनेवाले पराक्रमी लोगों की बुद्धि नारी जाति के प्रति हिंसा की भावना रखती ॥४५॥

टिप्पणी—पराक्रमी एव वीर लोग अपने यश की हानि की चिन्ता नारी जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखते। अर्थान्तरन्यास अलङ्का

आशंसितापचितिचारु पुरः सुराणा-
मादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः
सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥४६॥

अन्वयः—अमर्त्यवधूसमूहः सुराणाम् पुरः आशसितापचितिचारु अभिमुख भर्तुः इति आदेशम् समवाप्य पराम् द्युतिम् लेभे। तथाहि अधिकृतस्य सम्भाव तेज· तनोति ॥४४॥

अर्थ—अप्सराओं का समूह देवताओं के समक्ष इस प्रकार की प्रशसा युक्त अपने स्वामी इन्द्र का उपर्युक्त आदेश प्राप्त कर और अधिक सुन्दर हो ग वह खिल उठा। क्यो नहीं स्वामी द्वारा प्राप्त समादर किसी अधिकार पर नियु सेवक की तेजोवृद्धि तो करता ही है ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिता सद्मनस्ताः
स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव
स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ॥४७॥

अन्वय.—अथ प्रणतिम् विधाय सद्मन. प्रस्थिता स्तनभरनमिताङ्गी·

तिभाजः ताः अङ्गनाः अचलनलिनलक्ष्मीहारि स्तिमितम् अमरभर्तुः अक्ष्णाम्
स्रम् द्रष्टुम् अलम् न बभूव ॥४७॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र को प्रणाम कर अमरावती से प्रस्थित, स्तनो भार से अवनत अंगोंवाली एवं स्वामी के समादर से सन्तुष्ट उन अप्सराओं निश्चल कमल की शोभा को हरनेवाली अर्थात् कमलों के समान मनोहर व विस्मय से निर्निमेष देवराज इन्द्र की सहस्र आँखे भी देखने में असमर्थ रह थीं ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् एक तो वे वैसे ही सुन्दरी थीं, दूसरे इन्द्र ने देवताओं सामने उनका जो अभिनन्दन किया, उससे वे खिल उठीं और उनका सौन्दर्य-सागर हिलोरें लेने लगा। उपमा अलङ्कार।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे छठाँ सर्ग समाप्त ॥६॥

सातवाँ सर्ग

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तुः ।
सम्मूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्नः प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः ॥१

अन्वयः—अथ श्रीमद्भिः सरथगजैः त्रिलोकभर्तुः सचिवैः गुप्तानाम् सुर नानाम् प्रस्थानम् अलघुविमानरन्ध्रभिन्नः सम्मूर्च्छन् मृदङ्गनादः समभिदधे ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर सुशोभित रथों और हाथियों के साथ त्रिलोकपति इन्द्र सहचर गन्धर्वों से सुरक्षित देवागनाओं के प्रस्थान की सूचना विशाल विमान झरोखों से प्रतिध्वनित होने के कारण अनेक रूपों में फैलते हुए मृदङ्ग ध्वनियों ने (पुरवासियों को) दी ॥१॥

टिप्पणी—अर्थात् देव-विमानों पर गन्धर्वों के साथ अप्सराओं ने इन्द्रकू के लिए प्रस्थान किया और उस समय मृदङ्ग आदि मांगलिक वाद्य बजने लगे। इस सर्ग में प्रहर्षिणी छन्द है।

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघोनः ।
रामाणामुपरि विवस्वतः स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः ॥२॥

अन्वयः—सोत्कण्ठैः अमरगणैः अनुप्रकीर्णात् ज्वलितरुचः मघोनः पुरात् निर्याय विवस्वतः उपरि स्थितानाम् रामाणाम् आतपत्रैः चरितगुणत्वम् नासेदे ॥२॥

अर्थ—देखने के लिए समुत्सुक देवगणों द्वारा भरी हुई एवं अपनी अनुपम छटा से जाज्वल्यमान इन्द्रपुरी अमरावती से निकलकर सूर्य के ऊपर अवस्थित उन अप्सराओं के छातों ने अर्थात् छतरियों ने सच्चे अर्थ में अपनी चरितार्थता नहीं प्रकट की ॥२॥

टिप्पणी—देवागनाएँ आकाश मे सूर्य-मण्डल से ऊपर थीं, अतः नीचे की ओर पड़नेवाली सूर्य की किरणें वहाँ नहीं पहुँच रही थीं, जिससे वहाँ आतप अर्थात् धूप का अभाव था। जब आतप (धूप) थी ही नहीं तो आतपत्र (छतरियों) की चरितार्थता होती कैसे?

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविशदलोचनोत्पलानाम् ।
आनिन्ये मदजनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः ॥३॥

अन्वयः—अभिमुखपातिभि. समीरैः धूतानाम् आयासात् अविशदलोचनोत्पलानाम् वधूनाम् उष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः मदजनिताम् श्रियम् आनिन्ये ॥३॥

अर्थ—प्रतिकूल बहनेवाली वायु द्वारा थकी हुई एव चलने-फिरने के परिश्रम से मलिन नेत्र-कमलों वाली उन देवागनाओं के सूर्य की प्रचण्ड धूप से उत्पन्न कपोलों की लालिमा ने मद से लालिमा की शोभा को प्राप्त किया ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रचण्ड धूप, सामने की हवा तथा चलने-फिरने की थकावट से देवागनाओं के कपोल ऐसे लाल हो गये थे जैसे मद पान करने पर होते थे। यहाँ प्रतिकूल हवा अपशकुन की सूचना भी दे रही थी। निदर्शना अलकार ॥३॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायत तुरंगैः ।
नेमीनामसति विवर्तने रथौघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥४॥

अन्वयः—कथमति देवातानुभावात् तिष्ठद्भिः प्रजविभिः तुरङ्गैः आयतम् आकृष्टैः रथौघैः वियति नेमीनाम् विवर्तने असति विमानवत्प्रवृत्ति आसेदे ॥४॥

अर्थ—किसी प्रकार देवताओं की कृपा से (आकाश मण्डल में) टिके हुए, अत्यन्त वेग से चलने वाले अश्वों द्वारा दूर से खींचे जाते हुए वे रथों के समूह, आकाश-मण्डल मे नि धार होने से चक्कों की गति न होने के कारण विमानों की स्थिति प्राप्त कर रहे थे ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् आकाश मे देवागनाओं के वे रथ विमानों की शोभा धारण कर रहे थे। विमानों में अश्व नहीं होते, उनका चक्का घूमता नहीं रहता

तथा वे आकाश में चलते हैं। देवागनाओं के इन रथों की भी ऐसी ही स्थि
थी। इनमें यद्यपि अश्व थे, किन्तु वे अत्यन्त वेगशाली थे अतः बहुत दूर से
को खींच रहे थे, निराधार होने से इनके भी चक्के घूमते नहीं थे और
देवताओं की कृपा से आकाश में टिके हुए थे। उपमा अलकार ॥४॥

कान्तानां कृतपुलकः स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥

अन्वयः—कान्तानाम् स्तनाङ्गरागे कृतपुलकः च्युततिलकेषु वक्त्रेषु मौ
काभः श्रमसलिलोद्गमः विभूषाम् सम्पेदे। (तथाहि) रम्याणाम् विकृतिः
श्रियम् तनोति ॥५॥

अर्थ—उन देवागनाओं के परिश्रम से उत्पन्न पसीनों की बूँदें नीचे ढुल
स्तनों में लगे हुए अगरागों को बहाकर रोमाञ्चित कर रही थीं तथा उनके
के तिलक को धो रही थीं, इस प्रकार मोतियों के दानों समान सुन्दर
पड़ने वाली वे बूँदें उनको अलकृत करने का कार्य ही कर रही थीं। क्यों
सुन्दर लोगों की विकृति भी उनकी शोभा ही बढ़ाती है ॥५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि देवागनाएँ पसीने से लथपथ हो रही थीं
उनकी विचित्र शोभा थी। अर्थान्तरन्यास अलकार।

राजद्भिः पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चिःस्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम्
तेजोभिः कनकनिकापराजिगौरैरायाम क्रियत इव स्म सातिरेक ॥

अन्वय.—मरुताम् पथि राजद्भि. अभिन्नरूपै. उल्कार्चिः स्फुटगतिभि
निकापराजिगौर. ध्वजांशुकानाम् तेजोभिः आयमः सातिरेकः क्रियते स्म इव।

अर्थ—आकाश में प्रकाशमान, एक समान दिखाई पड़ने वाली उ
के स्फुट प्रकाश की तरह प्रतीत होने वाली, एव कसौटी पर खिंची हुई सुव
रेखा के समान अरुण वर्ण की पताकाओं के रेशमी वस्त्रों की कान्तियाँ
उन वस्त्रों की लम्बाई को अधिक बढ़ाती हुई-सी प्रतीत होती थीं ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात आकाश में पताकाओं के रेशमी वस्त्रों की चमक

ऐसी मालूम पड़ती थी मानों पताकाओं के वस्त्र ही उतने लम्बे हो गये हैं। उपमा अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलकार।

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ॥७॥

अन्वयः—माल्यसौकुमार्ये, रामाणाम् वपुषि आतपस्य सहत्वम सम्प्राप्ते अधिगतविस्मयैः गन्धर्वैः विधातुः विधिषु कल्याणी विचित्रता प्रतीये ॥७॥

अर्थ—कुसुमों से भी कोमल देवागनाओ के शरीर में सूर्य की प्रचण्ड धूप को सहन करने की शक्ति देखकर आश्चर्य-चकित गन्धर्वों ने यह अनुभव किया कि ब्रह्मा की सृष्टि में रचना-कुशलता बड़ी ही कल्याणकारिणी है ॥७॥

सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्तः।
सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः ॥८॥

अन्वयः—सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिः मदम् क्षरन्त, त्रिदशगजाः अरुणांशुरागभिन्नै, वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः सादृश्यम् ययुः ॥८॥

अर्थ—सिन्दूर से अलकृत, सुवर्ण की शृखलाओं से मध्यभाग में बँधे हुए, सातों मद-नाड़ियों से मद की वर्षा करते हुए देवताओं के गजराज, सूर्य की किरणों की लालिमा से अनुरजित बरसते हुए तथा बिजली की चमक से सुशोभित मेघों की समानता प्राप्त की ॥८॥

टिप्पणी—हाथियों के मद बहाने वाली नाड़ियाँ सात होती हैं। सूँड़ के दोना छिद्र, दोनों गण्डस्थल, दोनों आँखें तथा लिंग। वे गजराज काले बादलों के समान थे। उनका सिन्दूर रजित अलकार सूर्य की किरणों के सम्पर्क की शोभा धारण कर रहा था, सुवर्ण की शृखला बिजली के समान थी और सात स्थानों से मद-क्षरण जल-वृष्टि के समान था। उपमा अलकार।

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य।
आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मि त्रिदशनदीं ययुर्बलानि ॥९॥

अन्वयः—बलानि अत्यर्थम् दुरुपसदाद् अहिममयूखमण्डलस्य पर्यन्त दूरम् उपेत्य आशानाम् अपरचिताम् एकवेणीम् इव रम्योर्मिम् त्रिदशनद ययुः ॥६॥

अर्थ—देवांगनाओं की वह सेना सूर्यमण्डल के अत्यन्त असहनीय प्र भाग से दूर निकलकर दिग्वधुओं द्वारा मानो रची गयी एक वेणी की भाँति प्र होने वाली रमणीय तरंगो से युक्त देवनदी मन्दाकिनी के तट पर प गई ॥६॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि।
कान्ताना गगननदीतरङ्गशीत. सन्ताप विरमयति स्म मातरिश्वा ॥१

अन्वय.—आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि, उद्धूतग्रथितरजासि पङ्कजानि धु गगननदीतरङ्गशीतः मातरिश्वा कान्तानाम् सन्तापम् विरमयति स्म ॥१०॥

अर्थ—मधुमत्त भ्रमर-समूहों से सकुलित एव अब तक जगे हुए भ्रमरों के सघट्ट से ऊपर उड़ते हुए परागों से युक्त कमलों को कम्पित करने एव देव- नदी मन्दाकिनी की तरगों के स्पर्श से शीतल वायु ने देवांगनाओं थकावट को दूर कर दिया ॥१०॥

सम्भिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनुपदवी विमानपङ्क्ती।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभि· ॥१

अन्वयः—इभतुरगावगाहनेन सम्भिन्नै. सुरापगाया. पयोभि पदवीन उर्वी. विमानपङ्क्ती. प्राप्य तत्पूर्वम् वप्रान्तस्खलितविवर्तनम प्रतिविदधे ॥११

अर्थ—हाथियों और अश्वों की जलक्रीड़ा से क्षुब्ध देव नदी मन्दा के जल की लहरें (आकाश-मण्डल में खड़े हुए देवांगनाओं के) विमानों लेबी पंक्तियों के पास पहुँच कर सर्व प्रथम बार रोकने वाले से टकरा कर लौट पड़ीं ॥११॥

टिप्पणी—आकाश में तटवर्ती भूमि कोई नहीं थी, इसलिये आकाश की लहरें कभी टकराकर वापस नहीं लौटती थीं किन्तु इस बार वे देवांग की लम्बी रथ-पंक्तियों से टकरा कर वापस लौट पड़ीं। अतिशयोक्ति अलंक

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः सपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु ॥१२॥

अन्वय.—ग्रहचरितात् पथ. क्रान्तानाम् अक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् रथानाम् प्रधिभिः सपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु निःसङ्गम् विवृत्तिः उपाददे ॥१२॥

अर्थ—सूर्य आदि ग्रहों द्वारा आश्रित मार्ग को पार करके अपने चक्कों की धुरियों के अग्रभाग से दोनों ओर के देव-भवनों के चबूतरों को तोड़ते-तोड़ते हुए उन अप्सराओं के रथ पहियों की रगड़ से बादलों के जल को क्षुब्ध करते हुए बड़े वेग से आगे बढ़ने लगे ॥१२॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलंकार ।

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः १३

अन्वयः—विषाणभिन्नाः क्षरन्तः घनाः तप्तानाम् सुरकरिणाम् प्रह्लादम् उपदधिरे । परोपकारे युक्तानाम् महताम् रुजत्स्वपि कल्याणी खलु प्रवृत्तिः भवति ॥१३॥

अर्थ—(हाथियों के) दाँतों से क्षत-विक्षत होने के कारण जल बिन्दु बरसाने वाले बादलों ने सन्तप्त देवगजों को खूब प्रसन्न किया । सच है, परोपकार-परायण महापुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे अपने को पीड़ा पहुँचाने वाले का भी कल्याण ही करते हैं ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः ॥१४॥

अन्वय —संवाता अनिलेन दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् मुहुः नीयमाने पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालम् ऊर्वोः युतकम् इव अन्तरीयम् सञ्जज्ञे ॥१४॥

अर्थ—(तेजी से) चलने वाली वायु द्वारा (कामुक की भाँति) देवांगनाओं के जघन-स्थलों को ढँकने वाले सुन्दर वस्त्रों के बारम्बार उड़ा देने पर रत्नों की

मेखला से चमकती हुई कान्तियों के वृहत् समूह उनके दोनों जघों को ढँक लिये मानों लँहगे की तरह बन गये ॥१४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार।

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान्बहुसुकृतं हिनस्ति दोषः।

अन्वयः—तुषारपातैः प्रत्यार्द्रीकृततिलकाः शमितपरिश्रमाः प्रह्लादम् दि पयोदाः कान्तानाम् बहुमतिम् आययुः। अल्पीयान् दोषः बहुसुकृत हिनस्ति ॥१५॥

अर्थ—सूक्ष्म जल-बिन्दुओं की वर्षा करके देवागनाओं के तिलकों को कर भी उनकी थकावट को दूर कर आनन्दित करने वाले मेघवृन्द देवाग के सम्मान के पात्र बन गए। सच है, थोड़ा सा अपराध बड़े उपकार को नहीं करता ॥१५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले।
आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजा संधानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम्॥

अन्वयः—ग्रथिततरङ्गसैकताभे विपयसि वारिवाहजाले विच्छेदम् य सुरधनुषः त्रिदशवधूजनाङ्गभाजाम् मणीनाम् प्रभाः संधानम् आतेनुः ॥१६॥

अर्थ—तरंगों के चिह्नों से सुशोभित बालुकामय प्रदेशों की भांति पड़ने वाले निर्जल मेघ-मण्डलों पर खण्डित होने के कारण सम्पूर्ण रूप दिखाई पड़ने वाले इन्द्रधनुष को, देवागनाओं के शरीर पर अलकृत मणियों कान्तियों से पूर्णता प्राप्त हो गयी ॥१६॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलकार।

संसिद्धावितिकरणीयसंनिबद्धैरालापैः पिपतिषतां विलङ्घ्य वीथीम्
आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकील ॥

अन्वय.—संसिद्धौ इति करणीयसन्निबद्धैः आलापैः दशशतलोचनध्वजिन्या पिपतिपताम् वीथीम् विलङ्घ्य जीमूतैः अपिहितसानुरिन्द्रकीलः आसेदे ॥१७॥

अर्थ—कार्य-सिद्धि के सम्बन्ध में क्या क्या करना चाहिए—इस प्रकार की बातें करते हुई इन्द्र की वह सेना, पक्षियों के मार्ग को पार करके उस इन्द्रकील गिरि के ऊपर पहुँच गयी, जिसके शिखरों पर बादल छाए हुए थे ॥१७॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्भूतस्फुटविशदातपत्रफेना।
सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ॥१८॥

अन्वयः—विलासिनीनाम् मुखनलिनैः आकीर्णा उद्धूतस्फुटविशदातपत्र-फेना तूर्यध्वनितगभीरम् भूभर्तुः शिरसि आपतन्ती सा नभोनदी इव रेजे ॥१८॥

अर्थ—उन देवांगनाओं के मुख-रूपी कमलों से व्याप्त, ऊपर उठी हुई छतरिया-रूपी फेनों से युक्त तथा मृदगादि वाद्यों की ध्वनि-रूपी गंभीर शब्दों से युक्त, इन्द्रकील के शिखर पर उतरती हुई वह देवसेना आकाश-गंगा की भाँति सुशोभित हुई ॥१८॥

टिप्पणी—रूपक से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

सेतुत्वं दधति पयोमुचां विताने संरम्भादभिपततो रथाञ्जवेन।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गाः ॥१९॥

अन्वयः—पयोमुचाम् विताने सेतुत्वम् दधति संरम्भाद् जवेन अभिपततः रथान् नियमितरश्मिभुग्नघोणाः अवनामिनः तुरङ्गाः कृच्छ्रेण क्षितिम् आनि-न्युः ॥१९॥

अर्थ—बादलों के वितानों के पुल की भाँति स्थित होने से उनके ऊपर से (ढाल होने के कारण) अत्यन्त वेग से नीचे उतरते हुए रथों को उनके अश्वों ने बड़ी कठिनाई से धरती तक पहुँचाया। उस समय रास के अत्यधिक खींचे जाने के कारण उनकी नासिका का अगला भाग टेढ़ा हो गया था और वे सम्पूर्ण अंगों का भार अपने अगले अंगों पर सँभाले हुये थे ॥१९॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ॥२०॥

अन्वयः—माहेन्द्रम् नगम् अभितः दिवः पतन्तः पर्यन्तस्थितजलदाः करेणुवर्याः निलयननिष्प्रकम्पपक्षैः जलनिधिशायिभिः नगेन्द्रैः सादृश्यम् आजग्मुः ॥२०॥

अर्थ—इन्द्रकील गिरि के चारों तरफ आकाश से नीचे उतरते हुए, आस पास बगल में बादलों के खण्डों से युक्त श्रेष्ठ गजराज अपने स्थान पर निश्चल पंखों से युक्त, जल में शयन करने वाले मैनाक प्रभृति पर्वतों की समानता प्राप्त कर रहे थे ॥२०॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

उत्सङ्गे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्तानां वियदभिपातलाघवेन ।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्रीं खुरपदवी तुरंगमाणाम् ॥२१॥

अन्वयः—महाद्रेः उत्सङ्गे समविषमे वियदभिपातलाघवेन समम् क्रान्तानां तुरङ्गमाणाम् खुरपदवी उपनदि सैकतेषु आमूलात् सामग्री लेभे ॥२१॥

अर्थ—उस महान् पर्वत इन्द्रकील के ऊँचे-नीचे शिखर पर, आकाश में चलने की निपुणता के कारण चढ़ाव-उतार से रहित एक समान गति से चलने वाले अश्वों की खुरों की निशानी, नदी तट के समीप बालुकामयी भूमि में आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण रूप से दिखाई पड़ने लगी ॥२१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इन्द्रकील गिरि का शिखर ऊँचा-नीचा था, उस पर खुर रखकर चलने में कठिनाई थी, अत. आकाश में चलने में निपुण वे अश्व पर्वत शिखर से दस-पाँच अंगुल ऊपर ही ऊपर चलते रहे, किन्तु जब वे नदी के बालुकामय तट-प्रदेशों में आए तो पूरी खुर रखकर चलने लगे, जिससे आदि से लेकर अन्त तक उनकी खुर की निशानी दिखाई पड़ती थी ।

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः सम्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥२२॥

अन्वयः—सध्वानम् निपतितनिर्झरासु अधित्यकासु मन्द्रैः प्रतिनिनदैः समूर्च्छितः रथाना ध्वनिः घनरवशङ्कया उद्ग्रीवैः मयूरैः सोत्कण्ठम् उपशुश्रुवे ॥२२॥

अर्थ—शब्द करते हुए प्रवाहित होने वाले झरनों से युक्त उस इन्द्रकील र्वत की अधित्यका में गम्भीर प्रतिध्वनि से प्रवर्द्धित रथों की घड़घड़ाहट को, दलों के गरजने के भ्रम में पड़कर गरदन ऊपर उठाकर देखनेवाले मयूरों ने त्कठापूर्वक सुना ॥२॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार ।

सम्भिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भःस्रु तिमवलोकयांबभूवुः॥२३॥

अन्वय.—उपमेखल नीलाना मणीना अविरलपातिभिः मयूखैः भृश म्भिन्ना वप्राम्भःस्रु तिम् वनिताः नभोन्तराले विछिन्नाम् इव अवलोकयाम्बभूवुः ॥२३॥

अर्थ—इन्द्रकील पर्वत के तट-प्रान्त मे स्थित नीलम मणि की निरन्तर काश मान किरणों से मिलकर अत्यन्त नीले वर्ण की शिखरों से गिरने वाली लधाराओं को अप्सराओं ने आकाश के मध्यभाग में बीच से गुप्त (छिपी हुई) समान देखा ॥२३॥

टिप्पणी—नीलम मणि की किरणें शिखरों से गिरती हुई जलधारा को भी ला बना देती थीं, जिसके कारण वे नीले आकाश में लुप्त-सी हो जाती थीं। द्गुण अलङ्कार से उत्थापित उत्प्रेक्षा। दोनों अलङ्कारों का अंगांगीभाव से संकर ौर भ्रान्तिमान् की व्यंजना।

ासन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
व्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथञ्चिदीषुः ॥२४॥

अन्वयः—धूर्गतानाम् धियम् अवमत्य आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तः व्याजम् निजकरिणीभिः आत्तचित्ताः सुरकरिणः प्रस्थानम् कथञ्चित् ईषुः ॥२४॥

अर्थ—हथवानों की अवज्ञा कर समीपस्थ जगली हाथियों के मार्ग में आने वाली मदजल की सुगन्ध के प्रति क्रुद्ध, एव फिर अपनी-अपनी हथिनियों द्वार सहलाए जाने पर आकृष्ट होने वाले देव गजराज बड़ी कठिनाई से किसी प्रका आगे चलने के लिए राजी किए गए ॥२४॥

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथांगनुन्नं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या ॥२५॥

अन्वयः—नीरन्ध्रम् पथिषु रथाङ्गनुन्नम् पर्यस्यन्नवसलिलारुणम रजः वहन्ती सा वाहिनी घर्मान्तक्षुभितजला जह्नुकन्या इव वनगहनानि आतेने ॥२५॥

अर्थ—मार्ग में रथ के चक्कों से उठकर अत्यन्त सघन रूप में उड़ती हुई नूतन अर्थात् गँदले जल की तरह अरुण वर्ण की धूलो से ढँकी हुई वह देवगनाओं की सेना वर्षाऋतु के गँदले जल वाली गङ्गा की तरह फलों-फूलों युक्त एवं पुराने भयकर जगलों वाले उस पर्वतीय प्रदेश में फैल गयी ॥२५॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

सम्भोगक्षमगहनामथोपगंगं बिभ्राणा ज्वलितमणीनि सैकतानि।
अध्यूषुरच्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्रारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम् ॥२६॥

अन्वय.—अथ वृत्रारेः सहायाः उपगङ्गम् सम्भोगक्षमगहनाम् ज्वलितमणीनि सैकतानि बिभ्राणाम् च्युतकुसुमाचिताम् अविरलशाद्वलाम् धरित्रीम् अध्यूषुः ॥२६॥

अर्थ—तदनन्तर वृत्रासुर के शत्रु देवराज इन्द्र के उन सहायकों ने गङ्गा के समीप, निवासादि के लिए उपयोगी, उज्ज्वल मणियों से युक्त बालुकामय प्रदेश से सुशोभित, वृक्षों से गिरे हुए पुष्पों से व्याप्त एव सघन हरी घासों मनोहर धरती पर अपना आवास स्थल बनाया ॥२६॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलङ्कार।

भूभर्तुः समधिकमादधे तदोर्व्याः श्रीमत्ता हरिसखवाहिनीनिवेशः।
संसक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयापि योगः ॥२

अन्वयः—तदा हरिसखवाहिनीनिवेशः भूभर्तुः उर्व्याः समधिकम् श्रीमत्ताम् धे। महोदयानाम् ससक्तौ किमसुलभम्। यदृच्छया योगः अपि उच्छ्रायम् ते ॥२७॥

अर्थ—उस समय गन्धर्वों की सेना के उस शिविर ने इन्द्रकील गिरि की धरती की पूर्व की अपेक्षा अधिक श्री वृद्धि की। सच है, महान पुरुषों का र्क होने पर कौन सी वस्तु दुर्लभ है, उनका आकस्मिक सम्पर्क भी उत्कर्ष की कराता है ॥२७॥

टिप्पणी—अर्थापत्ति अलङ्कार।

सामोदाः कुसुमतरुश्रियोविविक्ताःसम्पत्तिःकिसलयशालिनीलतानाम्।
साफल्यं ययुरमरांगनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥२८॥

अन्वयः—सामोदाः कुसुमतरुश्रियः विविक्ताः किसलयशालिनीलतानाम् त्तिः अमराङ्गनोपभुक्ताः साफल्यम् ययुः। यया परेषाम् उपकुरुते सा मीः ॥२८॥

अर्थ—सुगन्ध से युक्त पुष्प-प्रधान वृक्षों की शोभा, निर्जन प्रदेश, नूतन वों से मनोहर लताओं की छटा—ये सभी चीजें देवागनाओं द्वारा उप-त होकर सफल हो गयीं। सच है, जिससे दूसरों का उपकार हो वही लक्ष्मी ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् जिसके द्वारा दूसरे का कल्याण न हो वह लक्ष्मी नहीं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्ताल्लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम्।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् ॥२९॥

अन्वयः—क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तात् लीनाहिश्वसितविलोलपल्ल-नाम् सेव्यानाम् चन्दनानाम् सम्पर्कम् हतविनयैः आवृतानाम् इव परिहरति ॥२९॥

अर्थ—थके होने पर भी देवागनाएँ अपने आगे खड़े हुए, लिपटे हु पों की फूत्कार से चचल पल्लवों वाले सेवनीय चन्दन वृक्षों के समीप उ कार से नहीं गयीं जिस प्रकार से दुष्ट-दुर्जनों से घिरे हुए सज्जनों के ोग नहीं जाते ॥२६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम्।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ॥३

अन्वयः—विदितनयैः उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटाः श्रमम् विनेतुम् धरि आनीताः द्विपाः युगान्तवातैः आक्षिप्तद्रुमगहनाः पर्यस्ता. गिरयः इव विरेजुः ॥३

अर्थ—गज-शिक्षा में निपुण महावतों द्वारा थकावट दूर करने के जिन पर से ध्वजा, झूल, हौदा आदि सामग्रियाँ उतार कर भूमि पर रख दी थीं, वे गज प्रलयकाल के झंझा वात से उखाड़ कर फेंके गये झाड़ झंखा विहीन पर्वतों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३०॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे॥

अन्वयः—गजपतिना प्रस्थानश्रमजनिताम् निद्राम् विहाय आमुक्ते स पङ्के शय्यान्ते क्षणम् विलीनम् अलिनाम् कुलम् संरम्भच्युतम् शृङ्खलम् चकाशे ॥३१॥

अर्थ—(सेना का एक) गजराज जब मार्ग की थकावट से उत्पन्न नि छोड़कर मदजल से पंकिल अपने शयन-स्थल को त्याग कर चला तब क्षण ही एकत्र (गन्धलोभी) भ्रमरों की पंक्ति वहाँ इस प्रकार से सुशोभित हुई मानो गजराज के वेग से टूटी हुई उसकी जंजीर हो ॥३१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आयस्त' सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा सम्प्राप्तु वनगजदानगन्धि रोधः ।
मूर्धान निहितशिताङ्कुश विधुन्वन्यन्तार न विगणयाञ्चकार नाग. ॥३२॥

अन्वयः—वनगजदानगन्धि रोधः सम्प्राप्तुम् आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा नागः निहितशिताङ्कुशम् मूर्धानम् विधुन्वन् यन्तारम् न विगणयाञ्चकार ॥३२॥

अर्थ—जङ्गली हाथी के मदजल की सुगन्ध से पूर्ण दूसरे तट पर जाने के लिए उत्सुक एक दूसरा गजराज देवनदी नन्दाकिनी के प्रवाह से मार्ग के रुद्ध हो जाने के कारण धँसाए हुए तीक्ष्ण अकुश से युक्त अपने शिर को (क्रोध से) हिलाते हुए अपने महावत को तनिक भी नहीं गिन रहा था ॥ ३२ ॥

आरोढु: समवनतस्य पीतशेपे साशङ्क पयसि समीरिते करेण ।
संमार्जन्नरुणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकर. करेणो. ॥३३॥

अन्वय:—समवनतस्य करेणो. करेण पीतशेपे पयसि आरोढुः साशङ्कम् समीरिते शीकरः अरुणमदस्रुती कपोलौ समार्जन् मद इव सस्यन्दे ॥३३॥

अर्थ—(नदी में पानी पीने के लिए) झुके हुए एक गजराज ने अपने सूँड़ से जब पानी पी लिया तब अपने महावत को डरते हुए शेष पानी को उसने ऊपर की ओर उछाला। उस समय उसके फेंके हुये पानी की बूँदें लाल मद चुवाने वाले उसके दोनो कपोलों को धोती हुई, मद की बूँदों के समान नीचे चूने लगीं ॥३३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

आघ्राय क्षणमतितृष्यतापि रोपादुत्तीर निहितविवृत्तलोचनेन ।
सम्पृक्त वनकरिणा मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ॥३४॥

अन्वय.—अतितृष्यतापि वनकरिणाम् मदाम्बुसेकै. सम्पृक्तम् वारि क्षणम् आघ्राय रोपादुत्तीरम् निहितविवृत्तलोचनेन वारणेन हिमम् अपि नाचेमे ॥३४॥

अर्थ—अत्यन्त प्यास से पीड़ित होने पर भी एक गजराज जंगली हाथी के मद के सुगन्धित जल को क्षणभर के लिए सूँघकर क्रोध से दूसरे तट की ओर

आँखें फाड़-फाड़ कर घूरने लगा। किन्तु अत्यन्त शीतल होते हुये भी उस जल को उसने नहीं पिया ॥३४॥

टिप्पणी—उसे प्रतिद्वन्द्वी हाथी के स्मरण से क्रोध आ गया। और क्रोध आने पर बलवान का भूख प्यास की चिन्ता छोड़ देना स्वाभाविक ही है।

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥३५॥

अन्वयः—क्रीडन्तः गजपतयः निम्नगायाः पयांसि प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः उत्तेरुः ॥३५॥

अर्थ—क्रीडा में निमग्न वे गजराज देवनदी गङ्गा के जल को अपने चूते हुए मदजल से सुगन्धित बनाकर, कमलों के पीले-पीले परागों से लाल वर्ण के मद-रेखा को छिपाते हुए, कमल की सुगन्ध से पूरित कपोलों को लेकर बाहर निकले ॥३५॥

टिप्पणी—समपरिवृत्ति अलङ्कार।

आकीर्णं बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गित तटेषु।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे॥३६॥

अन्वयः—घनारुणेन बलरजसा आकीर्णम् सपदि प्रक्षोभैः तटेषु तरङ्गितम् मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गम् अम्बु माञ्जिष्ठम् वसनम् इव निर्बभासे ॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त लाल रंग की सेना की धूल से भरा, (हाथियों के) स्नान से शीघ्र ही क्षुब्ध होकर तटों से टकराता हुआ, एवं गजराजों द्वारा विमर्दित कमल के पीले परागों से मिश्रित वह देवनदी गंगा का जल मजीठ के रंग में रंगे हुए वस्त्र की तरह सुशोभित होने लगा ॥३६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तैः संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम्।
सम्प्रापे निसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ॥३७॥

अन्वयः—श्रीमद्भिः नियमितकन्धारापरान्तैः अगुरुवनेषु साङ्गहारम् ससक्तैः स्रुतमदाम्बुभिः गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा सम्प्रापे ॥२७॥

अर्थ—अत्यन्त शोभा युक्त, पिछले पैर और कन्धा से अगुरु के वृक्षों में बँधे हुए और झूमते हुए कुछ गजराज, जिनके शरीर से मद-जल की धारा बह रही थी ऐसे पर्वतों की शोभा धारण कर रहे थे, जिनसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट कर गिर रही हों और साथ ही जल की धारा भी चू रही हो ॥२७॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम्।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ॥३८॥

अन्वयः—स्रोतोभिः अजस्रम् निःशेषम् प्रशमितरेणु मदजलम् उज्झताम् वारणानाम् व्यवहितभूरिपुष्पगन्धः भिन्नैलासुरभिम् आमोदम् गन्धवाहः उवाह ।३८।

अर्थ—देवसेना के गजराजों ने अपने सातों मदस्रावी स्थानों से निरन्तर मद चुवाकर सम्पूर्ण धूल को शान्त कर दिया था। उस मदजल की सुगन्ध से पुष्पों की तीव्र सुगन्ध भी ढँक (छिप) गयी थी और वहाँ पिसी हुई इलायची के समान मनोहर सुगन्ध बिखर रही थी। ऐसी सुगन्ध को गन्धों का वाहक वायु (चतुर्दिक) फैला रहा था ॥३८॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

सादृश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकंठान्कच्छान्तानमरमहेभबृंहितानि ॥३९॥

अन्वयः—गभीरमेघघोषैः सादृश्यम् दधति उन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि अमरमहेभबृंहितानि कच्छान्तान् चकितचकोरनीलकण्ठान् आतेनुः ॥३९॥

अर्थ—बादलों के गंभीर रूप से गरजने की समानता धारण करने वाली, नींद के उचट जाने के कारण क्षुब्ध सिंहों द्वारा सुनी गई, देवताओं के गजराजों की चिग्घाड़ नमूचे कच्छ प्रदेश में चकोरों और मयूरों को चकित करते हुए फैल गयीं ॥३९॥

टिप्पणी—चकोरों और मयूरों को बादल गरजने की भ्रान्ति हुई, अतः वे चकित रह गये क्योंकि आकाश में बादल नहीं थे। भ्रान्तिमान् अलङ्कार।

शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानाम्,
अध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम्।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां
लक्ष्मी: पुरोपवनजा वनपादपानाम् ॥४०॥

अन्वयः—शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानाम् अध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम् निवेशनविभागपरिष्कृतानाम् वनपादपानाम् पुरोपवनजा लक्ष्मीः जज्ञे ॥४०॥

अर्थ—जिनकी शाखाओं में मनोहर वस्त्र और आभूषण टँगे हुए थे, जो मार्ग की थकावट से चूर देवागनाओं द्वारा सेवित थे, शिविर बनने के कारण जिनके नीचे की भूमि झाड़-बुहार कर परिष्कृत कर दी गई थी—ऐसे वन वृक्षों की शोभा नगर के उपवनों (पार्क) जैसी हो रही थी ॥४०॥

टिप्पणी—नगर के उपवनों में भी भ्रमणार्थी दलों द्वारा ऐसी ही वृक्ष-शोभा होती है। निदर्शना अलकार। वसन्ततिलका छन्द।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में सातवाँ सर्ग समाप्त ॥७॥

आठवाँ सर्ग

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदा सनातनम् ।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ॥१॥

अन्वयः—अथ सुराङ्गनाः स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वल ज्वलन्मणि व्योमसदा सनातन गोपतिचापगोपुरं पुरं वनाना विजिहीर्षया जहुः ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अपनी माया से निर्मित भवनों से सुन्दर, चमकते हुए रत्नों से सुशोभित व इन्द्र धनुष के समान अनेक रगों वाले गोपुरों (फाटकों) से विभूषित गन्धर्वों के उस सनातन (सदैव एक रूप रहनेवाले) नगर को देवागनाओं ने वन विहार की इच्छा से त्याग दिया ॥१॥

टिप्पणी—अर्थात् अप्सराएँ गन्धर्व नगर से बाहर निकल कर वन विहार के लिए चल पड़ीं। छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा उपमा अलकार की ससृष्टि। इस सर्ग में वशस्थ वृत्त है।

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुधः।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणा. क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम् ॥२॥

अन्वयः—वनजायतेक्षणाः ताः यथायथ नभश्चरैः सहिताः प्रभाभिः उद्भासिताशैलवीरुधः वन विशन्त्यः क्षणद्युतीनाम् एकरूपता दधुः ॥२॥

अर्थ—वे कमललोचना अप्सराएँ अपने-अपने प्रिय गन्धर्वों के साथ अपनी कान्ति से पर्वतों एवं लताओं आदि को उद्भासित करती हुई वन में प्रवेश करते समय (रुक-रुक कर चमकने वाली) बिजली की छटा के समान सुशोभित होने लगीं ॥२॥

टिप्पणी—मेघों में जैसे बिजली रुक-रुक कर चमकती है वैसे ही वृक्षों एव लताओं के बीच-बीच मे अप्सराएँ अपने प्रियतमों के साथ चमकती हुई दिखाई पड़ रही थीं। श्लेष से अनुप्राणित उपमा अलकार।

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः ।
नितम्बिनीनां भृशमादधे धृतिं नभःप्रयाणादवनौ परिक्रमः ॥३॥

अन्वयः—निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः अवनौ क्रमः नितम्बिनीनां नभःप्रयाणात् भृशं धृतिं आदधे ॥३॥

अर्थ—उन नितम्बिनी सुर बालाओं को पृथ्वी पर पैदल चलना आकाश के सचरण से अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि इससे उनके गोले-गोले जघनस्थलों एवं स्तनों की थकावट दूर हो रही थी और साथ ही उनके नूपुरों के मंजुल ध्वनि भी हो रही थी ॥३॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलंकार ।

वनानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः ।
पुरोऽभिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥४॥

अन्वयः—घनानि करप्रचेयानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः शाखिनः अपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरः अभिसस्रे । हि कामिनः गुणेषु यथोत्तरेच्छा ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त सघन हाथ से पाने योग्य यथेष्ट पुष्पों को धारण करने वाले वृक्षों को छोड़कर वे सुर-बालाएँ आगे ही बढ़ती गयीं । सच है, कामी लोग सर्वदा अच्छे-अच्छे गुणों की खोज में लगे रहते हैं ॥४॥

टिप्पणी—परिकरोत्थापित अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः ।
विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहृताः सिषेविरे ॥५॥

अन्वयः—विलेपनामोदहृताः वनालयः तनूः अलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः विलासिनीबाहुलताः सिषेविरे ॥५॥

अर्थ—अंगरागों की सुगन्ध से आकृष्ट वन के भ्रमरों ने देवांगनाओं की उन पतली-पतली भुजलताओं का सेवन किया, जो आलते से रंगी हुई लाल-हथेली-रूपी पल्लवों से युक्त थीं एवं चमकते हुए नखों की कान्ति-रूपी मंजरियों से सुशोभित थीं ॥५॥

टिप्पणी—रूपक अलंकार

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥६॥

अन्वयः—शिलीमुखैः निपीयमानस्तवकाः चलबालपल्लवाः अमन्ददष्टौष्ठकरावधूनन विडम्बयन्ती अशोकयष्टिः वधूजनैः ददृशे ॥६॥

अर्थ—अप्सराओं ने भ्रमरों द्वारा जिनके पुष्प-स्तवकों के मकरन्द पी लिए गए थे, और उनके चञ्चल लाल पल्लव हिल रहे थे, उन अशोक-लताओं को नायक द्वारा कसकर होंठ के काट लेने पर दोनों हाथों को कँपानेवाली नायिका का अनुकरण करती हुई देखा ॥६॥

टिप्पणी—जैसे नायक द्वारा कस कर होंठ काट लेने पर नायिका दोनों हथेलियाँ कँपाती हैं, उसी प्रकार भ्रमरों द्वारा पुष्प-स्तवकों को पी लेने पर अशोक लता भी अपने नूतन लाल पल्लवों को हिला रही थी। उपमा और समासोक्ति का अंगागीभाव से संकर।

[कोई नायक किसी भ्रमर पीडित-नायिका से कहता है—]

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलि ॥७॥

अन्वयः—हे मानिनि ! नवपल्लवाकृती करौ धुनाना वृथा परिश्रम मा कृथाः। कल्पलताभिशङ्कया उपेयुषी षट्पदावलिः कथ न्वितस्त्रस्यति ॥७॥

अर्थ—अरी मानिनी ! नूतन किसलयों के समान मनोहर हथेलियों को कँपाती हुई तुम व्यर्थ परिश्रम मत करो। यह भ्रमर पंक्ति कल्पलता की शंका से समीप में आई हुई है, तुम इससे क्यों डर रही हो ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् इससे डरने की आवश्यकता नहीं है। भ्रान्तिमान्, उपमा और अर्थान्तरन्यास का सङ्कर।

[कोई सखी किसी प्रणय-कुपिता मानिनी से कह रही है—]

जहीहि कोपं दयितोऽनुगम्यता पुरानुशेते तव चञ्चल मनः ।
इति प्रिय काञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः ॥८॥

अन्वयः—प्रियम् उपैतुम् इच्छतीं काञ्चित् निपुणः सखीजनः कोप जहीहि दयित. अनुगम्यताम् । चञ्चल तव मनः पुरा अनुशेते—इति पुरः अनुनिन्ये ॥८

अर्थ—'मान त्याग दो, अपने प्रियतम के पास चलो, तुम्हारा मन चञ्चल है, आगे चलकर पछताओगी ।' अपने प्रियतम के पास जाने के लिए इच्छु किसी नायिका से उसकी चित्तवृत्ति समझने वाली किसी सखी ने इस प्रकार बातें करके उसे पहले ही प्रसन्न कर लिया ॥८॥

[नीचे के चार श्लोकों का अर्थ एक ही में है—]

समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः ।
प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषित' ॥९॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुषश्च्युताः प्रवाहादभित प्रसारिणः ।
प्रियाङ्कशीता. शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः ॥१०॥

सखीजन प्रेम गुरूकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्त य ।
स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभि पुष्पविलोचनैर्लता. ॥११॥

उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जह्रु सुरराजयोषिताम् ।
कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दना. ॥१२॥

अन्वयः—समुन्नतै. काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः स्वकलत्रचारुभिः प्रतीरदेशै. विभूषिता कुञ्जसमुद्रयोषित. विदूरपातेन भिदा उपेयुषः प्रवाहात् च्युताः अभित. प्रसारिण. प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विष. वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः, स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरै. विसारिभि. पुष्पविलोचनैः गुरूकृतादर प्रेम सखीजन निरीक्षमाणाः इव नम्रमूर्तय. लता., मदारुणै. करिणाम् कपोलकाषैः उपाहितश्यामरुचः चन्दनाः च बृहती. अधित्यकाः उपेयुषीणाम् सुरराजयोषिता मनांसि जह्रु. ॥९-१२॥

अर्थ—फूली हुई ऊँची-ऊँची काश-रूपी साड़ियों से अलंकृत, बोलते हुए सारसों की पंक्ति-रूपी मेखलाओं से सुशोभित, ऊँचे-ऊँचे कगारों-रूपी अपने

मनोहर नितम्बों से विभूषित वन की नदियाँ; दूर से गिरने के कारण खण्ड-
ण्ड रूप मे विभक्त प्रवाहों से दूर हटकर चारों ओर फैले हुए प्रियतम के
नक के समान शीतल, पवित्र मोती के समान चमकने वाले मानों वन के हास
ी भाँति दिखाई पड़ने वाले जलविन्दु, निश्चल भ्रमर-रूपी अञ्जनों से अंजित
वं विकसित पुष्प-रूपी नेत्रों से मानों सखियों को आदर-सत्कार के लिए अत्यन्त
म से देखती हुई की भाँति नीचे झुकी हुई लताएँ एव मदजल से लाल रग
 कपोलों के खुजलाने से श्यामल रग के चन्दनों के वृक्ष पर्वत की अधित्यका
चोटी) पर पहुँची हुई उन देवागनाओं के मन को हरने लगे ॥६-१२॥

टिप्पणी—जिन चारों वस्तुओं ने देवागनाओं का मन मोह लिया, उन्हीं
ा एक-एक श्लोक में वर्णन किया गया है। प्रथम श्लोक मे गम्यमान उपमा।
द्वितीय श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि। तृतीय श्लोक में रूपक और
उत्प्रेक्षा का सकर और चतुर्थ श्लोक मे काव्यलिंग अलंकार है।

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमाना. प्रसवेन शाखिनाम्।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छतां प्रियाणि चक्रुः प्रणयेन योषितः ॥१३॥

अन्वय.—चित्तहारिणा शाखिना प्रसवेन विलोभ्यमानाः योषित. स्वगोचरे
सत्यपि उपकर्तुं इच्छता नभश्चराणा प्रणयेन प्रियाणि चक्रुः ॥१३॥

अर्थ—चित्त को मोहित कर लेने वाले वृक्षों की पुष्प-समृद्धि से आकृष्ट उन
देवागनाओं ने अपने हाथ से पुष्पादि के सुलभ होने पर भी, सेवा-शुश्रूषा द्वारा
उपकार करने के इच्छुक गन्धर्वों के प्रेम से उनका प्रिय कार्य किया ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् यद्यपि उन वृक्षों में पुष्पादि इतने समीप थे कि देवाग-
नाएँ अपने ही हाथ से चुन सकती थीं, तथापि गन्धर्वों को प्रसन्न करने के लिए
उन्हीं से चुनवा कर लिया।

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवल लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥१४॥

अन्वयः—कुसुमानि प्रयच्छता दयितेन उच्चैः विपक्षगोत्रम् लम्भिता मानिनी न किञ्चित् ऊचे। केवलं वाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुव लिलेख ॥१४॥

अर्थ—पुष्प चुनकर देते समय नायक ने उच्चस्वर से जब सपत्नी का नाम ले लिया तब मानिनी नायिका कुछ भी नहीं बोली। वह केवल आँसुओं से डबडबाई हुई आँखों से युक्त होकर चरणों द्वारा धरती पर मिट्टी कुरेदती रही ॥१४॥

टिप्पणी—सपत्नी का नाम लेने से उसे जलन हुई। मानिनी थी अतः बोली कुछ भी नहीं, केवल रोती ही रही।

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥१५॥

अन्वयः—वाच यच्छति प्रिये निबद्धदृष्टिः उन्मुखी शिथिलाकुलोच्चया अपरा अंशुक न समादधे। पुष्पेषु वृथा आहितं पाणिपल्लव न विवेद ॥१५॥

अर्थ—नायक के साथ वार्तालाप करती हुई एक दूसरी नायिका अपलक दृष्टि से उसी की ओर उन्मुख होकर देख रही थी; उसकी नींवी (फुँफुदी) ढीली हो गयी थी किन्तु वह उसे सँभाल नहीं रही थी। यही नहीं, फूलों को तोड़ते समय उसके पल्लव रूपी हाथ व्यर्थ ही इधर-उधर हो रहे थे, यह भी वह नहीं जान पा रही थी ॥१५॥

टिप्पणी—उसका चित्त नायक की बातों में लगा था। वह प्रगल्भा नायिका थी। उपमा और रूपक का सन्देह संकर।

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम्।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ॥१६॥

अन्वयः—आसक्तलतान्तभूषणं कुसुमावतंसकं सलीलं समासजन्त्या कान्तया कश्चित् स्तनोपपीडं नितम्बिना घनेन जघनेन नुनुदे ॥१६॥

अर्थ—(प्रियतम द्वारा दिए गए) नूतन कोमल पल्लवों के साथ बनाए गए पुष्प के मस्तकाभूषण को लीलापूर्वक धारण किए हुए एक सुन्दरी ने नत

ाढ़ आलिंगन देकर अपने सघन जघनस्थलों से अपने नायक को प्रसन्न
तेया ॥१६॥

टिप्पणी—यह भी प्रगल्भा नायिका थी।

[नीचे के दोनों श्लोकों का अर्थ एकही में है—]

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा ।
वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥१७॥

विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ॥१८॥

अन्वयः—विलोलनीविना कलत्रभारेण गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा वलिव्य-
स्फुटरोमराजिना निरायतत्वात् ताम्यता उदरेण विलम्बमानाकुलकेशपाशया
विष्कृतबाहुमूलया कयाचित् तरुप्रसूनानि अपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः
ददे ॥१७-१८॥

अर्थ—एक दूसरी देवांगना के, जिसके नितम्ब के भारी होने के कारण
के भार से नीवी-बन्धन ढीले हो गए थे, जिसके वक्षस्थल के वस्त्रों के उड़
से दोनों स्तन स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे और अति विस्तृत न होने के कारण
के दुर्बल उदर भाग पर त्रिवली के न होने से रोमावली स्पष्ट दिखाई पड़
थी, पीठपर लंबी-लंबी केशराशि लटक रही थी और उससे बाहुओं के मूलभाग
खुले हुए थे। (इस प्रकार) फूलों के चुनने के बहाने से अत्यन्त अभिलाषा
साथ उसने अपने प्रियतम के मन को अपनी ओर खींच लिया ॥१७-१८॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में स्वभावोक्ति तथा दूसरे में स्वभावोक्ति और
व्यलिंग का अंगांगीभाव से संकर।

व्यपाहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥१९॥

अन्वयः—उन्नतपीवरस्तनी काचित् लोचनतः पुष्पजं रजः मुखानिलैः व्यपो-
तुम् अपारयन्तं किल प्रियम् उन्मनाः पयोधरेण उरसि जघान ॥१९॥

अर्थ—ऊँचे, कठोर और विशाल स्तनोंवाली एक देवागना ने मुख की भाप द्वारा आँखों से पुष्प-पराग निकालने में व्यर्थ ही असमर्थ होने वाले अपने प्रियतम के वक्षस्थलपर उत्कण्ठित होकर अपने स्तनों से प्रहार कर दिया ॥१९॥

टिप्पणी—उसका प्रियतम भाप से पराग निकालने के बहाने से उसके मुख के सुखद- स्पर्श का आनन्द ले रहा था। जब नायिका को उसकी चालाकी मालूम हो गयी तो उसने अपने स्तनों से उसके वक्षस्थल को ताडित किया। यह भी प्रगल्भा नायिका थी।

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्रपल्लवे ।
विहाय निःसारतयेव भूरुहान्पदं वनश्रीर्वनितासु सन्दधे ॥२०॥

अन्वयः—यथाभिरामम् कुसुमाग्रपल्लवे इमानि अमूनि-इति शनैः अपवर्जिते वनश्रीः निःसारतया इव भूरुहान् विहाय वनितासु पद सन्दधे ॥२०॥

अर्थ—अच्छे-अच्छे पुष्पों और पल्लवों के, इनको, (मैं लूँगी) उनको (तुम लेलो) धीरे-धीरे ऐसा कह कर चुन लिए जाने पर उस वन की शोभा मानों वृक्षों को निस्सार समझ कर छोड़ दिया और उन देवागनाओं में आ अपना आश्रय बन लिया ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् धीरे-धीरे देवागनाओं ने वन के अच्छे-अच्छे पुष्पों और पल्लवों को चुन लिया और वनश्री मानो उन्हीं में आकर बस गई। अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकार का सकर।

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः ।
महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ॥२१॥

अन्वयः—प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः पुष्पसुगन्धिः अङ्गनाजनः महीरुहः वपुः गुणोच्छ्रायम् आददे इव ॥२१॥

अर्थ—नूतन पल्लवों के तोड़ने के कारण उनके रस से रँगकर देवागनाओं के कर-किसलय लाल वर्ण के हो गए थे, पुष्पों के पराग से उनके कठोर स्तन पीले वर्ण के हो गए थे, उनके अंग पुष्पों की सुगन्ध से सुवासित हो रहे थे,

इस प्रकार मानों उन देवांगनाओं ने अपने शरीर की शोभावृद्धि की समस्त सामग्री उन्हीं वृक्षों से प्राप्त कर ली थी ॥२१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार ।

[नीचे के पाँच श्लोकों का अर्थ एकहीं में है—]

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रियः ।
समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे ॥२२॥

विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।
स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः ॥२३॥

समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः ।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ॥२४॥

समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः ।
चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥२५॥

विनिर्यतीनां गुरुखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मनः ।
सविस्मयं रूपयतो नभश्चरान्विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ॥२६॥

अन्वय.—वारणहस्तपीवरैः वरोरुभिः चिराय खिन्नान् नवपल्लवश्रियः समे अपि यातुम् अनीश्वरान् मदात् इव पदे पदे प्रस्खलतः चरणान्, विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया नवसैकतद्युतिं जित्वा स्थितानि श्रमातिरिक्तैः गौरवैः जघनानि ; समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैः नाभिभिः उपनीवि उपाहितश्रीणि वलीविभङ्गिषु मध्येषु स्तनातिभारात् नम्रतां दधन्ति उदराणि; घर्माम्बुकणैः समन्ततः चितानि अनुत्फुल्लविलोचनानि तुषारभूषणैः अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः सरोरुहैः समानकान्तीनि मुखानि च—अनुसानु वर्त्मनः गुरुखेदमन्थरं विनिर्यतीनां सुराङ्गनानां सविस्मयं रूपयतः नभश्चरान् तत्पूर्वम् इव ईक्षणादरः विवेश ॥२२-२६॥

अर्थ—इन्द्रकील के शिखरों के मार्गों पर अत्यन्त थकावट के कारण धीरे-धीरे चलती हुई उन देवांगनाओं के हाथी के सूँड़ के सदृश मांसल सुन्दर जंघाओं

के भार से देर से थके हुए नूतन किसलय के समान शोभायमान कोमल चर समतल भूमिपर भी चलने में असमर्थ थे। वे पग-पग पर मानों शराबी के की भाँति लड़खड़ा रहे थे। इसी प्रकार उनकी जघाएँ करधनी में जड़े हु रत्नों की कान्ति से उत्पन्न मनोहर तथा ऊँचे पृथुल नितम्बों की शोभा से (गगा के) नूतन वालुकामय तटो की शोभा को जीत रही थीं तथा अधि परिश्रम की थकावट से वे बहुत भारी हो रहीं थीं। इसी प्रकार उनके उदरों में किंचित् विकसित कमल की कलिका के समान मनोहर नाभियों से नीवी (फुँफुदी) के समीप लुभावनी शोभा हो रही थी। वे (उदर) मध्यभाग में त्रिवलियों से सुशो मित तथा (जघन स्थलों पर) उन्नत एवं विशाल स्तनों के भारी बोझ के पड़ने के कारण भीतर की ओर झुके हुए थे। इसी प्रकार उनके नेत्र पसीने की बूंदों से चारों ओर व्याप्त होने के कारण पूरे-पूरे नहीं खुल पा रहे थे, अतएव उनके मु भी उन कमलों की शोभा की समानता कर रहे थे, जो जलविन्दुओं से विभूषि एवं अविकसित पखुड़ियों से युक्त होते हैं, इस प्रकार उपर्युक्त रीति से सुशोभि उन देवागनाओं के चरणों, जंघाओं, उदरों, नेत्रों तथा मुखों को विस्मयपूर्वक दे वाले गन्धर्वों ने इस तरह के कुतूहल से देखा मानों उन्हें वे पहली बार दे रहे हों ॥२२-२६॥

टिप्पणी—प्रथम चार श्लोकों में इन्द्रकील के शिखरवर्ती मार्गों पर च हुई थकी देवागनाओं के चरणों, जघाओं, उदरों, नेत्रों तथा मुखों का वर्णन क हुए कवि ने बताया है कि बहुत थक जाने के कारण उन सब की एक विचित्र शोभा हो गयी थी, जिससे उनके प्रियतम गन्धर्वों को भी ऐसा कुतूहल हुआ म वे प्रथम बार उनका निरीक्षण कर रहे हैं। प्रथम श्लोक में उपमा अलंकार द्वितीय में भी उपमा अलकार है। चतुर्थ में भी उपमा है और पंचम में उत्प्रे अलंकार है। किन्तु समष्टि रूप में इन पांचों श्लोकों में स्वभावोक्ति अलंकार जो उत्प्रेक्षा का अग बन गया है।

[अब जलक्रीड़ा का वर्णन कवि आरम्भ कर रहा है—]

अथ स्फुरन्मीननिधूतपङ्कजा विपक्ततीरस्खलितोर्मिसंहतिः।
पयोऽवगाढुं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥२७॥

टिप्पणी—राजहंसों की गति में अप्सराओं की गति जैसी मन्दता तो थी किन्तु हाव-भाव नहीं थे, बालुकामय तट-प्रान्त उनके जघनों के समान ऊँचे एवं चिकने तो थे किन्तु उनमें पृथुल नितम्बों के समान कोई भार नहीं था एवं कमल उनके मुखों के समान मनोहर तो थे किन्तु उनमें आँखें नहीं थीं। तब फिर गुणवान् एवं निर्गुण में समानता कैसी !

विभिन्न पर्यन्तगमीनपङ्क्तयः पुरो विगाढाः सखिभिर्मरुत्वतः ।
कथञ्चिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥३०॥

अन्वयः—मरुत्वतः सखिभिः पुरः विगाढाः विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयः सभीतिभिः सुरसुन्दरीजनैः तत्प्रथमं कथञ्चित् आपः प्रपेदिरे ॥३०॥

अर्थ—इन्द्र के सचिव गन्धर्वों द्वारा (कहीं गड्ढा अथवा ग्राह आदि तो नहीं है, इसकी प्रतीति के लिए) प्रथम प्रवेश किये जाने पर, मछलियों की पंक्तियाँ समूह से च्युत होकर जिसमें इधर-उधर तैर रही थीं—ऐसे उस नदी के जल में डरती हुई देवांगनाओं का समूह, मानों प्रथम बार हो, इस तरह से किसी प्रकार प्रविष्ट हुआ ॥३०॥

टिप्पणी—स्त्रियाँ अनजाने प्रदेश में यों ही डरती हैं तब फिर नदी के जल में उनका यह डरना तो स्वाभाविक ही था। अतएव उनके प्रियतम गन्धर्वों ने पहले प्रविष्ट होकर उन्हें यह विश्वास दिलाया कि इसमें गड्ढा और मगर आदि हिंसक जन्तु नहीं हैं।

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः ।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरंगसंहतिः ॥३१॥

अन्वयः—प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः रमणीभिः अम्भसि विगाढमात्रे विभिद्यमाना तरङ्गसंहतिः तीरेषु सारसान् उदस्य विससार ॥३१॥

अर्थ—बड़े प्रयत्न से किसी प्रकार अपने स्थूल मांसल जंघाओं को उठाकर वे देवांगनाएँ जैसे ही जल में प्रविष्ट हुईं वैसे ही नदी की लहरों की पंक्तियाँ टूट-फूट कर तटों पर स्थित सारसों आदि जल पक्षियों को दूर-दूर हटाकर फैल गईं ॥३१॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।
तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ॥३२॥

अन्वय—शिलाघनैः नाकसदां उरःस्थलैः बृहन्निवेशैः वधूपयोधरैश्च तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना अम्भसा रुषा इव कलुषत्वं भेजे ॥३२॥

अर्थ—पत्थर की शिलाओं के समान कठोर गन्धर्वों के वक्षस्थलों तथा अत्यन्त स्थूल एवं कठोर देवांगनाओं के स्तनों से टकरा कर तटों पर पहुँचने के कारण टूटी हुई लहरियों से युक्त गङ्गा का जल मानों उन लोगों पर क्रुद्ध होकर कलुषित हो गया ॥३२॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से कोई मधुर स्वभाव का व्यक्ति कठोर स्वभाव के व्यक्ति द्वारा ताड़ित होकर निकाल दिया जाता है तब वह क्षुब्ध होता है उसी प्रकार नदी का जल भी मानों क्षुब्ध हो गया। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।
अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ॥३३॥

अन्वयः—विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः प्रविलुप्तचन्दनाः अतिप्रसङ्गात् सुराङ्गनानां विहितागसः ऊर्मयः सभया इव, मुहुः प्रकम्पम् ईयुः ॥३३॥

अर्थ—देवांगनाओं की केशराशि को बिखराती हुई, उनकी पुष्पमालाओं को चञ्चल करती हुई, उनके चन्दनादि अङ्गरागों को मिटाती हुई और इस प्रकार उनका अत्यन्त अपराध करती हुई मानों वे नदी की लहरें भयभीत-सी होकर बारम्बार काँपने लगीं ॥३३॥

टिप्पणी—अपराधी अपने अपराध के कारण दण्ड के भय से काँपता ही है। तात्पर्य यह है कि देवांगनाओं की जलक्रीड़ा से नदी की लहरें चञ्चल हो गई। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।
हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान्विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः ॥३४॥

अन्वयः—विपक्षचित्तोन्मथना. ये नखव्रणाः विभ्रममण्डनेन तिरोहित
हनस्य, कुङ्कुमस्य शेषान् इव विकत्थनीयान् तान् स्त्रियः अन्यथा दधुः ॥३४॥

अर्थ—सपत्नियों के चित्त को खटकनेवाले जो नखक्षत, अब तक शृंगार
प्रसाधनों से ढँके हुए थे वे जल से धुलकर मानों कुङ्कुमादि की शेष-रेखा के
समान बन गए थे अत. उनको उन रमणियों ने प्रियतम की प्राणवल्लभा हो
की शेष मधुर-स्मृति के रूप में स्पष्ट ही रखा ॥३४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

[नीचे के दोनों श्लोकों का अर्थ एक ही में गुम्फित है—]

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टेः स्विदमू विलोचने।
शिरोरुहः स्विन्नतपक्ष्मसन्ततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ॥३५॥

अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदाम्बभूवुः सुचिरेण योषितः ॥३६॥

अन्वयः—अमू विलीनषट्पदे सरोजपत्रे नु, विलोलदृष्टेः विलोचने स्वि
नतपक्ष्मसन्ततेः शिरोरुहाः स्वित् निशब्दनिश्चलम् द्विरेफवृन्दं नु। अगूढहा
स्फुटदन्तकेसरं मुख स्वित् विकसत् एतत् पङ्कजं नु—इति नलिनीवने, प्रले
सखीं योषितः सुचिरेण विदाम्बभूवुः ॥३५-३६॥

अर्थ—ये दोनों भ्रमरसेवित कमल दल हैं अथवा चचल नेत्रों वाली
हमारी सखी के नेत्र ! ये सघन भौहों वाली हमारी सखी के केशपाश हैं या
चुपचाप निश्चल बैठे हुए भ्रमरों की पंक्तियाँ ! मन्द मन्द मुस्कान के कारण
स्पष्ट केसर के समान शोभायमान दाँतों की कान्तियों से मनोहर हमारी सखी
के ये मुख हैं या खिलते हुए कमल—इस प्रकार का तर्क-वितर्क करते हुए
कमलिनियों के वन में छिपी हुई अपनी किसी सखी को रमणियों ने बड़ी देर में
पहचाना ॥३५-३६॥

टिप्पणी—सन्देह अलङ्कार।

प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥३७

अन्वयः—काचित् प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसन्निधौ पीवरस्तने वक्षसि उपाहिता स्रजं जलाविलां तां न विजहौ। हि गुणाः प्रेम्णि वसन्ति वस्तुनि न ॥३७॥

अर्थ—किसी नायिका ने सपत्नी के सम्मुख प्रियतम द्वारा गूँथकर उन्नत उरोजों से सुशोभित वक्षस्थल पर पहिनाई गई पुष्पमाला को जल से म्लान होने पर भी नहीं छोड़ा। सच है, गुण तो प्रेम में निवास करते हैं, वस्तु में नहीं ॥३७॥

टिप्पणी—प्रेम वस्तु की उपयोगिता या अनुपयोगिता की अपेक्षा नहीं करता। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्ततां यदेव रोद्धुं रमणीभिरञ्जनम्।
हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ॥३८॥

अन्वयः—रमणीभिः यत् अञ्जनम् न्यस्तम् उपान्तरक्तता रोद्धुं एव असंशयं तस्मिन् सलिलेन हृते अपि रागः नयनेषु शुक्लतां निरास श्रियम् न ॥३८॥

अर्थ—सुन्दरियों ने जो अञ्जन लगा रखा था वह मानों नेत्रों के समीप (कोनों की) लालिमा की गति को रोकने के लिए ही था, यह निस्सन्देह समझना चाहिये। क्योंकि उसके जल से धुल जाने पर भी लालिमा ने नेत्रों की श्वेतता को तो दूर कर दिया किन्तु शोभा को वह नहीं दूर कर सकी ॥३८॥

टिप्पणी—नदियों आदि में देर तक स्नान करने से आँखें लाल हो जाती हैं। कवि उसी के सम्बन्ध में एक नूतन उत्प्रेक्षा कर रहा है। उसका कथन है कि उन अप्सराओं का अंजन का लगाना उनकी नेत्रों की शोभा-वृद्धि के लिए नहीं प्रत्युत आँखों के समीप अर्थात् आँखों के कोनों में जो लालिमा रहती है उसी को छिपाने के लिए था, क्योंकि स्नान से जब अजन धुल गया तब लालिमा तो आँखों भर में फैल गयी किन्तु शोभा की हानि तनिक भी नहीं हुई। प्रत्युत वह लालिमा भी उनका अलङ्कार ही बन गयी। गम्योत्प्रेक्षा।

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृताः प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः ॥३९॥

अन्वयः—द्युतिं वहन्तः वेगिभिः जलैः प्रलोभात् हृताः उपप्लुताः वनितावतंसकाः च्युताऽधिकाराः सचिवाः इव तत्क्षणं शोचनीयतां आययुः ॥३९॥

अर्थ—शोभा (तेज को) धारण करने वाले वेगवान जलों (मूर्खों) से लो[illegible] के कारण छीने गए रमणियों के वे बहते हुए, शिर के मलिन पुष्पाभू[illegible] अधिकार से च्युत किए गए मन्त्रियों की भाँति तुरन्त ही शोचनीय स्थिति [illegible] पहुँच गए ॥३९॥

टिप्पणी—जिस प्रकार राजमन्त्री धूर्तों द्वारा पदच्युत करा दिए जा[illegible] पर श्रीविहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार रमणियों की वे मालाएँ जिन्हें उन्हों[illegible] अपने शिर पर सजा रखा था, नदी की वेगवती जलधारा में बहती हुई अश[illegible] भित दिखाई पड़ीं। उपमा अलङ्कार।

विपत्त्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि बिभ्रतीः श्रियम्।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलङ्कृतं तद्वपुषैव मण्डनम् ॥४०॥

अन्वयः—विपत्त्रलेखाः निरलक्तकाधराः निरञ्जनाक्षीः अपि श्रियं बिभ्[illegible] रामाः निरीक्ष्य नभश्चरैः तद्वपुषा एव मण्डनम् अलङ्कृतम् बुबुधे ॥४०॥

अर्थ—स्नान के कारण रमणियों के तिलक एवं अङ्ग रचना धुल गयी अधरों से आलते का रङ्ग छूट गया है, आँखों में से अञ्जन भी पुंछ गए किन्तु तब भी शोभा धारण करनेवाली उन रमणियों को देखकर गन्धर्वों ने समझ लिया कि इनके सुन्दर शरीरों से ही आभूषणों की शोभा होती है (न कि आभूषणों से इनके शरीरों की) ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् सहज सुन्दर व्यक्तियों के लिए अलङ्कारों की क्या उपयो[illegible] गिता ? विभावना अलङ्कार।

तथा न पूर्वं कृतभूषणादरः प्रियानुरागेण विलासिनीजनः।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाह दृष्टीश्च विपक्षयोषिताम् ॥४१॥

अन्वयः—विलासिनीजन. पूर्वे प्रियानुरागेण कृतभूषणादरः च विपक्षयोषिता दृशीः तथा न ददाह यथा जलार्द्रः नखमण्डनश्रिया ॥४१॥

अर्थ—रमणियों ने अपने प्रेमियों की प्रीति के लिए जिन आभूषणों को पहन रखा था, उनके द्वारा उन्होंने सपत्नियों की आँखों को उतना नहीं जलाया जितना जल से भींग कर उन्होंने अपने (स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले) नख-क्षतों की शोभा से उन्हें जलाया ॥४१॥

टिप्पणी—अर्थात् जल से भींगी हुई उन रमणियों के शरीर पर जब सपत्नियों ने नखक्षतों को देखा तो वे अत्यधिक जल उठीं, उतनी जलन उन्हें प्रेमियों द्वारा पहिनाए गए सपत्नी के आभूषणों से भी नहीं हुई थी। जल से भींगी हुई वस्तु के संयोग से आग की जलन कुछ कम हो जाती है, किन्तु यहाँ तो ठीक उसका विपरीत हुआ। जलन बढ़ गई। विषम अलङ्कार।

शुभाननाः साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ताः परभागमूर्मिषु ॥४२॥

अन्वयः—शुभाननाः विलोलहाराः नितान्तगौर्यः भीरवः ताः साम्बुरुहेषु चलफेनपङ्क्तिषु हृतकुङ्कुमेषु ऊर्मिषु अलं परभागम् न लेभिरे ॥४२॥

अर्थ—सुन्दर (कमल के समान) मुख वाली, मुक्ताओं की चञ्चल माला से विभूषित एवं अत्यन्त गौरवर्ण की वे भयाकुलप्रकृति रमणियाँ कमलों से विभूषित, चञ्चल फेनों की पंक्ति से सुशोभित तथा छूटे हुए कुङ्कुम आदि के लाल रंगों से अनुरंजित जल की लहरों में अपने से अधिक विशेषता नहीं पा सकीं ॥४२॥

टिप्पणी—अर्थात् जो-जो विशेषताएँ जल की लहरों में थीं, वे ही और अधिक सुन्दर रूप में स्वयं उनमें विद्यमान थीं। यथासंख्य और सामान्य अलङ्कार का अंगांगी भाव से संकर।

हृतान्भसि व्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥४३॥

अन्वयः—व्यस्तवधूकराहते ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिधीर रवम् उज्झति गुरु- रतनैस्तालसमं मनोरमम् नृत्यम् इव प्रवेपितम् समाददे ॥४३॥

अर्थ—जलक्रीड़ा के समय रमणियों के एक हाथ से उठाकर दूसरे हाथ द्वारा ताड़ित होकर जल के मृदङ्ग के समान गभीर ध्वनि करने पर उनके स्तन ताल देने के समान हिलने लगे तथा वे शीत से काँपती हुई (स्वय) नृत्य सा करने लगीं ॥४३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलङ्कृताम्बु: प्रतिमागतैर्मुखैः।
कृतानुकूल्या सुरराजयोषितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥४४॥

अन्वयः—श्रिया कमलानि हसद्भिः सस्मितैः प्रतिमागतैः मुखैः अलङ्कृता म्बुः सुरराजयोषितां कृतानुकूल्या जाह्नवी प्रसादसाफल्यम् अवाप ॥४४॥

अर्थ—अपनी शोभा से कमलों का उपहास करनेवाले, ईषत् हास्य युक्त प्रतिबिम्बित मुखों से सुशोभित एवं देवागनाओं के जलविहारादि उपकारों में रत गङ्गा ने अपने निर्मल स्वच्छ जल की सफलता को यथेष्ट रूप में प्राप्त किया ॥४४॥

टिप्पणी—गंगा का जल यदि स्वच्छ निर्मल न होता तो देवागनाएँ न तो उसमें विहार ही करतीं और न उनके मुख का प्रतिबिम्ब ही उसमें दिखाई पड़ता। स्वच्छ (हृदय के) लोग ही दूसरों द्वारा उपकृत हो सकते हैं और स्वयं दूसरों का उपकार कर सकते हैं। काव्यलिंग अलङ्कार।

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥४५॥

अन्वयः—परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः त्रासविलोलदृष्टयः कम्पितपाणिपल्लवाः सुरागनाः सखीजनस्य अपि विलोकनीयताम् उपाययुः ॥४५॥

अर्थ—जल में तैरती हुई मछलियों द्वारा जाँघों में धक्का लग जाने से भयभीत एवं चञ्चलदृष्टि रमणियाँ जब अपने पाणि-पल्लवों को हिलाने लगीं तो

वे अपनी सखियों के लिए भी दर्शनीय बन गयीं। (प्रेमियों के बारे में तो बात
त्या ?) ॥४५॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥४६॥

अन्वयः—मानिनी अम्भसि झषाहते भयात् इव मुदा आश्लिष्य, प्रिय आनन्दयति स्म। रामा. अकृत्रिमप्रेमरसाहितैः कृतकैः अपि ईहितैः मनः हरन्ति ॥४६॥

अर्थ—एक मानिनी नायिका एक बड़ी मछली द्वारा जल में धक्का लगने से मानों भयभीत-सी होकर अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक अपने प्रेमी से लिपट उसे आनन्दित करने लगी। सच है, स्त्रियाँ अपनी बनावटी चेष्टाओं से, यदि वे स्वाभाविक प्रेम-रस से परिपूर्ण होती हैं तो प्रेमियों का मन मोह ती हैं ॥४६॥

टिप्पणी—उसका बनावटी भय वास्तविक प्रेम रस से परिपूर्ण था। मीलन लंकार तथा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि।

विरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥४७॥

अन्वयः—अपा विगाहात् नितान्तम् आकुलैः प्रसारिभिः अलकैः विरोहितानि वधूना वदनानि द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः तुल्यता ययुः ॥४७॥

अर्थ—जल-विहार करने के कारण नितान्त बिखरे हुए लंबे-लंबे केशपाशों से ढँके हुए देवांगनाओं के मुख भ्रमर की पक्तियों द्वारा छिपे हुये कमलों की समानता को प्राप्त हो रहे थे ॥४७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसम्भ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥४८॥

अन्वयः—मानिनी पयसि अगाधे किल जातसम्भ्रमा नवपल्लवाकृती करौ धुनाना सखीषु निर्वाच्यम् अधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषं अवाप ॥४८॥

अर्थ—एक मानिनी नायिका अगाध जल में डूब जाने की शङ्का से त्रस्त होकर नूतन पल्लव के समान अपने मनोहर हाथों को कँपाती हुई अपने प्रेमी के अंगों से लिपट गई। उसके इस व्यवहार पर उसकी सखियों ने धृष्टता का आरोप नहीं लगाया ॥४८॥

टिप्पणी—मीलन अलङ्कार।

प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥४९॥

अन्वय—प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः सविभ्रमा धूतकराग्रपल्लवः विलासिनीजनः यथार्थताम् आप ॥४९॥

अर्थ—प्रेमियों द्वारा लीलापूर्वक हाथों से जल का छींटा देते हुए विलासिनियाँ जब रोक दी गयीं तो लंबी-लंबी साँसें खींचने लगीं और उनके स्तन काँपने लगे और वे हाव-भाव के साथ अपनी पल्लवानुकारिणी हथेलियाँ हिलाने लगीं। इस प्रकार उन्होंने अपने विलासिनी नाम की सार्थकता सिद्ध कर दी ॥४९॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

उदस्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारिवारितम्।
मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुवः श्रियं सपत्नीवदनादिवाददे ॥५०॥

अन्वय—दयितेन धैर्यं उदस्य सादरं प्रसादितायाः नतभ्रुवः करवारिवारितम् निमीलन् नयनं मुखं सपत्नीवदनात् इव श्रियम् आददे ॥५०॥

अर्थ—प्रेमी ने अपनी धीरता अर्थात् कठोरता दूर कर आदरपूर्वक प्रसन्न की गई सुन्दरी की नम्र भौंहों वाली आँखों पर जल के छींटे डालना जब शुरू किया तब उसने आँखें मूँद लीं जिससे उसका मुख मानों सपत्नी के मुख की शोभा धारण करने लगा ॥५०॥

टिप्पणी—अर्थात् उस समय उसका मुख सुन्दर नहीं मालूम पड़ रहा था। सखियाँ भी ऐसे प्रसंगों पर क्रोध से आँखें मूँद लेती हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥५१॥

अन्वय.—धृताम्भसि पाणौ प्रियेण विहस्य विधृते सति मदनार्द्रचेतसः ध्वाः वीतोच्चयबन्ध अंशुक पयसा घनीकृता काञ्ची सखी इव बभार ॥५१॥

अर्थ—अपने प्रियतम के ऊपर डालने के लिए किसी सुन्दरी ने ज्योंही पनी अजलि में पानी लिया त्यों ही उसके प्रियतम ने हँसकर उसका हाथ पकड़ या। इससे चित्त में कामोद्रेक होने से परवश उस सुन्दरी का नीवी-बन्धन ढीला गया और वस्त्र खिसकने लगा किन्तु उसे उसी क्षण जल में भींगने से कड़ी हुई रधनी ने मानों सखी की भाँति खिसकने से रोक लिया ॥५१॥

टिप्पणी—स्त्रियों की लज्जा स्त्रियाँ ही रख सकती हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम् ॥५२॥

अन्वयः—नतभ्रुवः विग्रहे निरञ्जने दृशौ साचिविलोकित अयावक ओष्ठ-ल्लव वेपथुः अतिलक तदास्पद बलिक्रिया च मण्डयति स्म ॥५२॥

अर्थ—उन नीची भौंहों वाली सुन्दरियों के शरीर मे अजन रहित आँखों को उनकी तिरछी चितवन ने, लाल रग से विहीन ओठों को उनके कम्पन ने, था तिलक रहित उनके ललाटों को उनकी ललाट की तिरछी रेखाओं ने विभू-षित किया ॥५२॥

टिप्पणी—इस प्रकार इन अलङ्कारों से विहीन सुन्दरियों के शारीरिक विकारों ने ही उन्हें विभूषित किया।

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकंठं कृतगात्रवेपथु ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तन. श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ॥५३॥

अन्वय.—प्रियोपकण्ठं निमज्जतीनां निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां तासां कृतगा-त्रवेपथुः श्वसितोद्धतस्तनः श्रम नु मदन नु पप्रथे ॥५३॥

अर्थ—प्रेमियों के अत्यन्त समीप में स्नान करने के कारण अर्द्धनिमीलित एवं तिरछे कटाक्षों वाली उन रमणियों के शरीर के कम्पन एव लबी साँसों के लेने से हिलते हुए स्तन पता नहीं उनके थके होने की सूचना दे रहे थे या उनके कामपीड़ित होने की ॥५३॥

टिप्पणी—कामपीड़ित होने पर भी यही सब विकार उत्पन्न होते हैं। सन्देह अलङ्कार।

प्रियेण सिक्ता चरम विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोप सान्त्वनैः।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते ॥५४॥

अन्वयः—काचित् प्रियेण विपक्षतः चरम सिक्ता चुकोप, सान्त्वनैः न तुतोष। रूढप्रणयस्य चेतसः अमर्षः किमपि अनुनये भृशायते ॥५४॥

अर्थ—एक सुन्दरी अपने प्रेमी द्वारा अपनी सपत्नी के अनन्तर (जल द्वारा) भिगोए जाने पर क्रुद्ध हो गयी। उसके अनुनय-विनय से भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई। सच है, प्रगाढ़ प्रेमी जनों के चित्त का अमर्ष अनुनय विनय करने से बढ़ता ही है ॥५४॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

इत्थं विहृत्य वनिताभिरुदस्यमानं
पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः।
उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेश-
मौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुरः प्रतस्थे ॥५५॥

अन्वयः—पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः वनिताभिः इत्थं विहृत्य उदस्यमान उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेशम् वारि औत्सुक्यनुन्नम् इव पुरः प्रतस्थे ॥५५॥

अर्थ—इस प्रकार कठोर एव ऊँचे स्तनों तथा पृथुल जघन स्थलों से सुशोभित उन देवांगनाओं की जल क्रीड़ा के अनन्तर छोड़कर बाहर निकलने पर नदी का जल अत्यन्त क्षुब्ध होकर लंबी लंबी तरंगों के उठने से अपने तट प्रदे-

को लाँघकर मानों उनके विरह की व्याकुलता से प्रेरित होकर उनके साथ-साथ बहुत आगे तक चला गया ॥५५॥

टिप्पणी—क्षुब्ध जल की लहरें अपने तट से दूर तक फैल जाती हैं। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है मानों जल देवागनाओं के वियोग से विह्वल होकर उनके साथ-साथ दूर तक चला जा रहा है। प्रियजन अथवा स्वजन लोग बिदाई के समय कुछ दूर तक साथ-साथ चलते ही हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। वसन्त तिलका छन्द।

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनाम्नां
नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः।
संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारा-
स्तारावितानतरला इव यामवत्य. ॥५६॥

अन्वयः—रथाङ्गनाम्ना मिथुनानि तीरान्तराणि नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियः सुरसरिज्जलधौतहाराः ताः तारावितानतरलाः यामवत्यः इव सरेजिरे ॥५६॥

अर्थ—चक्रवाकों के जोड़ों को दूसरे तट पर पहुँचा कर एव कमल वनों की शोभा को फीकी कर देवनदी गङ्गा के जल से धुली हुई मुक्तामालाओं से विभूषित वे देवागनाएँ तारागणों से सुशोभित रात्रियों के समान शोभायमान हुई ॥५६॥

टिप्पणी—देवागनाओं के सभी कार्य रात्रि के समान ही हुए। रात्रि में ही चक्रवाकों के जोड़ों का वियोग होता है और कमल वनों की शोभा फीकी होती है. एवं तारागण चमकते हैं। उपमा अलङ्कार। वसन्त तिलका छन्द।

सङ्क्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं
विच्छिन्नभूषणमणिप्रकराशुचित्रम्।
बद्धोर्मि नाकवनितापरिभुक्तमुक्त
सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम् ॥५७॥

अन्वयः—सङ्क्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं विच्छिन्नभूषणमणिप्रकराशुचित्रम् बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तं सिन्धोः सलिलम् शयनीयलक्ष्मीम् बभार ॥५७॥

अर्थ—रमणियों के अंगों में लगे हुए चन्दन के लेपों के घुल जाने से अन्य रंग की बनकर, (स्नान के समय जल्दी में) टूटे हुए आभूषणों की मणियों की कान्तियों से रंग-बिरंगी एवं लहरों से युक्त, देवांगनाओं द्वारा जल विहार के अनन्तर छोड़ी गई उस देवनदी गंगा की जलराशि, शैया की शोभा धारण कर रही थी ॥५७॥

टिप्पणी—शैय्या में भी अङ्गरागों के छूटने से उसका दूसरा रंग हो जाता है। विहार के समय टूटकर गिरे हुए आभूषणों के रत्न बिखरे होते हैं तथा उसमें भी लहरों के समान सिकुड़न आ ही जाती है। निदर्शना अलङ्कार।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में आठवाँ सर्ग समाप्त ॥८॥

नवाँ सर्ग

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्त भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥१॥

अन्वयः—अथ भानुमान् आत्तचित्रपरिधानविभूषाः रन्तुमनसः सुरनारीः वीक्ष्य तत्प्रियार्थम् इव अस्त यातुम् उपपयोधि ललम्बे ॥१॥

अर्थ—(जल क्रीड़ा के) अनन्तर विविध वस्त्रों एवं आभूषणों से विभूषित एवं रमण की इच्छुक उन देवांगनाओं को देखकर सूर्य मानों उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अस्त होने की इच्छा से (पश्चिम) समुद्र की ओर लम्बाय-मान हो गए ॥१॥

टिप्पणी—अर्थात् रमणियों के जल क्रीडा से निवृत्त होकर विविध वस्त्रा-भूषणों से अलंकृत होने के साथ सूर्य भी अस्ताचलगामी हो गए। इस सर्ग में स्वागता छन्द है ।

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥२॥

अन्वयः—मध्यमोपलनिभे, लसदंशौ भानौ एकतः च्युतिं उपेयुषि द्यौः परि-वृत्तिविलोलां वासरलक्ष्मीं हारयष्टिम् इव उवाह ॥२॥

अर्थ—हार की मध्य मणि की तरह फैलती हुई किरणों से शोभायमान भगवान् भास्कर के एक ओर लम्बायमान हो जाने पर आकाश (रूपी बाला) ने मध्याह्न बिताकर जानेवाली (दूसरे पक्ष में, शरीर के तिरछा कर देने से बारम्बार खिसकती हुई) दिन की लक्ष्मी को माला के समान धारण कर लिया ॥२॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार ।

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।
क्षीवतामिव गतः क्षितिमेष्यंल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ॥३॥

अन्वयः—पतङ्गः अतीव पिपासुः अंशुपाणिभिः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा, क्षीवतां गतः इव क्षितिम् एष्यन् लोहितं वपुः उवाह ॥३॥

अर्थ—सूर्य ने मानों अत्यन्त प्यास से युक्त होकर अपनी किरण-रूपी अँगुलियों से कमलों के मकरन्द-रूपी मद्य का भरपूर पान करने के कारण उन्मत्त होकर, धरती पर लोटते हुए लाल शरीर धारण कर लिया ॥३॥

टिप्पणी—जैसे कोई शराबी अत्यधिक शराब पीकर बेहोश हो कर धरती पर लोटने लगता है और उसका शरीर लाल हो जाता है वैसे ही सूर्य पश्चिम के क्षितिज पर लाल होकर लोटने लगा। रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार अंगांगी भाव से संकर।

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥४॥

अन्वयः—सहस्रमरीचौ लोहितायति नयनानां गम्यतां उपगते अभितापः धरित्रीम् विरहय्य चक्रवाकहृदयानि आससाद ॥४॥

अर्थ—सहस्रमरीची सूर्य के लोहित वर्ण हो जाने पर एवं (सर्व साधारण की) आँखों द्वारा दर्शनीय बन जाने पर सन्ताप ने धरती को छोड़कर चक्रवाक दम्पति के हृदयों में निवास बना लिया ॥४॥

टिप्पणी—दिन भर तो सूर्य अपनी सहस्र किरणों से धरती को तपाता रहा उसे कोई आँखों से देख भी नहीं सकता था, किन्तु संध्या समय लोहित वर्ण हो जाने पर वह जब अस्तोन्मुख होने लगा तो चक्रवाक दम्पति भावी विरह के कारण अत्यन्त सन्तप्त हो गए। सूर्य अब आँखों से दर्शनीय भी बन गया क्योंकि अब वह उतना प्रचण्ड नहीं रहा। अतिशयोक्ति अलंकार।

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि सम्भृतसान्द्रः ।
सामि मज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूहः ॥५॥

अन्वयः—रवौ सामि मज्जति मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि-सम्भृतसान्द्रः रश्मिसमूहः खिन्नजिह्म इव न विरेजे ॥५॥

अर्थ—सूर्य के आधे बिम्ब के डूब जाने पर सूर्य की किरणों का समूह, सूर्य का आश्रय छोड़ने के कारण मानों तुच्छ होकर एवं पूर्व दिशा का परित्याग कर पश्चिम दिशा में एकत्र होकर इस प्रकार निष्प्रभ अथवा तेजोविहीन हो रहा है, जिस प्रकार अपने पूर्व स्वामी को छोड़कर किसी नीच व्यक्ति का आश्रय लेने वाला कोई व्यक्ति निस्तेज अथवा श्रीहीन हो जाता है ॥५॥

टिप्पणी—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकार का अंगांगी भाव से संकर।

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्राः सायमण्डनमभि त्वरयन्त्यः।
सादरं ददृशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः ॥६॥

अन्वयः—कुङ्कुमताम्राः सायमण्डनमभि त्वरयन्त्यः सौधजालपतिताः रविभासः कान्तदूत्य इव वनिताभिः सादरं ददृशिरे ॥६॥

अर्थ—कुङ्कुम के समान लाल, रमणियों को (अभिसार अथवा रमण के उपयुक्त) वस्त्राभूषणादि प्रसाधनों को शीघ्रता से सम्पन्न करने के लिए उकसाती हुई, खिड़कियों की जालियों से आनेवाली सूर्य की किरणों को, देवांगनाओं ने बड़े सम्मान से देखा ॥६॥

टिप्पणी—सायंकाल की उन किरणों द्वारा शीघ्र ही प्रिय समागम की सूचना प्राप्त हुई, अतएव देवांगनाओं ने उनका आदर किया। दूतियाँ भी इसी प्रकार आती हैं और ऐसा ही कार्य करती है। उपमा अलंकार।

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य।
अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ॥७॥

अन्वयः—विवस्वान् अग्रसानुषु भूरुहान् नितान्तपिशङ्गैः मृदुकरैः अवलम्ब्य अस्तशैलगहनं नु जलधिं नु महीं नु आविवेश ॥७॥

अर्थ—सूर्य अस्ताचल के शिखरों पर अवस्थित वृक्षों की चोटियों का अपनी अत्यन्त अरुण वर्ण की हाथ-रूपी किरणों से सहारा लेकर अस्ताचल

के घने जंगलों में (पश्चिम के) समुद्र में अथवा पृथ्वी में जाने कहाँ डूब गया ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् जल्दी-जल्दी में कहाँ डूब गया वह, इसका कुछ पता नहीं चलता। सन्देह अलंकार।

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौपसरागः।
आययावहरिदश्वविपांडुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ॥८॥

अन्वयः—चलपतत्रिकुलानाम् आरवैः आकुलः अनुदितौपसरागः अहरिदश्वविपाण्डु दिनान्तः दिनमुखेन तुल्यताम् आययौ ॥८॥

अर्थ—नीड़ को लौटने वाले पक्षियों के कलरव से व्याप्त, सन्ध्या की लालिमा से विहीन, सूर्य के अभाव में पाण्डु वर्ण का (अन्धकार न होने से) वह दिवसावसान अर्थात् सायकाल प्रातःकाल की समानता प्राप्त कर रहा था ॥८॥

टिप्पणी—प्रातःकाल का दृश्य भी ठीक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का सन्ध्या का होता है। उसमें भी पक्षी जीविका के लिए नीड़ से बाहर जाते हुए कलरव करते हैं, लालिमा (अरुणोदय के पूर्व) नहीं रहती, सूर्य भी नहीं रहते और अन्धकार भी नहीं रहता। उपमा अलंकार।

आस्थितः स्थगितवारिदपंक्त्या सन्ध्यया गगनपश्चिमभागः।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे ॥९॥

अन्वय—स्थगितवारिदपङ्क्त्या सन्ध्यया आस्थितः गगनपश्चिमभागः सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियम् ऊहे ॥९॥

अर्थ—(ऊपर) बादलों की पंक्तियों तथा नीचे (लालिमा से युक्त) सन्ध्या से सुशोभित आकाश का वह पश्चिमी भाग (उस समय) तरंगों से मंडित प्रवाल की किरणों की कान्ति से सुशोभित समुद्र की शोभा धारण कर रहा था ॥९॥

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार।

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा।
सन्ध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥१०॥

अन्वयः—प्राञ्जलौ नतमूर्ध्नि तत्प्रवणचेतसि अपि जने प्रेम हित्वा विरमन्त्या सन्ध्यया चापलेन सुजनेतरमैत्री अनुविदधे ॥१०॥

अर्थ—अजलि बाँधे हुए, शिर झुकाए हुए एव उसके (सन्ध्या के) प्रति चित्त लगाये हुए भी भक्त जनों के प्रेम को तोड़कर विरक्त रूप से भागी जाती हुई सध्या ने अपनी चञ्चलता से दुर्जनों की मित्रता का अनुकरण किया ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि लोग सन्ध्या वन्दनादि करने लगे और जल्द ही सन्ध्या समाप्त हो गई। दुष्ट लोगों की मित्रता में भी ऐसा ही होता है, जैसा सन्ध्या ने किया। उपमा अलकार।

औपसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः।
सन्निपत्य शनकैरिव निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ॥११॥

अन्वयः—औपसातपभयात् इव अपलीन वासरच्छविविरामपटीयः अन्धकारम् शनकैः निम्नात् सन्निपत्य समानि उदवाप ॥११॥

अर्थ—प्रातःकाल के आतप के भय से ही मानो कहीं छिपे हुए और अब आतप के अभाव हो जाने से समर्थ अन्धकार ने धीरे-धीरे नीचे से ऊपर उठकर समान स्थलों पर अपना अधिकार जमा लिया ॥११॥

टिप्पणी—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का अगागी भाव से सङ्कर।

एकतामिव गतस्य विवेक. कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषा. ॥१२॥

अन्वय.—एकता गतस्य इव महत. अपि कस्यचित् विवेक न उपलेभे। पतितेन भास्वना भुवनाना विशेषाः आत्मनि निदधिरे इव ॥१२॥

अर्थ—अन्धकार के सघन होने पर सब पदार्थ एक में मिल गए, मानो इसीलिए बड़ी से बड़ी वस्तुओं में भी छोटी वस्तुओं से कोई भेद नहीं रह गया।

इसी से मानों अस्ताचल को जाते हुए सूर्य ने पृथ्वी के छोटे-बड़े सभी पदार्थों की विशेषताओं को अपने में निहित कर लिया ॥१२॥

टिप्पणी—यदि सूर्य ने सब की विशेषताओं को अपने में निहित न कर लिया होता तो वे क्यों न दिखाई देते। दो सजातीय उत्प्रेक्षाओं का अंगांगी भाव से संकर।

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोग लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः ॥१३॥

अन्वयः—वधूभिः सह अभेद इच्छताम् यामिनीविरहिणाम् विहगानां मिथुनानि वियोग आपु. एव। कालनियोगः न लङ्घ्यते खलु ॥१३॥

अर्थ—अपनी प्रेमिकाओं के वियोग के अनिच्छुक अर्थात् उनके संग रहने के इच्छुक, रात्रि में वियुक्त रहनेवाले चक्रवाक पक्षियों के जोड़े (बेचारे) वियुक्त होकर ही रहे। सच है, दैव की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है? ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ।
नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥१४॥

अन्वय.—शकुन्तौ अन्तिकगते अपि दयितायै प्रतिमुख वाच यच्छति अम्बुरुहिण्या उज्झितहर्षं पकजं मुखम् इव नतिं नीयते स्म ॥१४॥

अर्थ—रात हो जाने पर चक्रवाक अपनी प्रियतमा के बहुत समीप रहने पर भी उसके सम्मुख केवल वार्तालाप ही कर सकता था (किन्तु दूसरे तट पर होने के कारण उसका स्पर्श नहीं कर सकता था) मानों उसकी इस दयनीय दशा को देखकर सरोजिनी ने अपने अविकसित पकज को (मुरझाये हुए) मुख की भाँति नीचे की ओर झुका लिया था ॥१४॥

टिप्पणी—रात्रि के समय कमल मुरझा जाते हैं, कवि उसी की उत्प्रेक्षा करता है, मानों चक्रवाक दम्पती की विकल-वेदना को देखकर स्त्रीसुलभ सहानुभूति से ही सरोजिनी ऐसा कर रही है। स्त्रियाँ प्रायः दूसरे की वेदना देख

उदास हो ही जाती हैं, विशेषकर विरह वेदना में। उपमा और उत्प्रेक्षा अलकार का अङ्गाङ्गी भाव से सकर।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥१५॥

अन्वय.—तिमिरेण विविधाः तरुशैलाः रञ्जिताः नु। गगन नामित नु। गगन स्थगित नु। धरित्री विषमेषु पूरिता नु। ककुभः संहृताः नु ॥१५॥

अर्थ—अन्धकार ने सभी वृक्षों और पर्वतों को अपने समान काले रग में रग दिया है, अथवा आकाश को भूतल की तरफ झुका दिया है, अथवा आकाश पर काला परदा या गिलाफ तो नहीं ओढ़ा दिया है, अथवा धरती की ऊँचाई-नीचाई बराबर तो नहीं कर दी गई है अथवा दिशाएँ ही कहीं लुप्त तो नहीं हो गई हैं? (कुछ पता नहीं चलता कि यह सब क्या हो गया है?) ॥१५॥

टिप्पणी—सन्देह अलकार।

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥१६॥

अन्वय—श्रीः रात्रिरागमलिनानि विकास रहयन्ति पङ्कजानि विहाय स्पष्टतारकं नभः इयाय। सर्वः निरापदि वस्तुम् इच्छति ॥१६॥

अर्थ—शोभा रात्रि की कालिमा से मलिन होने के कारण प्रफुल्लता को त्यागने वाले कमलों को छोड़कर जगमगाते हुए तारों से व्याप्त आकाश मण्डल में चली गयी। सच है, सभी विघ्न-बाधा रहित स्थानों पर रहना पसन्द करते हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

[चन्द्रोदय वर्णन—]

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः।
चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥१७॥

अन्वयः—शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः लम्भितकान्तिः अंशु समूहः चूर्णमुष्टिः इव वासवस्य दिश व्यानशे ॥१७॥

अर्थ—शशलाञ्छन चन्द्रमा द्वारा छोड़ा गया केतकी के पुष्प-पराग के समान पीले वर्ण का कान्तियुक्त किरण-समूह कपूर के चूर्ण की तरह इन्द्र की पूर्व दिशा में फैल गया ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् चन्द्रमा रूपी नायक ने प्राची नायिका के मुख पर कपूर का पाउडर पोत दिया।

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ॥१८॥

अन्वयः—ऐन्द्री दिक् तारकराजे अन्तिक व्रजति आशु तमिस्रा शुचम् इव उज्झती प्रसादगुणमण्डनम् रश्मिहासविशद मुखम् इव ऊहे ॥१८॥

अर्थ—इन्द्र की प्राची ने दिशा तारकनाथ चन्द्रमा के समीप आ जाने पर अन्धकार को दुःख की भाँति तुरन्त ही छोड़ कर प्रसन्नता अथवा निर्मलता से विभूषित एव हास के समान किरणों से उज्ज्वल एव सुशोभित मुख को धारण कर लिया ॥१८॥

टिप्पणी—जिस प्रकार किसी पतिवियुक्ता रमणी का मुख पति के समीप आ जाने पर शोक दूर कर प्रसन्नता एवं हास से युक्त होकर खिल उठता है उसी प्रकार विरहिणी प्राची भी चन्द्रोदय से खिल उठी और सर्वत्र व्याप्त अन्धकार दूर हो गया। यहाँ पर भी चन्द्रमा नायक और प्राची दिशा नायिका है।

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः ॥१६॥

अन्वयः—शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः नीलनीरजनिभे खे निपतत हिमगौर करजालं वारिधे पयसि गाङ्गम् अम्भः इव रराज ॥१६॥

अर्थ—उदयाचल की आड़ से निकलते हुए चन्द्रमा का बरफ के समान शुभ्र किरण-जाल नीले कमल के समान सुशोभित नील गगन में पैन्दे

हुए इस प्रकार दिखाई पड़ा जैसे (नीले) समुद्र में गिरती हुई गङ्गा की (शुभ्र) जलधारा ॥१६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात्।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शम्भुनेव करिचर्म चकासे ॥२०॥

अन्वयः—द्यां निरुन्धत् अतिनीलघनाभ उद्यतकरेण असितेतरभासा पुरस्तात् क्षिप्यमाण ध्वान्तम् शम्भुना करिचर्म इव चकासे ॥२०॥

अर्थ—आकाश को आच्छादित करनेवाले अत्यन्त काले बादलों के समान अन्धकार को अपने उदीयमान श्वेत करों अर्थात् किरणों से आगे की ओर फेंकते हुए चन्द्रमा इस प्रकार सुशोभित हुआ जिस प्रकार शंकर जी ने अपने ओढ़ने के काले-काले गजचर्म को सामने से दूर फेंक दिया हो ॥२०॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे जिह्मतां जहति दीधितिजाले।
निःसृतस्तिमिरभारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्तः ॥२१॥

अन्वयः—अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे दीधितिजाले जिह्मतां जहति तिमिर-भाररनिरोधात् निःसृतः दिगन्तः उच्छ्वसन् इव रराज ॥२१॥

अर्थ—धीरे-धीरे अत्यन्त समीप आए हुए चन्द्रमा से छूटे हुये किरण समूह ने जब अपना तिरछापन छोड़कर अन्धकार के भार (समूह) को दूर कर दिया तब प्रकाश से निखरा हुआ क्षितिज मानों (आराम की) साँसें लेता हुआ-सा सुशोभित होने लगा ॥२१॥

टिप्पणी—किसी भार से दबा हुआ व्यक्ति जब भार-मुक्त हो जाता है तब वह साँसें खींचता ही है। उत्प्रेक्षा अलंकार।

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे।
दंष्ट्रया कनकटङ्कपिशङ्गया मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥२२॥

अन्वयः—इन्दुः विमलविद्रुमभासा लेखया सन्ततं तिमिरम् आदिवराहः कनकटङ्कपिशङ्गया दंष्ट्रया भुवः मण्डलम् इव उदासे ॥२२॥

अर्थ—चन्द्रमा ने अपनी स्वच्छ प्रवाल के समान मनोहर उज्ज्वल ब से चारों ओर फैले हुए अन्धकार को इस प्रकार से दूर फेंक दिया जिस प्र से आदि वराह (शूकरावतारधारी भगवान् विष्णु) ने सोने की टाँकी सदृश अपनी अरुणिमा मिश्रित उज्ज्वल दाढ़ों से भूमण्डल को (प्राचीन काल ऊपर फेंक दिया था ॥ २२ ॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥२३॥

अन्वयः—अथ किरणौघैः नभः दीपयन् कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः तुहिन शनकैः पूर्वपयोधेः हेमकुम्भः इव उन्ममज्ज ॥२३॥

अर्थ—(उदय के) अनन्तर अपने किरण-समूह से आकाश को उद्भा करते हुए, कुङ्कुम से अनुरजित स्तन मण्डल के समान सुशोभित चन्द्रमा धीरे पूर्व समुद्र से मानों सुवर्ण के कलश के समान ऊपर निकल आया ॥२

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार।

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः।
व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः ॥२४॥

अन्वयः—उद्गतेन्दुम् अविभिन्नतमिस्रा रजनीं व्यंशुकस्फुटमुखीं व्रीड अतिजिह्मा नववधूम् इव लोकः अवितृप्तः पश्यति स्म ॥२४॥

अर्थ—चन्द्रोदय के हो जाने पर भी जब तक अन्धकार सम्पूर्ण रूप से नहीं हुआ तब तक रात्रि को लोगों ने उस नव वधू के समान कुतूहल के देखा जिसने घूँघट उठाकर अपना मुँह तो खोल दिया है किन्तु लज्जा के का अत्यन्त सिकुड़ी हुई-सी है ॥२४॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

न प्रसादमुचितं गमिता द्यौर्नोद्धृत तिमिरसद्रिवनेभ्यः।
दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषितैव रजनी हिमभासा ॥२५॥

अन्वयः—हिमभासा द्यौः उचितम् प्रसादम् न गमिता। अद्रिवनेभ्यः तिमि-
[म्] न उद्धृतम्। दिङ्मुखेषु धाम च न विकीर्णम्। रजनी भूषिता एव ॥२५॥

अर्थ—चन्द्रमा द्वारा आकाश अभी अच्छी तरह से प्रकाशयुक्त नहीं [हु]आ, पर्वतों तथा वनों से अन्धकार अभी दूर नहीं हुआ, क्षितिजों पर चन्द्रिका [न]हीं छाई किन्तु तब भी रात्रि तो अलंकृत ही हो गई।

टिप्पणी—विभावना अलकार।

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान्प्रतिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥२६॥

अन्वयः—उदितः शीतमयूखः उष्णबाष्पकलुषान् मानिनीजनविलोचनपातान् [प्रत]िगृह्णन् भीतभीत इव मन्दमन्दम् खं प्रययौ ॥२६॥

अर्थ—(पूर्व क्षितिज में) उदित चन्द्रमा गरम-गरम आँसुओं से कलुषित [म]ानिनियों के कटाक्ष पातों को ग्रहन करते हुए मानों अत्यन्त भयभीत-सा होकर [ध]ीरे-धीरे आकाश में पहुँच गया ॥२६॥

टिप्पणी—चन्द्रोदय हो जाने से कामोद्रेक के कारण उन मानिनियों का मान-भङ्ग हो गया, अतः चन्द्रमा के ऊपर वे क्रोध से भर गयीं। उत्प्रेक्षा अलंकार।

श्लिष्यतः प्रियवधूरुपकंठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः।
उद्वमन्नभिरराज समन्तादंगराग इव लोहितरागः ॥२७॥

अन्वयः—ततकरस्य तारकाः प्रियवधूः उपकण्ठं श्लिष्यतः हिमांशोः समन्तात् उद्वमन् लोहितराग. अङ्गरागः इव अभिरराज ॥२७॥

अर्थ—अपने किरण-रूपी हाथों को फैलाकर तारा-रूपी प्रियतमा का आलिंगन करते हुए चन्द्रमा के चारों ओर फैलती हुई उसकी लालिमा अङ्गराग के समान सुशोभित होने लगी ॥२७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा की किरणें ताराओं पर फैल गयीं आलिंगन से अङ्गराग फैल ही जाता है। रूपक और उपमा का अंगांगी भाव संकर।

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहतान्यपि नुनोद तमांसि।
क्षीरसिंधुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥२८॥

अन्वयः—शशधरेण प्रेरितः करौघः संहतानि अपि तमांसि मन्दरभिन्नः क्षीरसिन्धुः अविरलोच्चतरूणि काननानि इव नुनोद ॥२८॥

अर्थ—चन्द्रमा द्वारा प्रेरित किरणों के समूह ने अत्यन्त सघन अन्धकार को इस प्रकार से ढँक दिया जिस प्रकार (समुद्र-मन्थन के समय) मन्दराचल से क्षुब्ध क्षीर समुद्र ने अत्यन्त सघन एवं ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से युक्त जंगलों को ढँक लिया था ॥२८॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे।
न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभिः ॥२९॥

अन्वय—शशिपादः शारता गमितया विटपिना छायया न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिः वसतिवेश्ममहीभिः तुल्यता प्रतिपेदे ॥२९॥

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों से चितकबरी वृक्षों की छाया श्वेत पुष्पों आदि के उपहारों से विभूषित तल वाली निवास स्थान के घरों की भूमि के समान सुशोभित हुई ॥२९॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥३०॥

अन्वय—आतपे वध्वा सह धृतिमता यामिनिविरहिणा विहगेन हिमरश्मेः किरणा न सेहिरे। दुःखिते मनसि सर्वम् असह्यम् ॥३०॥

अर्थ—रात्रि में अपनी प्रियतमा से वियुक्त रहनेवाले पक्षी अर्थात् चक्रवाक ने दिन की तीखी धूप में अपनी प्रिया के साथ खुशी-खुशी समय बिताया थी, वही रात्रि में चन्द्रमा की शीतल किरणों को नहीं सहन कर सका। सच है, मन दु:खी होने पर सब चीजें असह्य हो जाती हैं ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

गन्धमुद्धतरज. कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम्।
आदुधाव परिलीनविहगा यामिनीमरुदपा वनराजी ॥२१॥

अन्वयः—अपा कणवाही विकसता कुमुदानाम् गन्धम् उद्धतरज' विक्षिपन् यामिनीमरुत् परिलीनविहङ्गा. वनराजी. आदुधाव ॥२१॥

अर्थ—जल के कणों को वहन करते हुए विकसित कुमुदों के सुगन्ध और पराग को बिखेरने वाला वायु सुख की नींद सोये हुए पक्षियों से सुशोभित वन-..क्तियों को थोड़ा-थोड़ा झकझोरने लगा ॥२१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई कामी अपनी प्रेमिका को इत्रादि सुगन्धित पदार्थों से सिञ्चित कर उसे अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है उसी प्रकार वायु ने भी वन-पक्तियों को झकझोर कर अपनी ओर आकर्षित किया।

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥२२॥

अन्वय—यामिनीवनितया लसदंशुजलौघः ततचिह्न. इन्दुः सोत्पल' रजतकुम्भ. मन्मथस्य अभिषेक सविधातु इव उदासे ॥२२॥

अर्थ—रात्रि-रूपी रमणी ने किरण-रूपी जलराशि से पूर्ण एवं कलङ्क लाञ्छित होने से नीलकमलयुक्त रजत-कलश के समान चन्द्रमा को कामदेव की त्रिभुवन विजयिनी यात्रा के अभिषेचन के लिए मानो ऊपर उठा लिया ॥२२॥

टिप्पणी—किसी के मगल अभिषेक के लिए कलश चाहिये, उसमें जल भरा होना चाहिए, और जल में पुष्पादि चाहिए। रात्रि-रूपी रमणी को चन्द्रमा

में यह सभी सामग्री मिल गई। चन्द्रमा को उसने रजत-कलश बनाया, उ हिमवर्षी किरणजाल को जलराशि बनाया और उसके काले कलंक को नील क बनाया। इस प्रकार मानों कामदेव की विजयिनी यात्रा का अभिषेक सम्पन्न गया। उपमा और उत्प्रेक्षा का संकर।

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्री.।
यद्विभु. शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ॥३३॥

अन्वयः—ओजसा अनूनम् अपि असहाय जयश्रीः न उपयाति खलु नूनम यत् विभुः अनङ्गः शशिमयूखसखः सन् विजयि चापम् आददे ॥३३॥

अर्थ—ओज से सम्पन्न होने पर भी असहाय व्यक्ति के पास विजय नहीं जाती यह बात निर्विवाद सत्य है। अतएव सर्वशक्तिमान होकर १ कामदेव ने जब चन्द्रकिरणों की सहायता प्राप्त की तब अपने विजयी धनुष क धारण किया ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

[उद्दीपन सामग्रियों के वर्णन के अनन्तर अब कवि रति-क्रीड़ा का वर्ण आरम्भ करता है—]

सद्मनां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम्।
सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीपे ॥३४॥

अन्वयः—सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैः आहितशोभैः अपि सद्मना विरचना, आगतप्रियकथैः अपि दूत्यम्, भूषितैः अपि विभूषणम् ईषे ॥३४॥

अर्थ—रति-क्रीड़ा का समय समीप आ जाने पर देवाङ्गनाएँ पहले ही केलि-विलास के लिए सुसज्जित भवनों को पुनः सजाने, अपने प्रियतम के आगमन का सन्देश मिले रहने पर भी दूती भेजने एवं वस्त्राभूषणों से भली भाँति अलंकृत होने पर भी पुनः अलंकृत होने की अभिलाषा करने लगीं ॥३४॥

टिप्पणी—अत्यन्त उत्सुकता से उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था।

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥३५॥

अन्वय.—विरहे स्रजः चन्दनानि मदिरा वा रमणीभ्यः न रुरुचिरे । हि प्रियसमागमः एव रतेः साधनेषु रम्यता उपधत्ते ॥३५॥

अर्थ—उन देवाङ्गनाओं को अपने प्रियतमों की विरहावस्था में मालाएँ, चन्दन अथवा मदिरा रुचिकर नहीं लग रही थीं । क्यों न ऐसा होता क्योंकि प्रियतम का समागम ही इन सामग्रियों मे रमणीयता की सृष्टि करता है ॥३५॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रियतम यदि है ही नहीं तो इन प्रसाधन सामग्रियों की रमणीयता दुःखदायिनी हो जाती है । अर्थान्तरन्यास अलकार ।

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः ।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्य. सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥३६॥

अन्वयः—अधिनाथनिवास प्रस्थिताभिः ध्वसितप्रियसखीवचनाभिः मानिनीभिः अपहस्तितधैर्य्यः सादयन् अपि मद. अवललम्बे ॥३६॥

अर्थ—अपने प्रियतमों के निवास स्थान को प्रस्थित एव अपनी प्रिय सखियों के आग्रहपूर्ण वचनों को तिरस्कृत करनेवाली मानिनी रमणियों ने धैर्य को छुड़ानेवाली एव शरीर तथा मान को दुर्बल करनेवाली मदिरा का सहारा लिया ॥३६॥

टिप्पणी—वे मदिरा से वेहोश थीं, अतः उन्हें अपने मान एव सखियों के आग्रह पूर्ण वचनों का ध्यान नहीं था ।

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः ।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि ॥३७॥

अन्वय·—रतये बहु सन्दिशतीभिः रमणीभिः कान्तवेश्म यातम एव । मन्मथेन परिलुप्तमतीना स्खलितम् अपि प्रायशः उपकारि ॥३७॥

अर्थ—रति के लिए सन्देश पर सन्देश भेजती हुई रमणियाँ अपने प्रियतमों के निवास-स्थल पर पहुँच ही गयीं । (बीच में मार्ग नहीं भूला)

प्राय. कामदेव के द्वारा नष्टबुद्धि वाले व्यक्तियों की भूल भी उपकारक हो जाती है ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार ।

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम् ।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखंडं खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥३८॥

अन्वयः—आशु कान्तम् अभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम् खण्डपत्रतिलकाकृति मुखम् कान्तया अखण्डम् इन्दुम् निर्जिगाय ॥३८॥

अर्थ—शीघ्रता मे प्रियतम के समीप जाती हुई (किसी) रमणी के पुलकित कपोलों से सुशोभित एव पत्रों की चित्रकारी और तिलकों के मिट जाने से मनोहर मुख ने अपनी कान्ति से सम्पूर्ण चन्द्रमा को जीत लिया था ॥ ३८॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

[नीचे के दो श्लोकों में एक सखी और नायिका का सवाद है—]

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥३९॥

किं गतेन न हि युक्तमुपैतु कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥४०॥

अन्वय'—स. अशेष वचनीयम् उच्यताम् । हे सखि ! ईश्वरे परुषता साध्वी । एनम् अनुनीय आनय । विप्रियाणि जनयन् कथ वा अनुनेयः । गतेन किं उपैतु न युक्त हि । सुभगमानिनि ! प्रिये मानः कः—इति योषिता कथासु समेतैं कामिभिः बहुरसा धृति. ऊहे ॥३९-४०॥

अर्थ—नायिका—हे सखि ! उस धूर्त से मेरी सारी बातें जाकर बताओ।

सखी—हे सखि ! प्रियतम के प्रति ऐसी कठोरता अच्छी नहीं ।

नायिका—तब उसे अनुनय-विनय द्वारा मनाकर ले आओ ।

सखी—इस प्रकार के अपकारी के साथ भला अनुनय-विनय क्यों किया जाय ?

नायिका—तब फिर वहाँ जाने से क्या लाभ है ?

सखी—हे मानिनी ! तुम तो अपने को सुन्दरी मानने वाली हो। फिर वैसे परम सुन्दर प्रियतम के विषय में मान तो करना ही नहीं चाहिये—इस प्रकार का वार्तालाप वे (दोनों) सखियाँ कर रही थीं कि उनके प्रेमीजन स्वय उपस्थित हो गए और उन्हें उनके इस वार्तालाप से बड़ा सुख मिला ॥३६-४०॥

टिप्पणी—ये प्रौढ़ा तथा कलहान्तरिता नायिका थीं।

योषितः पुलकरोधि दधत्या घर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।
कान्तवक्षसि बभूव पतन्त्या मण्डनं लुलितमण्डनतैव ॥४१॥

अन्वयः—पुलकरोधि नवसङ्गमजन्म घर्मवारि दधत्याः कान्तवक्षसि पतन्त्याः योषितः लुलितमण्डनता एव मडन बभूव ॥४१॥

अर्थ—प्रियतम के नूतन समागम के कारण पुलकावली (तक) में व्याप्त -बिन्दुओं को धारण करनेवाली, प्रियतमों के वक्षस्थल पर लेटी हुई उन ...णियों के तिलकादि अलकार यद्यपि छूट गये थे तथापि उनका वहीं छूटना ही अलकार बन गया ॥४१॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्जः ।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥४२॥

अन्वय.—शीधुपानविधुरासु दयितैः सगतासु कामिनीषु आशु मान निगृह्णन् शिथिलीकृतलज्जः मदनः नु मदः नु उपलेभे ॥४२॥

अर्थ—ईख के रस की मदिरा के पान से उन्मत्त एव स्वय प्रियतमों के समीप उपस्थित होनेवाली उन रमणियों के मान को शीघ्र ही दूर करने वाला एव उनकी लज्जा को शिथिलित करने वाला कामदेव था या वह मदिरा थी—(इस विषय में) कुछ नहीं कहा जा सकता ॥४२॥

टिप्पणी—सन्देह अलकार।

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥४३॥

अन्वयः—द्वारि चक्षुः अधिपाणि कपोलौ जीवित त्वयि अस्याः कलह कुतः-इति कामिना प्रीतये पुनरुक्त वचः नवनवत्वम् इयाय ॥४३॥

अर्थ—तुम्हारे आने के मार्ग पर आँखें गड़ाकर वह हथेलियों पर कपोल को रखे हुए है। अधिक क्या उसका जीवन ही तुम्हारे अधीन है। उसका को कलह तुम से नहीं है—इस प्रकार बारम्बार नायक को प्रसन्न करने के लि (सखियों द्वारा) कही गयी यह वाणी नायक को प्रति बार नूतन लगती रही ॥४३

टिप्पणी—अपनी प्रियतमा के अनुराग की प्रगाढ़ता कामियों को प्रस करती ही है। यह कलहान्तरिता नायिका थी।

साचि लोचनयुग नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम्।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां संगतावुपरराम च लज्जा ॥४४॥

अन्वयः—लोचनयुग साचि नमयन्ती दयितवक्षसि पात रुन्धती ल सुभ्रुवः विभूषा जनयति स्म सङ्गतौ उपरराम च ॥४४॥

अर्थ—जो लज्जा पहले उन देवागनाओं को प्रियतम की ओर सीधे देख कर तिरछा देखने के लिए विवश करती थी, प्रियतम के वक्षस्थल पर लेट से रोकती थी, और इस प्रकार उस समय वह नायिका की शोभा बढ़ाती थी व (अब) उनकी रतिक्रीड़ा के अवसर पर दूर हो गयी ॥४४॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिवाष्पनिपातः ॥४५॥

अन्वयः—सव्यलीकम् अवधीरितखिन्नम् सपदि कोपपदेन प्रस्थित प्राणन योषितः अभिवाष्पनिपातः सुहृद् इव रुणद्धि स्म ॥४५॥

अर्थ—अपराध करने के कारण अपमानित होने से खिन्न होकर कोप बहाना बनाकर शीघ्र जाते हुए किसी प्रियतम को उसके सम्मुख ही सुन्दरी अश्रुपात ने मित्र की भाँति रोक लिया ॥४५॥

टिप्पणी—मित्र भी क्रोध से जाते हुए अपने मित्र को रोक लेता है। अधीरा खण्डिता नायिका थी। उपमा अलंकार।

शङ्किताय कृतबाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखितां दयिताय ।
मानिनीमभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः ॥४६॥

अन्वयः—शङ्किताय दयिताय ईर्ष्यया विमुखिता कृतबाष्पनिपाताम मानिनीम् घनरोमविभेदः अभिमुखाहितचित्ता शसति स्म ॥४६॥

अर्थ—अविश्वस्त नायक को, उसके द्वारा विमुख होने के कारण आँसू बहाती हुई मानिनी की सघन पुलकावली ने उसे अनुरक्त चित्त वाली होने की सूचना दे दी ॥४६॥

टिप्पणी—यदि वह अनुरक्त न होती तो रोमाच आदि सात्विक भावों का उदय क्यों होता । यह नायिका भी अधीरा और खडिता थी ।

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन ।
व्रीडया सह विनीव नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ॥४७॥

अन्वय.—प्रियतमे लोलदृष्टि दयितायाः वदन रभसेन चुम्बति विनीवि अशुक नितम्बात् व्रीडया सह शिथिलताम् उपपेदे ॥४७॥

अर्थ—प्रियतम द्वारा चचल नेत्रों वाली प्रियतमा का मुख बलपूर्वक चुम्बन कर लेने पर नीवी का बधन छूट जाने से उसका वस्त्र नितम्ब प्रदेश से लज्जा के साथ ही शिथिलित हो गया ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् वस्त्र तो ढीला हो ही गया उसकी लज्जा भी शिथिलित हो गयी । अतिशयोक्ति मूलक सहोक्ति अलकार ।

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि ।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः ॥४८॥

अन्वयः—गलितनीवि अवलम्बितकाञ्चि अन्तरीयम् निरस्यन् हृदयेशः ह्रीतया दयितया मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे ॥४८॥

अर्थ—नीविबन्धन के छूट जाने से करधनी के सहारे रुके हुए अन्तरीय (अधोवस्त्र) को खींचते हुए अपने प्रियतम का, लज्जित प्रियतमा ने ऐसा गाढ़ा

आलिंगन किया कि उसके उन्नत एव विस्तृत स्तन-मण्डल (खूब दबाने से) गोल कार बन गए थे ॥४८॥

टिप्पणी—प्रियतम की दृष्टि को रोक रखने के लिए उसने यह च राई की थी।

आहता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः।
सौकुमार्यगुणसम्भृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥४९॥

अन्वयः—परिरम्भाः नखपदैः, चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः आहताः सौकुमार्यगुणसम्भृतकीर्तिः कामः सुरतेषु अपि वाम एव ॥४९॥

अर्थ—(रमणियों का) गाढ़ आलिंगन नखक्षतों से तथा चुम्बन गाढ़ दन क्षतों से पुरस्कृत हुआ। अपनी सुकुमारता के लिए प्रसिद्ध कामदेव सम्भोग वस्था में भी क्रूर ही रहता है ॥४९॥

टिप्पणी—अर्थात् जब सम्भोगावस्था में उसका यह हाल है तो वियोग वस्था में क्या होगा ? कामदेव सुकुमार है, यह कोरी गप्प है, वस्तुत वह दूस को पीड़ा पहुँचा कर ही सुखी होता है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।
योषिता रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥५०॥

अन्वयः—रहसि गद्गदवाचा योषिता पाणिपल्लवविधूननम् अन्तःसीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः मदनस्य अस्त्रताम् उपययुः ॥५०॥

अर्थ—अत्यन्त एकान्त में (केलि-भवन में) गद्गद् वाणी में बोलनेवाल रमणियों के पाणि-पल्लवों का हिलाना, सी-सी करना एवं आधे मुदे हुए ने से देखना—ये सब (उनके प्रियतमों के लिए) कामदेव के अस्त्रों के समान (उद्दी पन) हो गए ॥५०॥

[मदिरा पान का वर्णन—]

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्पयन्त्यपुनरुक्तरसानि ।
सस्मितानि वदनानि वधूना सोत्पलानि च मधूनि युवानः ॥५१॥

अन्वय—युवान आहितरतीनि अपुनरुक्तरसानि तर्षयन्ति। सस्मितानि वधूना वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुम् अभिलेषुः ॥५१॥

अर्थ—युवक गन्धर्व राग को बढ़ानेवाले, प्रतिक्षण अपूर्व स्वाद देनेवाले एव तृष्णा को उत्पन्न करने वाले ईषद् हास्य युक्त रमणियों के मुखों तथा कमल-युक्त मदिरा को पान करने के लिए अति इच्छुक हो गए ॥५१॥

टिप्पणी—मदिरा और रमणियों के मुख के विशेषण एक ही हैं। तुल्य-योगिता अलकार।

कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे।
मानिनीजन उपाहितसन्धौ सन्दधे धनुषि नेषुमनङ्गः ॥५२॥

अन्वय—कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे उपाहितसन्धौ मानिनीजने अनङ्गः धनुषि इषु न सन्दधे ॥५२॥

अर्थ—प्रियतम के समागम से मानिनी रमणियों का क्रोध दूर हो गया, मदिरा के पान से विवाद शान्त हो गया, इस प्रकार प्रिय के सङ्ग उनकी सुलह हो गयी, अतः उन पर (आक्रमण करने के लिए) कामदेव ने अपने धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया ॥५२॥

टिप्पणी—जब साध्य सिद्ध हो गया तब व्यर्थ मे बाण चलाने से क्या लाभ!

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपितांश्च वरिवस्यत यूनः।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥५३॥

अन्वय—यूनः कुप्यत, आशु आनतचित्ताः भवत, कोपितान् च वरिवस्यत-इति अनेक उपदेशः इव युवतिभिः मधुवारः स्वाद्यते स्म ॥५३॥

अर्थ—अपने युवक प्रेमियों को क्रुद्ध कर दो, और तुरन्त ही उनके अनुकूल हो जाओ, क्रुद्ध हो गए हैं तो उनकी सेवा करके उन्हें मना लो। मानो इस प्रकार के अनेक उपदेशों की भाँति स्वाद ले-लेकर रमणियाँ मदिरा का बारंबार आस्वादन करने लगीं ॥५३॥

भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा ।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥५४॥

अन्वयः—भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रमदत्ताम् अतिरसा वारुणीम् रसयित्वा वधूभि ह्रीविमोहविरहात् पाटव नु हृदय नु उपलेभे ॥५४॥

अर्थ—अपने प्रियतमों द्वारा प्रेम और आदर के साथ दी गयी अत्य स्वादुयुक्त मदिरा का रसास्वादन कर रमणियों ने लज्जा और मूढ़ता के दूर जाने से (पता नहीं) चतुरता प्राप्त की या सहृदयता प्राप्त की ? ॥५४॥

टिप्पणी—अन्यथा वे इस प्रकार का आचरण कैसे कर सकती थीं। सन्दे अलङ्कार ।

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥५५॥

अन्वयः—स्वय स्वादितः अथ प्रियतमैः एधितमान लम्भितः प्रियतमैः स पीतः आसव. प्रमदाना प्रतिपद नैकरूपरसताम् भेजे इव ॥५५॥

अर्थ—पहले स्वय पीने पर तदनन्तर प्रियतमों द्वारा अतिसम्मानपूर्वक दि जाने पर पीने पर फिर प्रियतमों के साथ (उन्हीं के प्याले में) पीने पर (वही मदिरा उन रमणियों को प्रतिबार मानों भिन्न-भिन्न स्वाद से युक्त माल पड़ी ॥५५॥

टिप्पणी—काव्यलिंग, पर्याय तथा उत्प्रेक्षा का सकर ।

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।
आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्पः ॥५६॥

अन्वय —भ्रूविलाससुभगान् वधूनयनाना विभ्रमान् अनुकर्तुम् इव मृदुवि लोलपलाशै. उत्पलै चषकवीचिषु कम्पः आददे ॥५६॥

अर्थ—रमणियों के भ्रूविलास मे मनोहर नेत्रों की लीला का मानों अ करण करने के लिए ईषत् चंचल दलो से युक्त नील कमल प्यालों की लहरियों कम्पन उत्पन्न कर रहे थे ॥५६॥

टिप्पणी—कमल पहले तो केवल रमणियों के नेत्र की समानता करते थे किन्तु मदिरा के प्यालों की लहरियों के कम्पन से युक्त होकर वे भ्रूविलास युक्त नेत्रों की समानता करने लगे। उत्प्रेक्षा अलंकार।

ओष्ठपल्लवविदंशरुचीना हृद्यतामुपययौ रमणानाम्।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवार. ॥५७॥

अन्वयः—ओष्ठपल्लवविदशरुचीना रमणाना फुल्ललोचनविनीलसरोजैः अगनास्यचषकैः मधुवारः हृद्यताम् उपययौ ॥५७॥

अर्थ—रमणियों के अधर-पल्लवों के रस-पान के इच्छुक प्रेमियों ने प्रफुल्ल लोचन रूपी-नील कमलों से सुशोभित रमणियों के मुखरूपी प्यालों से बार-बार मधुपान करके अत्यधिक प्रसन्नता प्राप्त की ॥५७॥

टिप्पणी—प्रेमियों की मदिरा के प्यालों पर कमल-पुष्प तैर रहे थे, इधर रमणियों के मुख-रूपी प्यालों पर भी उनके प्रफुल्ल लोचन-रूपी नील सरोज शोभायमान थे। अतएव उन्होंने इन दूसरे प्रकार के प्यालों से बार-बार मधुपान करके और अधिक प्रसन्नता प्राप्त की। काव्यलिंग और रूपक अलङ्कार का सङ्कर।

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेष'।
तत्तथा हि दयिताननदत्त व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥५८॥

अन्वयः—गुणवता अपि आश्रयवशेन गुणाना विशेषः प्राप्यते व्यक्तम्। तत्तथा हि दयिताननदत्तम् मधु रसातिशयेन व्यानशे ॥५८॥

अर्थ—गुणवान (व्यक्ति) भी हो तो उत्तम आश्रय पाकर उसमें विशेष गुण हो ही जाता है, यह बात यहाँ सत्य हुई, क्योंकि प्रियतमा द्वारा दी गई मदिरा (प्रेमी के लिए) अत्यधिक स्वाद से पूर्ण हो गई ॥५८॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्ता कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम्।
जज्ञिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवारा ॥५९॥

अन्वयः—रत्नचषकेषु अतिरिक्ता कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् वीक्ष्य ओष्ठ यावकनुदः मधुवाराः प्रमदाना बहुमता जज्ञिरे ॥५६॥

अर्थ—स्फटिक आदि रत्नों से बने हुए मदिरा के प्यालों में (रग के छूट जाने से पहले की अपेक्षा) अधिक स्पष्ट दिखाई पड़नेवाली प्रियतम द्वारा किये गए दन्त-क्षत रूपी मण्डन की शोभा को देखकर, ओष्ठ की लालिमा को दूर करनेवाली मदिरा-पान की बारबार की आवृति को रमणियों ने अपना अभीष्ट ही माना ॥५६॥

टिप्पणी—वह इसलिए कि बारम्बार मदिरा पान करने से उनके अधरों का रंग छूट गया और प्रियतम द्वारा किये गये दन्तक्षत स्पष्ट दिखाई पड़ने लने । उन्होंने सोचा कि यदि हमने इस प्रकार बारम्बार मदिरा-सेवन न किया होता तो इन सौभाग्यसूचक चिन्हों से विमडित अधरों का ऐसा सुन्दर दृश्य कैसे देखने को मिलता ।

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणाना व्यत्यय विनिमय नु वितेने ॥६०॥

अन्वयः—लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा वारुणी परगुणात्मगुणाना व्यत्यय विनिमयम् नु वितेने ॥६०॥

अर्थ—सुन्दरियों के नेत्रों में लालिमा देकर तथा उनके अधरों से लालिमा का हरण कर, उनके मुखों को अपनी सुगन्ध से सुवासित कर तथा उनकी मुख गन्ध से स्वयं सुरभित होकर पता नहीं वारुणी ने अपने गुणों से उनके (सुन्दरियों के) गुणों को (जान बूझकर) बदल लिया था अथवा (भ्रम में) पड़कर (परस्पर) उलट-पुलट कर लिया था (कुछ कहा नहीं जा सकता) ॥६०॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्णो कर्णगं निरुपकारि विदित्वा ।
योषित सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदराग. ॥६१॥

अन्वय.—अक्ष्णो. तुल्यरूप योषित. कर्णगम् असितोत्पल निरुपकारि विदित्वा मदराग· सुहृद् इव लम्भितेक्षणरुचिः प्रविभेजे ॥६१॥

अर्थ—आँखों के समान आकृति वाले सुन्दरी के कानों में अलङ्कृत नील-कमल को व्यर्थ अथवा अनुपकारी समझकर मदराग ने चित्र की भाँति नेत्रों के रंग को लालिमा में बदल दिया ॥६१॥

टिप्पणी—यदि आँखों का रंग लालिमा में न बदल उठता तो संभव था सुन्दरियाँ समान रंग होने के कारण नीले कमलों को निकाल कर फेंक देतीं। मदराग ने इस विपदा से मित्र की भाँति उनकी रक्षा की।

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसम्भृतशोभः।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥६२॥

अन्वय—अतिपानैः क्षीणयावकरसः कान्तदन्तपदसम्भृतशोभः वध्वाः अधरपल्लवरागः अतितराम् सान्द्रताम् आययौ इव ॥६२॥

अर्थ—मदिरा के अतिपान के कारण (किसी नायिका के) ओठ के रंग के छूट जाने से प्रियतम के दन्त-क्षत अधिक स्पष्ट हो गए। इससे शोभान्वित उस सुन्दरी के अधरों की लालिमा मानों और भी घनी भूत हो गई ॥६२॥

टिप्पणी—प्रियतम के उपभोग से चिह्नित सुन्दरियों के अंगों की शोभा के लिए अन्य आभूषणों की आवश्यकता नहीं होती। काव्यलिंग तथा उत्प्रेक्षा का संकर।

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु।
सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥६३॥

अन्वय—वनितानां सर्वगा अपि मदश्रीः रागकान्तनयनेषु विद्रुमारुणकपोलतलेषु दर्पणेषु इव नितान्तं ददृशे ॥६३॥

अर्थ—रमणियों के सम्पूर्ण अङ्गों में व्याप्त होने पर भी मदश्री लालिमा से सुशोभित नेत्रों एवं विद्रुम की तरह लाल कपोलों से युक्त उनके मुखोंपर दर्पणों की भाँति निरन्तर दिखाई पड़ रही थी ॥६३॥

टिप्पणी—काव्यलिंग से अनुप्राणित विरोधाभास अलंकार तथा उपमाकी संसृष्टि।

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये।
पश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥६४॥

अन्वयः—बद्धकोपविकृतिः अपि रामाः चारुता भिमतताम् मधुमदः दयिताना वश्यता। उपनिन्ये सर्वः आत्मवर्गहितम् इच्छति ॥६४॥

अर्थ—प्रणय कोप के कारण विकृत होने पर भी उन रमणियों को उनकी 'सुन्दरता' उनके प्रियतमों के लिए अत्यन्त प्रीतिकर बना रही थी और उनका 'मदराग' उन्हें नायकों की वशवर्तिनी बना रहा था। ठीक ही था, सभी अपने वर्ग का कल्याण चाहते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—सुन्दरता स्त्री होने से रमणियों का कल्याण कर रही थी और मदराग पुरुष होने से पुरुषों का। विरोधाभास तथा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि।

वाससां शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि।
योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ॥६५॥

अन्वयः—उपनाभि वाससा शिथिलता ह्रीनिरासम् अपदे कुपितानि गुणपक्षे विदधती मदिरा योषिता वचनीय निर्ममार्ज ॥६५॥

अर्थ—नाभि के समीप वस्त्रों का शिथिल होना, लज्जा का परित्याग करना, अकारण कुपित हो जाना—इन सब दोषों को गुण कोटि में लाकर मदिरा ने रमणियों के अपवादों को धो दिया ॥६५॥

टिप्पणी—'न नाभिं दर्शयेत्' अर्थात् स्त्रियों को अपनी नाभि नहीं दिखलानी चाहिये यह शास्त्रीय शिष्टाचार है। अतः नाभि दिखाना आदि दोष था किन्तु मदिरा के ये सब सहज विकार थे अतः उनकी गणना गुण कोटि में हुई, दोष कोटि में नहीं, अतः रमणियो की कोई निन्दा नहीं कर सकता था।

भर्तृषूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम्।
व्रीडया विफलया वनिताना न स्थितं न विगतं हृदयेषु ॥६६॥

अन्वयः—उपसखि आत्मन. भर्तृषु निक्षिपन्तीना मधुमदोद्यमितानाम् वनिताना हृदयेषु विफलया व्रीडया न स्थित न विगतम् ॥६६॥

अर्थ—सखियों के समीप ही अपने को पतियों के ऊपर गिरानेवाली मदिरा के नशे से प्रेरित अनुरक्त रमणियों के हृदयों में निष्फल हुई लज्जा न तो स्थित ही रह सकी और न जा ही सकी ॥६६॥

टिप्पणी—अर्थात् मदिरा के नशे में वे इतनी चूर थीं कि सखियों के समीप ही अपने प्रियतमों के ऊपर गिर पड़ीं । उनकी लज्जा निष्फल हो गयी ।

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीवता बहुगुणैरनुजह्रे ॥६७॥

अन्वयः—नयनवाक्यविकासं रुन्धती परिरम्भे सादितोभयकरा युवतीनां क्षीवता बहुगुणैः व्रीडितस्य ललितम् अनुजह्रे ॥६७॥

अर्थ—रमणियों के नेत्रों और वाक्यों के विस्तार को रोकती हुई एवं आलिंगन के अवसर पर उनके दोनों हाथों को स्तम्भित करती हुई उन युवतियों की मत्तता ने अपने इन अनेक गुणों से लज्जा का मनोहर अनुकरण किया ॥६७॥

टिप्पणी—मदिरा की नशा में नेत्रों के विस्तार और वाक्यों के विस्तार रुक जाते हैं, नेत्र झेंपने लगते हैं और वाणी अवरुद्ध हो जाती है, और आलिंगन में हाथ भी रुक जाते हैं, यही सब कार्य लज्जा भी करती हैं । उपमा अलंकार ।

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम् ।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥६८॥

अन्वय.—उद्धतमनोभवरागा योषित् मानवती अपि दयिताङ्क ययौ । अनिभृता वारुणी गुणदोषे रहस्यविभेदम् कारयति खलु ॥६८॥

अर्थ—उत्कट रतिरंग के लिए समुत्सुक एक रमणी मानिनी होकर भी अपने प्रियतम की गोद में आ बैठी । सच है, चञ्चला मदिरा गुणों और दोषों के विषय में निश्चय ही रहस्य भेदन कर देती है ॥६८॥

टिप्पणी—मदिरा गुणों और दोषों के प्रकट करने में पक्षपात नहीं करती । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।
आबभौ नव इवोद्धतरागः कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः ॥६९॥

अन्वय'—मधुना चेष्टितस्य मधुरत्वे आहिते नु विकासं गमिते नु कुसुमेषोः कामिनीषु उद्धतरागः अवसरः नवः इव आबभौ ॥६९॥

अर्थ—(पता नहीं) मदिरा के द्वारा रति-क्रीडा मे अत्यन्त मधुरता आ जाने पर अथवा उसके आनन्द के और अधिक बढ़ जाने पर उन रमणियों में कामदेव का उदय अत्यन्त उद्रेक के साथ मानों नूतन रूप में हो गया ॥६६॥

टिप्पणी—सशयानुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रंतुमिति शङ्कितनाथा ।
योपितो न मदिरा भृशमीपुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥७०॥

अन्वय—शङ्कितनाथाः योपितः मदविमूढधियः नः प्रोज्झ्य रन्तु मा गमन इति मदिरा भृश न ईपुः। प्रेम आपदे अपि भयानि पश्यति ॥७०॥

अर्थ—अपने प्रियतमों से सशङ्क रमणियों ने यह सोच कर कि कहीं हमें मदिरा से उन्मत्त समझ कर छोड़ कर हमारे प्रियतम रमण के लिए अन्यत्र न चले जायँ—अधिक मात्रा में मदिरा पीने की इच्छा नहीं की। सच है, प्रेम अकारण भी शकालु होता है ॥७०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

चित्तनिर्वृ तिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः ।
सङ्गमश्च दयितैः स्म न यन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ॥७१॥

अन्वय—चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्त मन्मथ मधुमद शशिभासः दयितै सङ्गमः च प्रमदाना प्रेम काम् अपि भुव नयन्ति स्म ॥७१॥

अर्थ—चित्त को परम आनन्द देनेवाला एकान्त स्थान, कामदेव, मदिरा की नशा, चन्द्रमा की किरणें और अपने प्रियतमों का समागम—इन सम्पूर्ण सामग्रियों ने रमणियों के प्रेम को पता नहीं किस दशा को पहुँचा दिया ॥७१॥

धार्ष्ट्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमाल्ये ।
मानिनीरतिविधौ कुसुमेपुर्मत्तमत्त इव विभ्रममाप ॥७२॥

अन्वयः—धार्ष्ट्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दय विलुलितालकमाल्ये मानिनी रतिविधौ कुसुमेषु मत्तमत्त इव विभ्रमम् आप ॥७२॥

अर्थ—अत्यन्त धृष्टता से रमणियों ने गति क्रमण कर दिया, निर्दयता से उनके केशपाश अस्तव्य. मसल उठीं। इस प्रकार उन मानिनियों की रतिक्रीडा में म. वाले की भाँति विलास किया ॥७२॥

टिप्पणी—मतवाले क्या नहीं कर सकते। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

शीधुपानविधुरेषु वधूनां निघ्नतामुपगतेषु वपुःषु।
ईहितं रतिरसाहितभावं वीतलक्ष्यमपि कामिषु रेजे ॥७३॥

अन्वयः—शीधुपानविधुरेषु वपुःषु निघ्नताम् उपगतेषु वधूनां रतिरसाहित-भावम् कामिषु ईहितं वीतलक्ष्यम् अपि रेजे ॥७३॥

अर्थ—मदिरापान से शिथिलित नववधुओं के शरीर जब उनके प्रियतमों के अधीन हो गये, तब सुरत प्रसङ्ग के रसास्वादन में दत्तचित्त कामियों के अस्थान चुम्बन मर्दन आदि भी सुशोभित हुए ॥७३॥

टिप्पणी—लुब्ध कामियों का स्खलन भी शोभा ही है।

अन्योन्यरक्तमनसामथ बिभ्रतीनां
चेतोभुवो हरिसखाप्सरसां निदेशम्।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा
सा सङ्क्षतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ॥७४॥

अन्वयः—अथ हरिसखाप्सरसाम् च अन्योन्यरक्तमनसां चेतोभुवः निदेशं बिभ्रतीनां वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा सा रात्रिः सङ्क्षता इव परिवृत्तिम् इयाय ॥७४॥

अर्थ—तदनन्तर परस्पर अनुरक्त चित्त गन्धर्वों और देवाङ्गनाओं के काम-देव की आज्ञा का पालन करते हुए वैतालिकों की मङ्गल-स्वर-लहरी से सूचित

अवसान वाली वह रजनी मानों अत्यन्त छोटी-सी होकर समाप्ति को प्राप्त ह गयी ॥७४॥

टिप्पणी—आनन्द-रग में रत लोगों का अधिक से अधिक समय थोड़ी ही देर में बीता हुआ मालूम पड़ता है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। वसन्ततिल छन्द।

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमाना-
मायामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम्।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ॥७५॥

अन्वयः—निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमानाम् आयामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् यूना रामासु भाविविरहाकुलितासु रतानि तत्पूर्वताम् समादधिरे इव ॥७५॥

अर्थ—निद्रा से रति की अत्यन्त थकावट दूर करने वाले एव दीर्घ काल तक चलनेवाली वैतालिकों की मगलवाणी से जगाये गए युवक गन्धर्वों का भावी विरह से खिन्न रमणियों के साथ पुनः होने वाला रति-प्रसग पूर्व रति-प्रसङ्गों से भी मानों अधिक आनन्ददायी प्रतीत हुआ ॥७५॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रातःकाल हो जाने पर भी उन्होंने प्रथम रति प्रसग की भाँति ही पुनः सम्भोग किया। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

कान्ताजन सुरतखेदनिमीलिताक्षं
सम्वाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम्।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥७६॥

अन्वय —सुरतखेदनिमीलताक्ष कान्ताजनं सवाहितुम् इव मन्दमन्द समुपयान् रजनीपरिवृत्तिवायु. हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धान् आविश्चकार ॥७६॥

अर्थ—संभोग के परिश्रम से अधमुँदी आँखों वाली रमणियों की मानों सेवा करने के लिए (पैर आदि मींजने के लिए) धीरे-धीरे बहते हुए प्रभात-समीरण ने केलि-भवनों में मालाओं, मदिरा एव अगराग आदि की सुगधों को खूब फैलाया ॥७६॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीना
शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ॥७७॥

अन्वयः—आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकषायितविपाटललोचनेषु व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनाम् वदनेषु मदावशेष' शोभा बबन्ध ॥७७॥

अर्थ—मदिरा की सुगन्ध से सुवासित चञ्चल अधर-पल्लवों मे रात भर के जागरण से लाल नेत्रों मे (रति-सघर्ष के कारण) पत्र रचना एव तिलकादि से रहित रमणियों के मुखों में मदिरा का अवशेष अर्थात् खुमारी सुशोभित हो रही थी ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—अन्य आभूषणों के न रहने पर खुमारी ही उनका आभूषण बन गयी थी ।

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे
समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनाना
हृदयमवललम्बे रात्रिसम्भोगलक्ष्मी. ॥७८॥

अन्वय.—अङ्गरागे नखलेखालक्ष्यताम् गतवति समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् अङ्गनानाम् विरहविधुरम् हृदयम् रात्रिसम्भोगलक्ष्मी. इष्टा सत्सखी इव अवललम्बे ॥७७॥

अर्थ—अङ्गरागो के नखपदों (चिह्नों) में ही दिखाई पड़ने पर, मदिरा से उन्मत्त प्रियतमों द्वारा जिनके लाल बिम्बाधर पिये गए थे ऐसी रमणियों के मानो

विरह से व्याकुल हृदय को, मानों प्रिय सखी की भाँति रात्रि के संभोग की शोभा ही अवलम्ब हुई ॥७८॥

टिप्पणी—अर्थात् रात्रि के सम्भोग से चिह्न स्पष्ट हो गए। मानों उन्हीं ने भावी विरह से व्याकुल उनके हृदयों को सहारा दिया। जैसे अपनी दुःखित हृदया सखी को उसकी प्रिय सहचरी नहीं छोड़ती, विपत्ति में भी उसके संग रहती है, वैसे ही रात्रि-सम्भोग की वह शोभा भी अप्सराओं के संग बनी रही। वह सुख-समय की स्मृति दिलाकर उन्हें सान्त्वना देती रही। उपमा अलंकार। मालिनी छन्द।

श्रीभारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में नवम सर्ग ॥९॥

दसवाँ सर्ग

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमंडनश्रियस्ताः ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥१॥

अन्वयः—अथ परिमलजा लक्ष्मीं अवाप्य अवयवदीपितमण्डनश्रियः रम्य हावाः ताः वसतिम् अभिविहाय सुरपतिसनुविलोभनाय जग्मुः ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर प्रभात हो जाने पर सभोग की शोभा प्राप्त कर अपने मनोहर अगों से आभूषणों की छटा बढ़ाती हुई मनोहर हाव-भावों के साथ वे अप्सराएँ अपने शिविर को छोड़कर देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन को मोहित करने के लिए चल पड़ीं ॥१॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार । इस सर्ग में पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग कवि ने किया है ।

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीना गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिर निषेदे ॥२॥

अन्वय'—गगनपरिक्रमलाघवेन द्रुतपदम् अभियातुम् इच्छतीनाम् पृथुस्तनीना तासाम् अलघुनितम्बतया चरणैः अवनिषु चिर निषेदे ॥२॥

अर्थ—आकाश के सचरण के समान वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी चलने की इच्छुक उन विशाल स्तनोंवाली अप्सराओं के चरण, वृहत् नितम्ब होने के कारण धरती पर देर-देर तक पड़े रहते थे ॥२॥

टिप्पणी—अप्सराओं को आकाश में उड़ने का अभ्यास तो था ही अतः वे धरती पर भी जल्दी-जल्दी चलने की इच्छा करती थीं, किन्तु स्तनों और जघन-स्थलों से भारी होने से उनके पैर जल्दी-जल्दी नहीं उठ पाते थे ।

निहितसरसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम् ।
अविरलविततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री ॥३॥

अन्वयः—निहितसरसयावकैः वधूना चरणतलैः कृतपद्धतिः अरुणितनील तृणोलपा धरित्री शक्रगोपैः अविरलविततेव वभासे ॥३॥

अर्थ—गीली महावर से रंगे हुए उन सुन्दरियों के चरणों के तलुवों से चिह्नित होने के कारण लाल रग की दूब और खस से युक्त वह भूमि मानों इन्द्रवधूटियों से अविरल व्याप्त की भाँति सुशोभित हुई ॥३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणा पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।
प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ॥४॥

अन्वयः—अगविवरेषु प्रतिरवविततः पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः नूपुराणां ध्वनिः वनानि मुखरसमुत्सुकहंससारसानि चक्रे ॥४॥

अर्थ—पर्वतों की गुफाओं की प्रतिध्वनियों से समूर्च्छित एवं मोटी करधनियों की लरों के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न मनोहर शब्दों से मिश्रित सुन्दरियों के नुपुरों की ध्वनि उत्कंठित होकर बोलने वाले हंसों एव सारसों से युक्त वनस्थली को व्याप्त करने लगी ।

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलंकार की व्यजना ।

अव चयपरिभोगवन्ति हिंस्रै. सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।
अभिदधुरभितो मुनि वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लव च चेत. ॥५॥

अन्वय —अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि समुदितसाध्वसविक्लव चेतश्च वधूभ्यः अभित मुनिम् अभिदधु' ॥५॥

अर्थ—चुनने योग्य पुष्प फलादि से युक्त तथा अपने हिंसक सिंह व्याघ्रादि के साथ ही चरने वाले अहिंसक मृगों आदि से सेवित जगलों ने एवं समुदित भय से विह्वल उनके चित्तों ने उन अप्सराओं के बहुत समीप ही कहीं मुनि के होने की सूचना दी ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् अप्सराओं ने देखा कि इस वन में अद्भुत विशेषता है, पुष्प फलादि सामग्री सब कुछ हाथ से प्राप्त करने योग्य है तथा हिरण एवं सिंहादि साथ-साथ चर रहे हैं, यही नहीं, उनका हृदय भी धड़क रहा है, अतः उन्होंने यह अनुमान लगा लिया कि अर्जुन यहीं कहीं समीप में ही तपस्या कर रहे हैं।

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥६॥

अन्वयः—सा भूः नृपतिमुनिपरिग्रहेण सुरसचिवाप्सरसां तेजः जहार। हि उपहितपरमप्रभावधाम्नां जयिनां तपसाम् अलङ्घ्यं नास्ति ॥६॥

अर्थ—उस तपोभूमि ने राजर्षि अर्जुन के वहाँ निवास करने के कारण उन गन्धर्वों एवं अप्सराओं के तेज को हर लिया। ठीक ही है, परम प्रभाव एवं सामर्थ्यशाली विजयी लोगों की तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ॥७॥

अन्वयः—विस्मयाकुलाभिः ताभिः शुचिसिकतासु क्षितिषु उपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि अतिमानुषाणि जिष्णोः पदानि सचकितमिव ददृशिरे ॥७॥

अर्थ—विस्मयविमुग्ध उन अप्सराओं ने पवित्र एवं स्वच्छ बालुकामय तटों पर अर्जुन के ध्वज एवं चक्र के चिह्नों से अङ्कित अतिमानवीय पदचिह्नों को मानों भयभीत के समान चकित नेत्रों से देखा ॥७॥

टिप्पणी—अद्भुत वस्तुओं के देखने से भय और विस्मय तो होता ही है।

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचयेऽपि तद्विधानाम्।
ऋतुरिव तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः ॥८॥

अन्वय'—अतिशयितवनान्तरद्युतीना फलकुसुमावचये अपि तद्विधानाम् तरुवीरुधा समृद्धया युवतिजनैः मुनिप्रभावः ऋतुरिव जगृहे ॥८॥

अर्थ—अन्य वनों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाली, फलों और पुष्पों के चुन लेने पर भी उसी तरह अर्थात् पूर्ववत् शोभायमान वृक्षों और लताओं की समृद्धियों से उन युवतियों ने अर्जुन के प्रभाव को ऋतु के समान ग्रहण किया ॥८॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

मृदितकिसलयः सुराङ्गनाना ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः।
बहुमतिमधिकां ययावशोक' परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ॥९॥

अन्वय.—ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः मृदितकिसलयः अशोक. सुराङ्गनानाम् अधिकां बहुमतिं ययौ। सद्गुणानाम् परिजनतापि गुणाय भवति ॥९॥

अर्थ—भींगे वल्कल के बोझ से झुकी हुई शाखावाले, मसले हुए कोमल पल्लवों से युक्त अशोक का वृक्ष अप्सराओं के लिए अधिक सम्मान का पात्र हुआ। सच है, बड़े लोगों की सेवा भी उत्कर्ष का कारण होती है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—इससे यह ध्वनित होता है कि अर्जुन के प्रभाव को देखने मा॰ से अप्सराएँ प्रभावित हो गयीं। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

यमनियमकृशीकृतस्थिराग परिददृशे विधृतायुध स ताभि.।
अनुपमशमदीप्ततागरीयान्कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेद. ॥१०॥

अन्वय —यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्ग' विधृतायुध. स. अनुपमशमदीप्ततागरीयान् अथर्वणा कृतपदपङ्क्तिः इव ताभि परिददृशे ॥१०॥

अर्थ—यमों एवं नियमों के पालन से दुर्बल किन्तु दृढ अगों वाले आयुध धारण किये हुए अर्जुन को उन अप्सराओं ने अभ्युदय काण्ड में अनुपम शान्ति

से तथा अभिचारिक क्रियाओं में अनुपम उग्रता से युक्त मुनिवर वसिष्ठ द्वारा रचित पदपंक्ति विशिष्ट चतुर्थवेद के समान देखा ॥१०॥

टिप्पणी—अथर्व वेद के मन्त्र मुनिवर वसिष्ठ के बनाये हुए हैं। कवि के कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अथर्व वेद के मन्त्रों से अभ्युदय और अभिचार दोनों की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उसी प्रकार अर्जुन के शरीर से शान्ति एवं उग्रता दोनों ही झलकती थीं। उपमा अलङ्कार।

[नीचे के चार श्लोकों का अर्थ एक साथ रहेगा—]

शशधर इव लोचनाभिरामैर्गगनविसारिभिरंशुभिः परीतः।
शिखरनिचयमेकसानुसद्मा सकलमिवापि दधन्महीधरस्य ॥११॥

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन्विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः।
हविरिव विततः शिखासमूहैः समभिलपन्नुपवेदि जातवेदाः ॥१२॥

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम्।
दधदलघु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपःसमां समृद्धिम् ॥१३॥

चिरनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ॥१४॥

अन्वयः—शशधर इव लोचनाभिरामैः गगनविसारिभिः अंशुभिः परीतः, एकसानुसद्मा महीधरस्य शिखरनिचयमपि दधत्। सुरसरिति इति परं तपः अधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः उपवेदि शिखासमूहैः विततः हविः समभिलपन् जातवेदाः इव। आकृतेः सदृशम् अतनुं प्रयत्नं दधत् तदनुगुणाम् अपरैः अलङ्घ्यां क्रियाम् दधत् क्रियानुरूपम् अलघु तपः दधत् विजयवतीं तपःसमां समृद्धिं दधत्। चिरनियमकृशः अपि शैलसारः शमनिरतः अपि प्रकृत्या दुरासदः निर्जने तिष्ठन् अपि ससचिव इव मुनिरपि त्रिलोकभर्तुः तुल्यरुचिः ॥११-१४॥

अर्थ—शशलाञ्छन चन्द्रमा के समान, नयनानन्ददायिनी आकाशव्यापिनी अपने तेज की किरणों से व्याप्त (अर्जुन) इन्द्रकील के एक शिखर पर निवास

करते हुए भी मानों उस (पर्वत) के समस्त शिखर समूहों को प्रभासित कर रहे थे। गङ्गा-तट पर परम तपस्या में निरत होकर पिंगल वर्ण की विशाल जटा-जूट धारण करने के कारण वह वेदी के समीप ज्वालाओं से प्रभासमान एवं हवि के इच्छुक अग्नि के समान सुशोभित हो रहे थे। अपनी (विशाल) आकृति के अनुरूप वह महान प्रयत्न में निरत थे, तथा प्रयत्न के अनुकूल दूसरे लोगों द्वारा करने में अशक्य अनुष्ठान में परायण थे तथा अनुष्ठान के अनुकूल कठोर तपस्या में सलग्न थे एवं विजय देनेवाली तपस्या के अनुरूप ऐश्वर्य धारण कर रहे थे। दीर्घकाल की तपस्या से दुर्बल होने पर भी वह पर्वत के समान दृढ़ थे। शान्ति-परायण होकर भी स्वभाव से ही दुर्धर्ष थे। उस निर्जन वन में निवास करते हुए भी सपरिवार थे। ऐश्वर्यरहित मुनिवेश धारण करने पर भी त्रिलोकीपति इन्द्र के समान तेजस्वी थे ॥११-१४॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। द्वितीय में उपमा है। तृतीय में एकावली है तथा चतुर्थ में विरोधाभास अलङ्कार।

तनुमवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ॥१५॥

अन्वयः—अवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां तनुं विलोकयन्त्यः अमरस्त्रियः विजयफले तपोधिकारे अस्य यत्नं विफलम् अवययुः ॥१५॥

अर्थ—सम्पूर्ण लोकों के पराक्रम एवं तेज को तिरस्कृत करनेवाले, त्रिभुवन की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के मनोहर देह को देखनेवाली देवागनाओं ने विजय की प्राप्ति के लिए इस प्रकार की तपस्या में निरत अर्जुन के प्रयत्न को विफल समझा ॥१५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन तो यों ही त्रिभुवन विजय करने में समर्थ है फिर ऐसी कठोर तपस्या में व्यर्थ ही कष्ट उठा रहा है। काव्यलिंग अलंकार।

मुनिदनुतनयान्विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि।
अलघुनि बहुमेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् ॥१६॥

अन्वयः—प्रतनुवलानि तपांसि अधितिष्ठनः मुनिदनुतनयान् सद्य. विलोभ्य कुलिशभृता अलघुनि पदे विहित स्व नियोग ताः बहु मेनिरे ॥१६॥

अर्थ—अत्यन्त उत्कृष्ट फलविहीन तपस्या में निरत मुनियों एव दानवों को तुरन्त मोहित कर आज इन्द्र द्वारा इस महान कार्य में हुई अपनी नियुक्ति को अप्सराओं ने बहुत समझा ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् उन्होंने सोचा कि अब तक तो हमने साधारण हल्की-फुल्की एव सर्व साधारण द्वारा करणीय तपस्या में लगे हुए मुनियों एव दैत्यों को अपने चगुल में फँसाया था, किन्तु आज तो हम एक ऐसे त्रिभुवनविजयी असाधारण तपस्वी को वश में करने के लिए स्वय इन्द्र द्वारा नियुक्त की गयी हैं, अत. यह हमारी शक्ति के परिचय का एक सुन्दर अवसर है।

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्री ॥१७॥

अन्वयः—अथ कृतकविलोभन विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन चित्त-जन्मा प्रसभम् अवततार । हि मधुरा यौवनश्रीः मनः हरति ॥१७॥

अर्थ—तदनन्तर अपने कृत्रिम प्रलोभनों से मोहित करने की इच्छा करने पर उन अप्सराओं में इन्द्रपुत्र अर्जुन के देखते ही कामदेव बरबस ही अव-तीर्ण हो गया। सच है, यौवन की मधुर रूपश्री मन को हर ही लेती है ॥१७॥

टिप्पणी—अप्सराएँ अर्जुन को मोहने के लिये आयी थीं, किन्तु उनकी यहाँ विपरीत दशा हुई, वे स्वयमेव अर्जुन को देखकर मोहित हो गयीं। अर्थान्तरन्यास अलकार।

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः ।
युगपदृतुगणस्य सन्निधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥१८॥

अन्वय —सपदि वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः हरिसखैः वियति वने युगपत ऋतुगणस्य सन्निधान यथायथम् वितेने ॥१८॥

अर्थ—शीघ्र ही अप्सराओं की आज्ञा से गन्धर्वों ने ज्यों ही वीणा और मृदग को बजाना शुरू किया त्यों ही आकाश में और वन में एक सग ही छहों ऋतुओं का क्रमिक विकास हो गया ॥१८॥

टिप्पणी—अर्थात् उद्दीपन सामग्री का उदय हो गया।

[सर्व प्रथम वर्षा ऋतु का वर्णन आरम्भ होता है—]

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभि. स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥१९॥

अन्वयः—सजलजलधरं नभ. विरेजे। तडिल्लताना रुचिः विवृतिम् इयाय व्यवहितरतिविग्रहैः जलगुरुभिः स्तनितैः दिगन्तरेषु वितेने ॥१९॥

अर्थ—जल से भरे मेघों से आकाश सुशोभित हो उठा। बिजलियों की कौंध स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। दम्पतियों के प्रेम कलह को दूर करनेवाले जल-भार से गभीर गर्जनों से दिशाएँ गूँज उठीं ॥१९॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्य. समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम्।
विरलमपजहार बद्धबिन्दु' सरजसतामवनेरपां निपात. ॥२०॥

अन्वय.—परिसुरपतिसूनुधाम सद्य. मालतीना मुकुलानि समुपदधत् विरल बद्धबिन्दुः अपा निपात. अवनेः सरजसताम् अपजहार ॥२०॥

अर्थ—देवराज के पुत्र अर्जुन के आश्रम के चारों ओर शीघ्र ही मालती की कलियाँ मुकुलित हो गयीं और धीरे-धीरे बरसने वाली जल की बूँदों से धरती की धूल शान्त हो गयी ॥२०॥

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्ट ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ॥२१॥

अन्वयः—प्रतिदिशम् अभिगच्छता ककुभविकाससुगन्धिना अनिलेन अभिमृष्टः सचित्तजन्मा गतधृतिः आकुलितश्च रति जीवलोक· नव इव विबभौ ॥२१॥

अर्थ—प्रत्येक दिशा में अर्जुन नामक वृक्ष के विकसित कुसुमों की सुगन्ध

में सुगन्धित वायु के सम्पर्क से काम-विकारग्रस्त, धैर्यरहित एव रति क्रीडा के प्रति व्याकुल हो कर सभी प्राणी मानों अपने को किसी नूतन अवस्था में अनुभव करने लगे ॥२१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

व्यथितमपि भृश मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा ।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥२२॥

अन्वय.—व्यथितमपि मनः भृश हरन्ती । परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा परभृतयुवति· नवनवयोजितकण्ठरागरम्य स्वन वितेने ॥२२॥

अर्थ—दुःखी लोगों के मन को भी बरबस हरनेवाली, पकी जामुन के फल को खाने से हृष्ट कोकिल-युवतियों के कण्ड स्वर नूतन-नूतन रागों के सयोग से रमणी बन कर चारों ओर फैलने लगे ॥२२॥

अभिभवति मन. कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखंडिनां निनादे ।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्नहि महतां सुकर. समाधिभङ्ग. ।२३।

अन्वयः—कदम्बवायौ मदमधुरे शिखण्डिना निनादे च मनः अभिभवति सति जिष्णुः जन इव धृतेः न चचाल । हि महता समाधिभङ्गः न सुकरः ॥२३॥

अर्थ—जब कदम्बानिल से तथा मदोन्मत्त मयूरों के मधुर निनाद से सब का मन अभिभूत हो गया तब भी विजयी अर्जुन साधारण मनुष्यों की भाँति धैर्यच्युत नहीं हुए । सच है महान् पुरुषों की समाधि भग करना सरल काम नहीं होता ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् महान पुरुषों की समाधि कोई नहीं भग कर सकता । अर्थान्तरन्यास अलकार ।

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥२४॥

अन्वय·—धृतबिसवलयावलि. कुमुदवनैकदुकूलम् आत्तबाणा शरद् वधूः इव घनसमयेन अमलतले सरोजपाणौ इव आलम्बे ॥२४॥

अर्थ—मृणाल तन्तुओं के कंकण धारण किये कुमुद वनों की शुभ साड़ी पहिने हुए तथा वाण नामक (नीलझिण्टी) वृक्ष के पुष्पों को वाण के समान अपने हाथों में धारण किये हुए नववधू के समान आई हुई शरद् ऋतु को (वर के समान) वर्षा ऋतु ने अपने कमलरूपी निर्मल करों से ग्रहण किया ॥२४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि वधू और वर के समागम के समान वर्षा और शरदृतु की सन्धि सुशोभित हुई। वाण को हाथ में धारण करने का संकेत क्षत्रिय कुलोत्पन्ना नववधू से है। श्लेष मूलातिशयोक्ति और उपमा का अंगागी-भाव से सङ्कर।

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ॥२५॥

अन्वयः—समदशिखिरुतानि हंसनादैः समेत्य कुमुदवनानि कदम्बपुष्प-वृष्ट्या समेत्य अतिशयिनीं श्रियं जग्मुः। हि गुणमहतां योगः महतेः गुणाय भवति ॥२५॥

अर्थ—मदोन्मत्त मयूरों का कलकूजन हंसों के मनोहर स्वरों के साथ मिल-कर तथा कुमुदों की पंक्तियाँ कदम्ब पुष्पों की वृष्टि के साथ मिलकर अतिशय शोभा धारण करने लगीं। सच है, अधिक गुणवाले पदार्थों के परस्पर समागम से उनके गुण और अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥२५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और समालङ्कार का अंगागी भाव से सङ्कर।

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम्।
प्रियमधुरसनानि षट्पदाली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ॥२६॥

अन्वयः—प्रियमधुरा षट्पदाली उपान्तिकनीपरेणुकीर्णं सरजसं केतकीनां प्रसवम् अपहाय विनीलबन्धनानि असनानि मलिनयति स्म ॥२६॥

अर्थ—मकरन्द के प्रेमी भ्रमरों की पक्तियाँ समीप के कदम्ब पराग से व्याप्त धूल भरे केतकी के कुसुमों को छोड़ कर नील वृन्तों वाले प्रियक के (मकरन्दपूर्ण) कुसुमों को मलिन करने लगे ॥२६॥

टिप्पणी—प्रियक के वृन्त ही नील होते हैं अन्य भाग नहीं। भ्रमरों की पक्तियाँ कुसुमों को भी नीला बना रही थीं।

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु ।
अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ॥२७॥

अन्वयः—धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपाः मुकुलित बन्धुजीवम् अतिशय्य विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ॥२७॥

अर्थ—ओस कणों से व्याप्त हरे-हरे तृणों से आच्छादित भूमि पर बड़ी-बड़ी बीरबहूटियाँ, मुकुलित बन्धुजीवों अर्थात् दोपहरिया की कलियों को तिरस्कृत करती हुई विकसित पलाश के पुष्पों की शोभा को प्राप्त कर रही थीं ॥२७॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

[अब हेमन्त का वर्णन है—]

अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः ।
गुणमसमयजं चिराय लेभे विरलतुषारकणस्तुषारकालः ॥२८॥

अन्वयः—अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः विरल-तुषारकणः तुषारकालः चिराय असमयजं गुणम् लेभे ॥२८॥

अर्थ—राशि-राशि प्रियंगु के पुष्पों से युक्त विकसित कुन्द कुसुमों की सुगन्धि से सुवासित वायु वाली, विरल ओस कणों से विमण्डित हेमन्त ऋतु चिर-काल तक अकाल में उत्पन्न गुणों की उत्कृष्टता को प्राप्त करता रहा ॥२८॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ॥२९॥

अन्वयः—निचयिनि लवलीलताविकासे लोध्रसमीरणे हर्षे च जनयति सति पाण्डुसूनुः विकृतिं न उपययौ । हि जिगीषता चेतः नयात् न चलति ॥२६॥

अर्थ—लवली लताओं के अत्यन्त पुष्पित होने एव लोध्र के कुसुम की सुगन्ध से सुवासित वायु के सचरण से सर्वत्र उत्कठा अथवा हर्ष का वातावरण उपस्थित कर देने पर भी पाण्डुपुत्र अर्जुन के मन मे विकार नहीं उत्पन्न हुआ। सच है, विजयाभिलाषी व्यक्तियों का चित्त नीति-मार्ग से विचलित नहीं होता ॥२६॥

टिप्पणी—अर्जुन का चित्त तो शत्रु के अपकारों के स्मरण से क्रोध से भरा था, तब फिर क्रोधाक्रान्त चित्त में कामवासना का प्रसार होता ही कैसे, क्योंकि क्रोध और कामवासना का परस्पर सहज विरोध है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवार ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशसी समुपययौ शिशिर. स्मरैकबन्धु ॥३०॥

अन्वयः—कतिपयसहकारपुष्परम्य॰ तनुतुहिनः अल्पविनिद्रसिन्दुवार॰ सुरभिमुखहिमागमान्तशसी स्मरैकबन्धु॰ शिशिरः समुपययौ ॥३०॥

अर्थ—कतिपय आम्र की मजरियों से मनोहर, स्वल्प हिम युक्त, थोड़े फूले हुए सिन्दुवार (निर्गुण्डी) के कुसुमो से सुशोभित, वसन्त के आरम्भ एवं हेमन्त के अवसान की सूचना देता हुआ कामदेव का एकमात्र सहायक शिशिर काल समुपस्थित हो गया ॥३०॥

टिप्पणी—शिशिर ऋतु में कतिपय आमों में मजरी आ जाती हैं, वसन्त की तरह सब में नहीं और हेमन्त की तरह किसी में न हो, यह भी नहीं। इसी प्रकार हेमन्त की तरह न तो उसमें हिम अधिक पड़ता है और न वसन्त की तरह उसका सर्वथा अभाव ही रहता है। इसी प्रकार निर्गुण्डी का पुष्प भी न तो अधिक फूलता है न उसका नितान्त अभाव ही रहता है ॥३०॥

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम्।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः ॥३१॥

अन्वयः—कुसुमनगवनानि उपैतुकामा वसन्तलक्ष्मीः किसलयिनीं चूतयष्टिम् अवलम्ब्य क्वणदलिकुलनूपुरा नलिनवनेषु पद निरासे ॥३१॥

अर्थ—पुष्प-प्रधान पर्वतीय वनों में पहुँचने की अभिलाषिणी वसन्तश्री ने नूतन पल्लवों से युक्त आम्र की छड़ी (शाखा) का सहारा लेकर नूपुर के समान गुंजायमान भ्रमरों की पक्तियों से अलकृत होकर कमलों के वन में प्रवेश किया ॥३१॥

टिप्पणी—समासोक्ति अलकार।

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरवकराजिवधूं विलोकयन्तम्।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥३२॥

अन्वयः—विकसितकुसुमाधरं हसन्तीम् कुरवकराजिवधू विलोकयन्तम् अशोकपल्लवेषु निषण्ण सशरम् अनङ्ग सुराङ्गना ददृशुरिव ॥३२॥

अर्थ—खिले हुए पुष्प-रूपी अधरों को फड़काती हुई, कुरवक वृक्षों की पक्ति-रूपिणी वधू को देखते हुए अशोक के नूतन पल्लवों पर बैठे हुए शर-समेत कामदेव को मानों उन देवागनाओं ने देख लिया ॥३२॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि विकसित कुरवकों की पक्तियों तथा अशोक-पल्लवों को देखकर अप्सराओं को कामदेव का जैसे साक्षात्कार हो गया हो—इस प्रकार से मनःक्षोभ हुआ। रूपक और उत्प्रेक्षा अलकार की संसृष्टि।

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन।
अलिकुलमलकाकृति प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्याः ॥३३॥

अन्वय.—अनुपतता दक्षिणानिलेन मुहुः विधूयमानं विरचितसंहतिः पङ्कजिन्याः नलिनमुखान्तविसर्पि अलिकुलम् अलकाकृतिं प्रपेदे ॥३३॥

अर्थ—धीरे-धीरे चलते हुए दक्षिण पवन से बारम्बार कम्पित होने के कारण

पंक्तिबद्ध रूप में कमलिनियों के कुसुम-रूपी मुखों पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह अलकों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥३४॥

अन्वयः—षट्पदेन शाललतावधूः श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे मधुसुरभिणि पुष्पे मुख इव नवनिहितेर्ष्यम् अवधूनयन्ती चुचुम्बे ॥३४॥

अर्थ—भ्रमर ने शालवृक्ष की शाखा-रूपिणी वधू के श्वसन (श्वास तथा समीर) के कारण कम्पित पल्लवाधर से युक्त, मधु (मदिरा तथा मकरन्द) से सुरभित मुख-सदृश पुष्प का, प्रथम बार प्राप्त हुई ईर्ष्या की प्रेरणा से इधर उधर फेरते हुए भी चुम्बन किया ॥३४॥

टिप्पणी—उस शाल वृक्ष की शाखा वधू थी, पुष्प उसका मुख था। पल्लव उसके चञ्चल ओष्ठ थे। पुष्प का मकरन्द मदिरा थी। वायु-वेग के कारण फूलों का हिलना ही उसके मुख की खींचातानी थी। मदिरा से मुख सुरभित होता है और उसे पान करनेवाले भ्रमर ही नायक थे। श्लेष मूलातिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार का अंगागी भाव से सकर।

प्रभवति न तदा परो विजेतु भर्वात जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ॥३५॥

अन्वयः—परः तदा विजेतुं न प्रभवति यदा जितेन्द्रियता आत्मरक्षा भवति तथाहि अवजितभुवनः पुष्पमासः सिततुरगे विजयं न लेभे ॥३५॥

अर्थ—शत्रु उस समय तक विजय प्राप्त नहीं कर सकता जब तक जितेन्द्रियता अपनी रक्षा करती है। इसी से त्रिभुवनविजयी वसन्त वीरवर अर्जुन को पराजित नहीं कर सका ॥३५॥

टिप्पणी—जितेन्द्रियता के कारण मनुष्य अपराजेय होता ही है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कथमिव तव संमतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ।
इति विरचितमल्लिकाविकास. स्मयत इव स्म मधु निदाघकाल. ।३६।

अन्वयः—विरचितमल्लिकाविकासः निदाघकालः ऋतुभिः सम मुनिना वधीरितस्य तव सम्मतिः कथमिव भवित्री—इति मधु स्मयते स्म इव ॥३६॥

अर्थ—(तदनन्तर) मल्लिका को विकसित करने वाला निदाघ काल अर्थात् ीष्म ऋतु सभी ऋतुओं के साथ तुम अर्जुन से पराजित हो गये तब फिर तुम्हारी या इज्जत रह गयी—इस प्रकार से मानों वसन्त ऋतु का परिहास-सा करते हुए आकर उपस्थित हो गया ॥३६॥

टिप्पणी—मल्लिका के उज्ज्वल पुष्प मानों ग्रीष्म के परिहास के चिह्न थे। सहोक्ति और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अगागी भाव से सकर।

वलवदपि वलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगण' क्षणमुन्मनीचकार ॥३७॥

अन्वयः—वलवत् अपि मिथोविरोधि वल विपक्षनिर्जयाय नैव प्रभवति। यत् भुवनपरिभवी ऋतुगणः तदानीं त क्षण न उन्मनीचकार ॥३७॥

अर्थ—वलवती होने पर भी यदि आपस में ही विरोध है, तो वह सेना शत्रु को पराजित करने में समर्थ नहीं हो सकती। इसी से त्रिभुवनविजयी होकर भी समस्त ऋतुएँ इस अवसर पर अर्जुन को क्षणभर के लिए भी व्यग्र नहीं कर सकीं ॥३७॥

टिप्पणी—परस्पर विरोध से यहाँ सभी ऋतुओं के एक साथ आविर्भूत होने का संकेत है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

श्रुतिसुखमुपवीणित सहायैरविरललांछनहारिणश्च काला. ।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनु ॥३८॥

अन्वयः—सहायै' श्रुतिसुखम् उपवीणितम् अविरललाञ्छनहारिणः कालाः अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभव वितेनुः ॥३८॥

अर्थ—अपने सहायक गन्धर्वों द्वारा कर्णमधुर वीणा के साथ प्रस्तुत संगीत

एव प्रचुर मात्रा में पूर्वोक्त पुष्पों एव फलों आदि सामग्रियों की समृद्धि से युक्त ऋतुएँ इन्द्रपुत्र अर्जुन के मन में विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होकर उन अप्सराओं के चित्त में ही काम का विस्तार करने लगीं ॥३८॥

टिप्पणी—दूसरे को आहत करने के लिए उठाये गए अस्त्र से अपने ही को आहत होना पड़ा। विषम अलङ्कार।

न दलति निचये तथोत्पलानां न विपमच्छदगुच्छयूथिकासु।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासा हरितनयावयवेपु लोचनानि ॥३९॥

अन्वयः—आसा लोचनानि हरितनयावयवेपु यथा तथा दलति उत्पलान निचये विपमच्छदगुच्छयूथिकासु अभिरतिं न उपलेभिरे ॥३९॥

अर्थ—उन अप्सराओं के नेत्र इन्द्रपुत्र अर्जुन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर इ प्रकार हर्षित होकर लुब्ध हो गये जिस प्रकार से विकसित कमलों के समूहों, छि वन के पुष्पस्तवकों तथा मल्लिका की मजरियों पर नहीं हुए थे ॥३९॥

टिप्पणी—इसके द्वारा उनकी नेत्र-प्रीति का सकेत किया गया है।

मुनिमभिमुखतां निनीपवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन।
मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ॥४०॥

अन्वयः—याः कमनीयतागुणेन मुनिम् अभिमुखता निनीपवः समुपययुः तासा स एव मदनम् उपदधे हि प्रयोजनानाम् गतिः दुरधिगमा ॥४०॥

अर्थ—जो अप्सराएँ अपने सुन्दरता रूपी गुण से अर्जुन को अपने व में करने की इच्छा से गयी थीं उनमें अर्जुन ने ही काम का सञ्चार कर दिया सच है, उद्देश्यों का परिणाम सदा दुर्जेय होता है ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसदंगुलि पाणिपल्लव वा।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षु. सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ॥४१॥

अन्वयः—विलासि नर्तकीनां चक्षुः प्रकृत अभिनेय विकसदगुलि पाणिपल्लवं न अनुससार। प्रथमं सिततुरगे उपहित वा न चचाल ॥४१॥

अर्थ—उन नर्तकी अप्सराओं के विलासभरे नेत्र उस समय के अभिनय के योग्य रस भावादि व्यंजक व्यापारों का अनुसरण नहीं कर सके। चञ्चल अँगुलियों वाले पाणिपल्लव भी अनुसरण नहीं कर सके। प्रत्युत हुआ यह कि प्रथम बार ही अर्जुन पर पड़ते ही वे नेत्र वहाँ से हिल तक नहीं सके ॥४१॥

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम्।
चरणमभिपपात पट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का ॥४२॥

अन्वय—अभिनयमनसः सुराङ्गनायाः अलक्तकवर्तनाभिताम्र निहित चरण पट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का अभिपपात स्म ॥४२॥

अर्थ—रस-भावादि के अभिनय की इच्छा करने वाली देवागनाओं के महावर लगाने से लाल धरती पर पड़े हुए चरण-चह्नों पर भ्रमरों की पंक्तियाँ नूतन कमल के पुष्प की शका से आकर बैठ गयीं ॥४२॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार से उपमा की ध्वनि।

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि ॥४३॥

अन्वय—नमितशिखानि कदम्बकेसराणि अविरलं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनाम् अलसेषु पदेषु अलक्तक सवपुष चित्तरागम् ऊहु. ॥४३॥

अर्थ—(नर्तकियों के) पैरों से कुचले हुए अग्रभाग वाले रंग-पूजा में समर्पित कदम्बों के केसर अत्यन्त गाढे किन्तु अनुराग की ऊष्मा से पिघलते हुए नर्तकियों के आलस्यभरे चरणों की महावर को मानों उनके चित्त के अनुराग की मूर्ति की भाँति धारण कर रहे थे ॥४३॥

टिप्पणी—अर्जुन ने रंग-पूजा के लिए कदम्बों के केसर वहाँ रखे थे, नर्तकियाँ उन्हीं पर नाच रंग कर रही थीं। उनका चित्त तो लगा था अर्जुन में, अतः वे धीरे-धीरे पाद-विन्यास कर रही थीं। अर्जुन के प्रति भीतरी अनुराग से उन्हें पसीना छूट रहा था जिससे महावर का रंग छूट-छूट कर उन केसरों पर लग रहा था। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मानों वे महावर

के रंग नहीं प्रत्युत उनके अनुराग का ही पिघला हुआ रूप था। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि ॥४४॥

अन्वयः—नृपसुतम् अभितः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः समन्मथाया वध्वाः अभिलषित स्फुट बभूव। सवृतिः एव कामितानि वदति हि ॥४४॥

अर्थ—अर्जुन के सम्मुख सखी के शरीर की आड़ में छिपी हुई एक अप्सरा अत्यन्त कामपीड़ित हो गई थी, अर्जुन के प्रति उसकी कामाभिलाषा स्पष्ट हो गयी थी। सच है, अच्छी तरह से छिपाने की चेष्टा ही अनुराग की सूचना देती है ॥४४॥

टिप्पणी—अनुराग का यह स्वभाव ही है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे छिपाया जाता है वही चेष्टा उसकी सूचना भी देती है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

अभिमुनि सहसा हृते परस्या घनमरुता जघनांशुकैकदेशे।
चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय ॥४५॥

अन्वय.—अभिमुनि घनमरुता जघनांशुकैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपाया परस्याः अवसनोरु चकित प्रतियुवतीः अपि विस्मयं निनाय ॥४५॥

अर्थ—तपस्वी अर्जुन के समक्ष तीव्र वायु द्वारा जघनस्थल पर से वस्त्र के एक भाग के सहसा उड़ जाने पर लज्जित एक अप्सरा के निर्वस्त्र उरुभा के दिखाई पड़ने से उसकी सपत्नी भी विस्मय विमुग्ध हो गई ॥४५॥

टिप्पणी—जब सपत्नी भी विस्मित हो गई तो साधारण व्यक्ति की बा ही क्या। किन्तु इसका भी अर्जुन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूपितपाण्डुगण्डलेखम्।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ ॥४६॥

अन्वय.—अपरा स्मराभितापात् धृतबिसवलये पाणौ अधिरूपितपाण्डुगण्ड लेख मुख निधाय अमधुमदालसलोचनं नृपसुतं निदध्यौ ॥४६॥

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा काम के संताप से मृणाल-तन्तु के वलय से विभूषित हथेलियों पर अपने चंदनादि चर्चित पीले कपोलों वाले मुख को रखकर मदिरा के मद से रहित होने पर भी आलस्य युक्त नेत्रों से अर्जुन को देख रही थी ॥४६॥

[नीचे के पाँच श्लोकों में अर्जुन के लिए एक दूती ने सन्देश दिया है—]

सखि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता ।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकंठमुपागतं विवेद ॥४७॥

अन्वयः—कुसुमेषुणा अभितप्ता सा हे सखि ! दयितम् इहानयेति मां प्रहितवती अहृदया पूर्वं भवत् उपकंठम् उपागतं हृदयं न विवेद नाम ॥४७॥

अर्थ—कामदेव से पीड़ित उस सुन्दरी ने—'हे सखी ! मेरे प्रियतम को यहाँ मेरे पास ले आओ'—ऐसा कह कर मुझे आपकी सेवा में भेजा है । उसने अपना हृदय तो पहले ही आप के समीप भेज दिया है, अतः वह हृदयविहीना है, अमनस्का है, वह यह भी नहीं जानती कि उसका हृदय भी उसके पास नहीं रह गया है ॥४७॥

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।
गतघृण गमितानि सत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ॥४८॥

अन्वयः—चिरं कलितान्यपि परिशुष्यता मुखेन परिगदितुम् अपारयन्त्या हे गतघृण ! सत्सखीनां मनांसि नयनयुगैः समम् आर्द्रतां गमितानि ॥४८॥

अर्थ—मेरी सखी ने बहुत देर से आप से कहने के लिए बहुत-सी बातें सोच रखी थीं, किन्तु (मनः सन्ताप से) मुख के सूख जाने के कारण कहने में वह असमर्थ हो गई । हे निर्दय ! मेरी उस सुन्दरी सखी का मन भी दोनों नेत्रों के साथ ही गीला हो गया है ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् शोक के भार से चित्त भी भारी हो गया है । सहोक्ति अलङ्कार ।

अचकमत सपल्लवा धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम्।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥४६॥

अन्वयः—मृदुसुरभिं पुष्पशय्यां विरहय्य सपल्लवां धरित्रीम् अचकम अस्याः तत्र भृशम् अरतिम् अवाप्य सुखशीत तव अङ्कम् उपैतुमिच्छा ॥४६॥

अर्थ—उस सुन्दरी ने कोमल एवं सुगन्धि से भरी पुष्पों की शैय्या छोड़ नूतन पल्लवों से बिछाई गई धरती पर सोने की इच्छा की थी। किन्तु धरती प भी अत्यन्त दाहकता का अनुभव करके वह अब तुम्हारे सहज सुखदायी ए शीतल अकों में सोना चाहती है ॥४६॥

टिप्पणी—पुष्पों की शैय्या और धरती पर पल्लव बिछाकर सोने का कार यह था कि पल्लव और धरती दोनों ही शीतल होते हैं। पर्याय अलंकार।

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ॥५०॥

अन्वय.—तत् हे अनघ! तनुः सा सकामा अस्तु। हि त्वदर्थं परासुता व्रजति। पुनरपि तपः सुलभम् अनुरागी अनुरूप. युवतिजनः नाप्यते खलु ॥५

अर्थ—इसलिए हे निष्पाप! उस दुर्बल अंगोंवाली मेरी सखी की क नाएँ पूरी करो क्योंकि वह तुम्हारे ही लिए अपने प्राणों को छोड़ने जा रही तपस्या तो फिर भी तुम्हें सुलभ हो सकती है किन्तु तुम्हारे अनुरूप वैसी यु सुन्दरी निश्चय ही नहीं मिलेगी ॥५०॥

[इस प्रकार से लुभाये जाने पर भी जब तपस्वी अर्जुन का मौन भङ्ग हुआ, तब वह बोली—]

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम्।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥५१॥

अन्वय —कठिनतां जहिहि। वाचं प्रयच्छ। मुनीनां मानसं करुणामृदु न अभव्याः उपगतम् अवधीरयन्ति। एवं सः कयाचिद् एत्य निपुणं ऊचे ॥५१

अर्थ—कठोरता छोड़ दीजिए। कुछ उत्तर तो दीजिए। तपस्वी मुनिय

चित्त तो करुणा से भरा रहता है। जो लोग भाग्यहीन होते हैं वह प्राप्त वस्तु की अवहेलना करते हैं—इस प्रकार की बातें उस चतुर दूती ने समीप आकर बड़ी निपुणता से अर्जुन से कहा ॥५१॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणि. ।
सुरपतितनयेऽपरा निरासे मनसिजजैत्रशर विलोचनार्धम् ॥५२॥

अन्वय·—सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः अपरा, सुरपतितनये मनसिजजैत्रशर विलोचनार्धं निरासे ॥५२॥

अर्थ—विलासपूर्वक अपने कटि-भाग को हिलाती हुई एव एक हाथ से बालों को बाँधने की लीला करती हुई एक दूसरी अप्सरा ने देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन पर कामदेव के विजयी बाण अपने कटाक्षों को चलाया ॥५२॥

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥५३॥

अन्वय.—इभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी काचिद् तनुः कुसुमितम् उच्चैः चूतम् अवलम्ब्य विसृतगुणः अनङ्गचापयष्टि इव तदभिमुखं समुन्ननाम ॥५३॥

अर्थ—हाथी के गण्डस्थल के समान विशाल स्तनों के भार से झुकी हुई एक कृशांगिनी अप्सरा कुसुमित रसाल की शाखा का सहारा लेकर प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए कामदेव के धनुष की भाँति अर्जुन के सम्मुख जँभाई लेने लगी॥५३॥

टिप्पणी—अर्थात् उसने स्पष्ट रूप से अर्जुन के प्रति अपनी काम-व्यथा प्रकट की।

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम् ।
अभिपतितुमना. ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दितावतस्थे ॥५४॥

अन्वय.—अन्या विगलितनीवि विलोल नीलम् अन्तरीयम् अवलम्ब्य सरभसम् अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दिता अवतस्थे ॥५४॥

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा नीवी बन्धन के शिथिलित हो जाने के कारण अपने स्थान से गिरते हुये नीले अन्तरीय वस्त्र (साया) को पकड़ कर शीघ्र

ही भागना चाहती थी कि लज्जित-सी होकर गिरती हुई करधनी में अटक गई और जहाँ की तहाँ रुकी रह गई ॥५४॥

[एक नायिका अर्जुन को फटकार रही है, नीचे के दो श्लोकों में उसी का वर्णन है—]

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ॥५५॥

अन्वयः—तव मनसि शमः यदि अङ्ग चाप किम्। हे शठ! तव विषयाः वल्लभाः न मुक्तिः। भवतु तव हृदये हृदयेश्वरा तव अन्यकामिनीभ्यः अवकाश न दिशति ॥५५॥

अर्थ—हे तपस्वी! तुम्हारे चित्त मे यदि (सचमुच) शान्ति है तो यह धनुष किस लिए धारण किये हुए हो। किन्तु हे शठ! (मै तो ऐसा समझती हूँ कि) तुम विषयाभिलाषी हो, मुक्ति के अभिलाषी नहीं हो। तुम्हारे हृदय में तो तुम्हारी कोई प्राणेश्वरी छिपी हुई है जो दूसरी कामिनी को वहाँ स्थान नहीं देना चाहती ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम किसी दूसरी सुन्दरी पर आसक्त हो, इसी से हम लोगों की अवहेलना कर रहे हो। यह तुम्हारा वैराग्य नहीं है, दम्भ है।

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित्।
अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥५६॥

अन्वयः—इति असूयया स्फुरत् अधरोष्ठम् अभिधाय विषमितचक्षुषा अगणितगुरुमानलज्जया कयाचित् असौ उरसि स्वयं श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार ईर्ष्या के साथ फड़कते हुए ओठों से उक्त बातें कहकर तिरछी नजरों से अर्जुन को देखते हुए गुरुजनों की लज्जा एवं अपनी मान मर्यादा की कोई चिन्ता न कर उस सुन्दरी ने अर्जुन के वक्षस्थल पर स्वयं अपने हाथों से कानों पर रखे हुए कमल द्वारा प्रहार किया ॥५६॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥५७॥

अन्वयः—अपरा सविनयं साचि अभिसृत्य स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः श्रवणनियमितेन असकलेन लोचनेन तं सकलमिव निदध्यौ ॥५७॥

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा विनम्रतापूर्वक तिरछी गति अर्थात् हावभावपूर्ण चाल से अर्जुन के समीप पहुँची । अपनी मनोहर मुस्कान से कपोल शोभा को बढ़ाती हुई वह कानों तक लंबे अपने कटाक्षों से मानों अर्जुन को सम्पूर्ण रूप से पी-सा गयी ॥५७॥

टिप्पणी—ऊर्जस्वल अलङ्कार ।

करुणमभिहित त्रपा निरस्ता तदभिमुख च विमुक्तमश्रु ताभिः ।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतु प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमि. ॥५८॥

अन्वयः—ताभिः तत् अभिमुखम् करुणम् अभिहितम् । त्रपा निरस्ता । अश्रु विमुक्तम् । हि अबलाजनस्य अभिसारणे प्रकुपित प्रियम् अनुनेतुम् इयती ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार उन अप्सराओं ने अर्जुन के सम्मुख अनेक दीनताभरी बातें कहीं । लज्जा का परित्याग किया और आँसू तक बहाया । स्त्रियाँ समागम के लिए रूठे हुए अपने प्रियतम को मनाने में यही सब उपाय तो करती भी हैं ॥५८॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलम परिपाण्डुता विषादः ।
इति विविधमियाय तासु भूषां प्रभवति मंडयितुं वधूरनङ्ग. ॥५९॥

अन्वयः—असकलनयनेक्षितानि लज्जा अलसं गत परिपाण्डुता विषादः इति विविधं तासु भूषाम् इयाय । हि अनङ्ग वधू. मण्डयितुं प्रभवति ॥५९॥

अर्थ—आधे नेत्रों से देखना अर्थात् कटाक्षपात, लज्जा, अलसाई हुई चाल, शरीर में पीला पड़ जाना, और विषाद—ये सभी प्रकार के विकार उन अप्सराओं

की शोभा बढ़ाने लगे। सच है, कामदेव सभी अवस्थाओं में रमणियों को सुन्दर बना ही देता है ॥५९॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[इस प्रकार अप्सराएँ अर्जुन को मोहित करने में निष्फल हो गयीं। नीचे के तीन श्लोकों में इसी का वर्णन कवि ने किया है—]

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम्।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥६०॥

भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ॥६१॥

रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलापः ॥६२॥

अन्वयः—प्रकृत्या अलसपदमनोरमं जितकलहंसवधूगति प्रयातम् उरुजघनस्थलातिभारात् उदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं स्थितं वा। भृशकुसुमकशरेषुपातमोहात् अनवसितार्थपदाकुलः अभिलापः वधूनां अधिकविततलोचनम् अयुगपत् उन्नमितभ्रु वीक्षितं च। रुचिकरम् अपि स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे अर्थवत् न बभूव। हि महतां मनांसि अमर्षे ज्वलयति सति सुखाभिलापः अवसरं न लभते॥६०—६२॥

अर्थ—सहज अलसाए हुए चरणों से हंसिनियों की गति को तिरस्कृत करने वाली उनकी मनोहर चाल, अत्यन्त विस्तृत जघनस्थलों के भार से थके हुए नेत्रों से उनका तिरछा देखना, किसी प्रकार खड़ा होना, कामदेव के तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छावस्था में प्रयुक्त होने के कारण (सुबन्त, तिङन्त आदि वाक्यों के अव्यक्त होने के कारण) अस्पष्ट उनका वार्तालाप, आश्चर्य अथवा भय से बहु विस्तृत नेत्र, बारी-बारी से भौंहें ऊपर उठा उठाकर उनका देखना, आदि उन देवांगनाओं की चेष्टाएँ यद्यपि बहुत मनोरम थीं, तथापि स्थिर समाधि में निरत एवं निर्विकार चित्त होने के कारण पवित्र अर्जुन (के हृदय) पर उनका कोई परिणाम नहीं हुआ अर्थात् वे सब निरर्थक ही सिद्ध हुईं। सच

महान पुरुषों के मन में जब तक अमर्ष की अग्नि धधकती रहती है तब तक सुख की अभिलाषा को अवसर नहीं मिलता ॥६०—६२॥

टिप्पणी—रौद्र रस शृंगार का विरोधी होता है। जब तक मनस्वी के मन में प्रतिशोध की भावना जागती रहेगी तब तक वह विषय-सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

स्वयं संराध्यैवं शतमखमखण्डेन तपसा
परोच्छित्त्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते।
मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ॥६३॥

अन्वयः—एवं हरिसुते स्वयम् अखण्डेन तपसा शतमखं संराध्य परोच्छित्त्या लभ्यां लक्ष्मीम् अभिलषति सति सोद्वेगैः मनोभिः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः सगन्धर्वाः त्रिदशवनिताः स्वं धाम प्रतिययुः ॥६३॥

अर्थ—इस प्रकार अर्जुन को अपनी अखंड तपस्या द्वारा शतक्रतु इन्द्र की आराधना कर शत्रु का विनाश करने के बाद प्राप्त होने वाली विजयश्री की अभिलाषा में निरत देख, प्रेम-प्रार्थना के भंग होने से उदास वे देवांगनाएँ उद्वेगपूर्ण चित्त होकर गन्धर्वों के साथ अपने निवास-स्थल को वापस लौट गयीं ॥६३॥

टिप्पणी—शिखरिणी छन्द।

श्रीभारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

ग्यारहवाँ सर्ग

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया ।
आजगामाश्रम जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ॥१॥

अन्वयः—अथ पाकशासनः तया आमर्षात् निसर्गात् च जितेन्द्रियतया प्रतीतः जिष्णोः आश्रमम् आजगाम ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर पाकशासन इन्द्र उन अप्सराओं द्वारा कही गयी अर्जुन की शत्रु के द्वेष से पूर्ण एवं स्वभाव सिद्ध जितेन्द्रियता की बातें सुनकर पर. प्रसन्न हुए और अर्जुन के आश्रम में पहुँचे ॥१॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलङ्कार ।

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥२॥

अन्वयः—मुनिरूपः अनुरूपेण सूनुना पुरः ददृशे । वयोतीतः द्राघीयसा अध्वना परिक्लान्तः किल ॥२॥

अर्थ—मुनिरूप धारी इन्द्र को उनके अनुरूप अर्थात् दर्शन पाने योग्य पु अर्जुन ने अपने सामने देखा । वह वृद्धवेश में लंबे पथ के पथिक की भाँति मानों बहुत थके हुए से थे ॥२॥

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया ॥३॥

अन्वयः—परितः सितैः केशैः कीर्णया जटानां संहत्या इन्दुकरैः पृक्तया सन्ध्यया अह्नः पर्यन्तः इव ॥३॥

अर्थ—चारों ओर से सफेद बालों से व्याप्त जटाजूट से सुशोभित इन्द्र चन्द्रमा की किरणोंयुक्त सन्ध्या से व्याप्त दिन के अवसान की भाँति दिखाई पड़ रहे थे ॥३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः ॥४॥

अन्वयः—विशदभ्रयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्जः ह्रदः इव ॥४॥

अर्थ—वृद्धता के कारण सफेद भौंहों से युक्त झुर्रीदार नेत्रों से वह तुषार की ढेर से मुरझाये हुए मानों कमलदल से व्याप्त सरोवर की भाँति दिखाई पड़ रहे थे ॥४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि।
आघ्नः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ॥५॥

अन्वयः—परिकृशैः अपि आसक्तभरनीकाशैः अङ्गैः आघूनः सद्गृहिण्या इव प्राय. यष्ट्या अवलम्बितः ॥५॥

अर्थ—अत्यन्त दुबले-पतले होने पर भी मानों भारी बोझ से दबे हुए के समान अंगों से वह पत्नी के सहारे उठने-बैठने वाले पेट निकले हुए व्यक्ति की तरह एक लाठी का सहारा लिए हुये थे ॥५॥

टिप्पणी—उपमा और उत्प्रेक्षा का संकर।

गूढोऽपि वपुषा राजन्धाम्ना लोकाभिभावना।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ॥६॥

अन्वयः—वपुषा गूढः अपि तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः अंशुमान् इव लोकाभिभाविना धाम्ना राजन् ॥६॥

अर्थ—प्रच्छन्न रूप धारण करने पर भी हल्के बादलों की रेखा से छिपे हु सूर्य मण्डल की भाँति, सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करने वाले तेज से वह देदी हो रहे थे ॥६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥७॥

अन्वयः—जरतीम् तनुम् बिभ्राणः अपि अप्राकृताकृतिः आक्रान्तलक्ष्मीक आश्रमम् ससाध्वसम् इव चकार ॥७॥

अर्थ—वृद्ध शरीर को धारण करने पर भी अपनी अलौकिक मूर्ति से आश्र की शोभा को फीकी बनाते हुए इन्द्र ने अर्जुन के उस आश्रम को भयभीत-स बना दिया ॥७॥

टिप्पणी—तेजस्वी व्यक्ति के दर्शन से ऐसा भय होता ही है ।

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥८॥

अन्वयः—पृथासूनुः तम् अभितः स्नेहेन परितस्तरे । अविज्ञाते अपि बन्धौ बलात् मनः प्रह्लादते हि ॥८॥

अर्थ—अर्जुन इन्द्र को देखते ही अत्यन्त आदर और स्नेह से भर गये। बन्धु-बान्धवों में सम्बन्ध ज्ञान न होने पर भी दर्शन मात्र से ही (अपने आप) बलात् चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥८॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार ।

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥९॥

अन्वय—अथ सुतात् आतिथेयीं अपचितिम् आसाद्य विष्टरे विश्रम्य न हरिः इति भारतीम् व्याजहार ॥९॥

अर्थ—तदनन्तर अपने पुत्र अर्जुन के अतिथि सत्कार को प्राप्त कर (दिये गये) आसन पर थोड़ी देर तक विश्राम कर इन्द्र इस प्रकार बोले ॥९॥

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तप ।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥१०॥

अन्वयः—त्वया साधु समारम्भि तत् नवे वयसि तपः मादृशः वर्षीयान् अपि प्रायः विषये ह्रियते ॥१०॥

अर्थ—यह तुमने अच्छा कार्य आरम्भ किया है जो यौवन में ही तपस्या कर रहे हो, क्यों कि हमारी तरह बड़े बूढ़े लोग भी प्रायः विषयों से आकृष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

टिप्पणी—अर्थात् जब हम लोगों के समान असमर्थ बूढ़े लोग भी विषय-सुखेच्छा का त्याग नहीं कर सकते तो तुम्हारे समान युवक की तो बात ही क्या है ?

श्रेयसी तव सम्प्राप्ता गुणसम्पदमाकृति ।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥११॥

अन्वयः—तव आकृतिः श्रेयसी गुणसम्पदम् सम्प्राप्ता लोके । रम्यता सुलभा हि गुणार्जनम् दुर्लभम् ॥११॥

अर्थ—तुम्हारा यह सुन्दर शरीर बड़ी उत्तम तपस्या-रूपी गुण-समृद्धियों से युक्त है, (अतः यह सफल है) क्योंकि संसार में सुन्दर आकृति तो बहुत देखी जाती है किन्तु उनमें गुण भी हों, यह दुर्लभ ही होता है ॥११॥

टिप्पणी—तुम में दोनों वस्तुएँ हैं, यह तो सोने में सुगन्ध है । अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार ।

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रिय ।
आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन ॥१२॥

अन्वयः—यौवनश्रियः शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यः विषयाः आपातरम्या, पर्यन्तपरितापिनः ॥१२॥

अर्थ—यौवन-लक्ष्मी शरदऋतु के बादलों की छाया के समान चञ्च होती है, विषय केवल तात्कालिक सुख देनेवाले हैं, किन्तु अन्त में वे बड़ा दु देते हैं ॥१२॥

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्ततापदः
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥१३॥

अन्वयः—सन्ततापदः जन्मिनः अन्तकः पर्यवस्थाता इति त्याज्ये भवे भव्य, जनः मुक्तौ उत्तिष्ठते ॥१३॥

अर्थ—इस ससार में जन्म लेने वालों को सर्वदा दुःख ही दुःख है औ अन्त में मृत्यु तो अवश्यम्भाविनी है (अर्थात् पहले तो अपार जन्मदुःख प्राणी को भोगना पड़ता है, और किसी प्रकार जन्म हुआ तो सारा जीवन दुः मय है, और फिर अन्त में मृत्यु का महान् दुःख फिर उसे भोगना पड़ेगा ही— ऐसा सोचकर इस त्यागने योग्य ससार में (तुम्हारे समान) योग्य पुरुष ब लेकर) मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ॥१३॥

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता ।
विरुद्धः केवलं वेषः सन्देहयति मे मनः ॥१४॥

अन्वयः—चित्तवान् असि, यत् त्वा कल्याणी मतिः उपस्थिता केवल विर वेषः मे मनः सन्देहयति ॥१४॥

अर्थ—तुम प्रशस्त चित्त वाले हो, जो तुम्हें यह कल्याणकारिणी बुद्धि हुई है; किन्तु यह जो तपस्वी के विरुद्ध वेश तुम धारण किए हो, केवल मेरे मन में सन्देह पैदा कर रहा है ॥१४॥

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया ।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥१५॥

अन्वय:—युयुत्सुना इव त्वया किम् इदम् कवचम् आमुक्तम् हि तपस्विनः केवलाजिनवल्कले वसते ॥१५॥

अर्थ—लड़ाई के लिए तैयार योद्धा की तरह तुमने यह कवच किस लिए धारण कर रखा है, क्योंकि तपस्वी तो केवल मृगचर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रपित्सो: किं च ते मुक्ति नि:स्पृहस्य कलेवरे।
महेषुधी धनुर्भीम भूतानामनभिद्रुह: ॥१६॥

अन्वय:—किञ्च मुक्ति प्रपित्सो: कलेवरे नि:स्पृहस्य भूताना अनभिद्रुहः ते महेषुधी भीम धनुः च ॥१६॥

अर्थ—तुम तो मुक्ति के अभिलाषी हो, अपने शरीर के सम्बन्ध में भी नि:स्पृह व जीवमात्र के लिए अहिंसक भावना धारण करनेवाले हो। तब फिर यह दोनों महान् तरकस और यह भयङ्कर धनुष किस लिए धारण किए हो? ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् इन दोनों से तुम्हारी शान्ति-परायणता का प्रमाण नहीं मिलता।

भयङ्कर: प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापर:।
असिस्तव तपस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥१७॥

अन्वय:—मृत्यो अपर भुज इव प्राणभृताम् भयङ्करः असि तपस्थस्य तव शमम् न समर्थयते ॥१७॥

अर्थ—मृत्यु की दूसरी भुजा के समान जीवधारियों के लिए भयङ्कर तुम्हारी यह तलवार तपस्या में निरत तुम्हारे शान्ति-परायण होने का समर्थन नहीं करती ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् शान्तचित्त को भला तलवार से क्या प्रयोजन!

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुक:।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्त: क्वायुधं क्व तपोधना: ॥१८॥

अन्वयः—अत्र भवान् अरातिषु जयम् अभिलाषुकः नूनम् क्रोधलक्ष्म आयु
क क्षमावन्तः तपोधनाः ॥१८॥

अर्थ—निश्चय ही ऐसा मुझे लग रहा है कि प्रशस्त गुणों से युक्त तु
अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के अभिलाषी हो। अन्यथा कहाँ क्रोध
सूचक शस्त्रास्त्र और कहाँ क्षमाशील तपस्वी लोग ? ॥१८॥

टिप्पणी—क्रोध और शान्ति के परस्पर विरोधी होने से शस्त्रास्त्र औ
तपस्या एकत्र नहीं रह सकते। इसलिए मेरा अनुमान है कि तुम शस्त्र धार
करके जो तपस्या में लीन हो, वह केवल शत्रु पर विजय की अभिलाषा से है
मुक्ति की इच्छा से नहीं।

य: करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥१९॥

अन्वयः—यः निःश्रेयसकरीः क्रियाः वधोदर्काः करोति मूढः सः ग्लानिदो
च्छिदः स्वच्छाः अपः पङ्कयति ॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य मुक्ति-फल को देनेवाली तपस्या एवं दानादि क्रियाओं
का अनुष्ठान परकीय हिंसा के लिए करता है, वह मूर्ख मार्ग की थकावट ए
पिपासा को दूर करने वाले निर्मल जल को कीचड़ से गन्दा करता है ॥१९॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥२०॥

अन्वयः—हिंसादेः दोषस्य मूलम् अर्थकामौ मा स्म पुषः हि तौ तत्वावबो
धस्य दुरुच्छेदौ उपप्लवौ ॥२०॥

अर्थ—हिंसा, चोरी, झूठ आदि अवगुणों के मूल कारण अर्थ और काम हैं
अतएव इन दोनों को पुष्ट मत करो, क्योंकि ये दोनों तत्वज्ञान की प्राप्ति में बड़े
ही दुर्निवार विघ्न हैं ॥२०॥

टिप्पणी—अतएव पुरुषार्थ में बाधा पहुँचाने वाले इन दोनों पदार्थों को पुरुषार्थ (मोक्ष प्रयत्न) नहीं कह सकते।

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन्गत्वरीः श्रियः।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥२१॥

अन्वय.—भूतानाम अभिद्रोहेण गत्वरीः श्रियः अर्जयन् उदन्वान् सिन्धूनाम् इव आपदाम् पात्रताम् एति ॥२१॥

अर्थ—प्राणियों की हिंसा करके चञ्चला लक्ष्मी को एकत्र करने वाला मनुष्य ठीक उसी तरह से विपत्तियों का आश्रय बनता है जिस तरह समुद्र नदियों का आश्रय होते है ॥२१॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव सम्पदाम् ॥२२॥

अन्वय.—याः सत्सहायानाम् गम्याः यासु खेदः यतः भयम्, विपदाम् इव तासाम् सम्पदाम् न किम् यत् दुःखाय ॥२२॥

अर्थ—जो सम्पत्ति साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही सुलभ है, जिसके रहने पर उसकी रक्षा आदि का अनेक कष्ट उठाना पड़ता है, जिसके कारण अनेक भय रहते हैं, विपत्तियों के समान उस सम्पत्ति की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो दुःख न देती हो ॥२२॥

टिप्पणी—विपत्तियाँ भी साधन सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा ही दूर होती हैं, खेद और भय तो विपत्ति के फल ही हैं। उपमा अलङ्कार।

दुरासदानरीनुग्रान्धृतेर्विश्वासजन्मनः।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥२३॥

अन्वय.—दुरासदान् विश्वासजन्मनः धृतेः उग्रान् अरीन् भोगान् अहेयान् भोगान् इव अध्यास्य आपत् न दुर्लभा ॥२३॥

अर्थ—दुष्प्राप्य, विश्वास से उत्पन्न सन्तोष रूपी सुख के क्रूर शत्रु धन को, सर्प के फणों के समान प्राप्त करके विपत्तियाँ दुर्लभ नहीं रह जातीं ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् भोग-विलास परायण अथवा धनी पुरुष विपत्तियों छुटकारा कभी नहीं पा सकते।

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥२४॥

अन्वयः—श्रियः जातु अन्तरज्ञाः न आसां प्रियैः न भूयते। मूढाः अमी तासु आसक्ताः हि जन्तवः वामशीलाः ॥२४॥

अर्थ—लक्ष्मी कभी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती। इसका कोई प्रि नहीं है। वे मूर्ख मनुष्य हैं जो अनुरक्त न होने पर भी इसमें आसक्त होते हैं सच है, लोग कुटिल स्वभाव के होते ही हैं ॥२४॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सम्पदः ॥२५॥

अन्वयः—सम्पदः अशीलेषु यत् चञ्चलाः स्तुतिपदे कः अपवादः। क्षुद्राः साधुवृत्तान् अपि विक्षिपन्ति एव ॥२५॥

अर्थ—लक्ष्मी (सम्पत्तियाँ) दुःशील पुरुषों के सम्बन्ध में चञ्चल होती है अतः यदि इसे चञ्चला कहा जाता है तो इसमें निन्दा की कोई बा नहीं है, यह तो उसकी स्तुति योग्यता ही है। किन्तु यह नीच स्वभाव वाल लक्ष्मी सदाचारी लोगों को भी छोड़ देती है—यही उसकी निन्दा का विष है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—इसीलिए अर्थ अर्थात् धन-सम्पत्ति को पुरुषार्थ नहीं क सकते।

[यदि तुम यह कहो कि मैं अर्थ कामना से नहीं वीरधर्म के पालन ह

लिए अपने शत्रु संहार के लिए यह तपस्या कर रहा हूँ तब भी परपीडन के कारण यह अनुचित ही है, क्योंकि—]

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मन. ।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियै. सह ॥२६॥

अन्वय.—अप्रियैः संयोगः इव प्रियैः सह विप्रयोगः अन्यदेहेषु मनः विधुरम् कृतवान् कर्ता च ॥२६॥

अर्थ—अनिष्ट वस्तुओं के संयोग के समान इष्ट वस्तुओं का वियोग अतीत जन्म के शरीर मे मन को दुःखित कर चुका है और भावी शरीर में भी करेगा, (वर्तमान में तो करता ही है, जैसा कि तुम्हें भी अनुभव होगा।)

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि प्रिय का विनाश दु.ख का कारण होता है।

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवै. ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥२७॥

अन्वयः—प्रियसमागमे सति शून्यम् अपि आकीर्णताम् एति व्यसनम् उत्सवैः तुल्यम् विप्रलम्भ. लाभाय ॥२७॥

अर्थ—इष्ट जनों का समागम होने पर रिक्त घर-द्वार भी भरा-पुरा-सा मालूम पड़ता है, विपत्तियाँ भी उत्सव के समान मालूम पड़ने लगती हैं, और वंचना भी लाभदायक होती है ॥२७॥

टिप्पणी—बहुत अधिक क्या कहा जाय इष्ट जनों का समागम सभी अवस्थाओं मे सुखदायक होता है।

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रिया शल्यं तदासव ।
तदैकाकी सबन्धु. सन्निष्टेन रहितो यदा ॥२८॥

अन्वय.—यदा इष्टेन रहित॰ तदा रम्याणि अरम्याणि प्रिया असवः शल्यम् तदा सबन्धु॰ सन् एकाकी ॥२८॥

अर्थ—किन्तु जब इष्ट जनों का वियोग हो जाता है, तब तो रमणीय वस्तुएँ

भी कुरूप मालूम पड़ने लगती हैं, प्रिय प्राण भी कण्टक की तरह दुखाने वाले हो जाते हैं और क्या बन्धु-बान्धवों से घिरे रहने पर भी मनुष्य अपने को अकेला अनुभव करने लगता है ॥२८॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥२९॥

अन्वय.—युक्तः प्रमाद्यसि हितात् अपेतः परितप्यसे पीडा आत्मनः नेष्टा यदि भवता जने मा सञ्जि ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार अपने इष्ट पदार्थों से युक्त होकर यदि तुम प्रसन्नता से खिल उठते हो और उससे वियुक्त होने पर शोक करने लगते हो और इस प्रकार अपने को पीड़ा पहुँचाना तुम्हें इष्ट नहीं है तब फिर उस पीड़ा द्वारा तुम्हें दूसरों को पीड़ित नहीं करना चाहिए ॥२९॥

टिप्पणी—अर्थात् अपनी ही तरह दूसरों को भी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, क्योंकि पीड़ा तो सब को समान दुःख देनेवाली है।

[यह शरीर अनित्य है, इसलिए भी पर-पीड़ा नहीं देनी चाहिए क्योंकि—]

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥३०॥

अन्वय.—अस्य जन्मिनः स्थितिम् लक्ष्मीम् इव चलाचलाम् विद्वान् भवान् न्याय्यम् मास्म वधीत् । हि साधवः न्यायाधाराः ॥३०॥

अर्थ—शरीरधारी इन प्राणियों की स्थिति भी लक्ष्मी के समान चञ्चला है, यह जानते हुए तुम न्याय की हत्या मत करो, क्योंकि सज्जन लोग तो न्याय का ही आश्रय लेते हैं ॥३०॥

टिप्पणी—अर्थात् यदि सज्जन लोग ही न्याय की हत्या करने लगें तो उनमें सज्जनता रह ही नहीं जायगी।

[यदि यह कहो कि तब फिर मुझे क्या करना चाहिए तो मेरी बात सुनो—]

विजहीहि रणोत्साह मा तप. साधु नीनशः ।
उच्छेद जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ॥२१॥

अन्वय.—हे तपोधन ! रणोत्साहम् विजहीहि साधु तप' मा नीनशः जन्मनः उच्छेदम् कर्तुम् शान्तः एधि ॥२१॥

अर्थ—हे तपोधन ! (मेरी सम्मति मे) इस युद्धोद्योग को छोड़ दो, मुक्तिदायिनी अपनी तपस्या को खण्डित मत करो और जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शाति का आश्रय लो अर्थात् विजय की कामना त्याग दो ॥२१॥

[यदि यह कहो कि विजय प्राप्त करने का व्यसन पड़ गया है, उसकी खुजली शान्त नहीं हो सकती तो अपने शरीर के भीतर बैठे हुए शत्रुओं का नाश करके उन पर विजय प्राप्त करो—]

जीयन्ता दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जित ॥२२॥

अन्वय.—दुर्जया. चक्षुरादयः देहे रिपव. जीयन्ताम् । तेषु जितेषु त्वया अय कृत्नः लोक. जितः ननु ॥२२॥

अर्थ—अत्यन्त कठिनता से वश में करने योग्य आँख आदि अपने शरीर में ही विद्यमान शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । क्योंकि उन सब पर विजय प्राप्त कर लेने पर तुम निश्चय ही इस समस्त संसार के विजयी हो जाओगे ॥२२॥

परवानर्थससिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रप. ।
अविधेयेन्द्रिय पुसा गौरिवैति विधेयताम् ॥२३॥

अन्वय.—अविधेयेन्द्रिय. अर्थसंसिद्धौ परवान नीचवृत्ति अपत्रपः गौः इव पुंसाम् विधेयताम् एति ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों का दास है वह स्वार्थ साधन में पराधीन, नीच से भी नीच कर्म करने वाला, निर्लज्ज, बैल की तरह अन्य लोगो की आज्ञा का पालन करनेवाला (नौकर) होता है ॥२३॥

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।
इति स्वप्नोपमान्मत्वा कामान्मा गास्तदङ्गताम् ॥३४॥

अन्वयः—अधुनातनी सुखसंवित्तिः श्वः त्वया स्मरणीया इति कामान् स्वप्नोपमान् मत्वा तदङ्गताम् मा गाः ॥३४॥

अर्थ—तुम इस समय जिस सुख का अनुभव करते हो वही कल याद करने की वस्तु हो जायगा । उसका अनुभव नहीं कर सकोगे—इसलिए इन विषय-सुखों को स्वप्न के समान मानकर उनके वश में मत हो ॥३४॥

[इसलिए भी ये कामादि सुख हेय हैं क्योंकि—]

अश्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥३५॥

अन्वयः—अश्रद्धेयाः विप्रलब्धारः प्रियाः विप्रियकारिणः त्यजन्तः अपि सुदुस्त्यजाः कामाः कष्टाः शत्रवः हि ॥३५॥

अर्थ—श्रद्धा अथवा विश्वास की दृष्टि से देखने पर भी ये विश्वासघाती अथवा वञ्चक होते हैं । प्रीतिपात्र होने पर भी दुःख देनेवाले होते हैं । इन्द्रियों के शिथिलित होने पर ये स्वयं तो छोड़ कर चले जाते हैं किन्तु यदि मनुष्य इन्हें छोड़ना चाहे तो ये कभी नहीं छोड़ते । ये कामादि विषय बड़े कष्टदायक शत्रु हैं ॥३५॥

टिप्पणी—विरोधाभास अलङ्कार ।

[तब फिर क्या करना चाहिए—इस सम्बन्ध में हमारी राय यह है—]

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया ।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः ॥३६॥

अन्वयः—विविक्ते जह्नुकन्यया भूयः प्लाविते अस्मिन् नगे त्वां मुक्तिः पुरा प्रत्यासीदति उदायुधः मा भूः ॥३६॥

अर्थ—इस निर्जन एवं पुण्यसलिला जाह्नवी द्वारा बारम्बार सिञ्चित अथवा पवित्र किए गए इन्द्रकील पर्वत पर मुक्ति स्वयमेव तुम्हारे समीप में अत्यन्त

शीघ्र ही आएगी, तुम शस्त्रधारी मत बनो अर्थात् इन शस्त्रास्त्रों का त्याग कर दो ॥३६॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते ।
वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः ॥३७॥

अन्वयः—मरुताम् पत्यौ इति वाचम् व्याहृत्य अवस्थिते अथ कपिध्वजः प्रश्रयगम्भीरम् वचः उवाच ॥३७॥

अर्थ—इस प्रकार की बातें कहकर जब देवराज इन्द्र चुप हो गए, तब कपि-ध्वज अर्जुन विनय के साथ मधुर वाणी में बोले—॥३७॥

[नीचे के चार श्लोकों में इन्द्र की बातों की प्रशंसा करते हुए अर्जुन ने कहा—]

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम् ॥३८॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥३९॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसम्पत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥४०॥

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः ॥४१॥

अन्वयः—प्रसादरम्यम् ओजस्वि गरीयः लाघवान्वितम् साकांक्षम् अनुपस्कारम् विष्वग्गति निराकुलम् । न्यायनिर्णीतसारत्वात् आगमे निरपेक्षम् इव अन्येषाम् अप्रकम्प्यतया आम्नायवचनोपमम् । अन्यैः जनैः अलङ्घ्यत्वात् क्षुभितोदन्वदूर्जितम् औदार्यात् अर्थसम्पत्तेः ऋषेः चित्तम् इव शान्तम् । इदम् ईदृग्गुणोपेतम् लब्धावसरसाधनम् प्रियम् वाक्यम् कः वक्ता व्याकुर्यात् यः ईदृगाशयः न ॥३८—४१॥

अर्थ—अत्यन्त सरल-सुगम भाषा में मनोहर ढङ्ग से कही गई, समास ब‍हु
लता से ओजस्वी, अर्थगांभीर्य से युक्त, थोड़े वाक्यों में अधिक भाव भरी हुं
परस्पर साकाङ्क्ष पदों से युक्त, अव्याहार से रहित, तात्पर्य से सम्बद्ध सम्पूर्ण अ
का बोध कराने वाली, सकुचित अर्थ से विहीन यह तुम्हारी बातें अनेक युक्ति
से युक्त होने के कारण निर्णीत अर्थों वाली हैं, इन्हें अन्यान्य शास्त्रों से प्रति
पादित करने की आवश्यकता नहीं है, प्रतिवादियों द्वारा भी ये तर्कों द्वारा अखं
नीय होने के कारण वेद वाक्यों के समान हैं। दूसरे लोग इनका उल्लंघन न
कर सकते। क्षुब्ध जल राशि वाले समुद्र के समान गभीर तुम्हारी ये बातें उत्कृ
गुणों से तथा मुक्ति रूप परमपुरुषार्थ से युक्त होने के कारण मुनियों के चि
के समान शान्त हैं। इस प्रकार के उत्तम गुणों से युक्त, उपयुक्त अवसर औ
उपाय के अनुकूल, प्रिय लगनेवाली बातों को कौन वक्ता प्रयोग में ला सकता
जो तुम्हारे समान बुद्धिमान न हो ॥३८-४१॥

[अर्जुन अपनी उपर्युक्त बातों से इन्द्र के प्रति अपने पूज्य भा
को व्यक्त करते हुए यह भी सूचित करना चाहते हैं कि आपने जो कुछ
कहा है, मैं उसे सम्पूर्णतया जानता हूँ किन्तु मैं उस उपदेश का अधिका
नहीं हूँ। क्योंकि]

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥४२॥

अन्वय—तात! अमुष्य यत्नस्य पौर्वापर्यम् ते न ज्ञातम् येन माम् मुनिभि
तुल्यम् धर्मम् शासितुम् इच्छसि ॥४२॥

अर्थ—हे तात! आप को मेरी इस प्रकार की तपस्या के विषय में आरम्
से लेकर अन्त तक कुछ ज्ञात नहीं है, इसीलिए आप मुझे मुनियों के लिए उचि
मोक्ष धर्म का उपदेश करना चाहते हैं ॥४२॥

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥४३॥

अन्वयः—अविज्ञातप्रबन्धस्य वाचस्पते अपि वचः नयद्रुह ईहितम् इव अफलताम् व्रजति एव ॥४३॥

अर्थ—पूर्वापर प्रसङ्ग को बिना जाने हुए बृहस्पति की भी बातें नीति विरुद्ध किए गए उद्योग के समान निष्फल ही होती हैं ॥४३॥

[यदि कहें कि सदुपदेश कभी विफल नहीं होता तो मेरा निवेदन है कि उपयुक्त अवसर के बिना दिया गया उपदेश भी ऊसर भूमि में की गई खेती की तरह निष्फल होता है, क्योंकि]

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम् ।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥४४॥

अन्वयः—तात ! श्रेयसः अपि अस्य ते वचसः रात्रेः विपर्ययः स्फुटतारस्य नभसः इव भाजनम् न अस्मि ॥४४॥

अर्थ—हे तात ! आप की बातें कल्याणदायिनी हैं किन्तु फिर भी मैं उनका पात्र इस प्रकार से नहीं हूँ जिस प्रकार से नक्षत्रों और तारकाओं से चमकते हुए आकाश का पात्र दिन नहीं है ॥४४॥

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः ।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥४५॥

अन्वयः—अहम् क्षत्रियः पाण्डोः तनयः पार्थः धनञ्जयः । दायादैः प्रास्तस्य ज्येष्ठस्य भ्रातुः शासने स्थितः ॥४५॥

अर्थ—मैं क्षत्रिय हूँ । पाडु का कुन्ती से उत्पन्न पुत्र हूँ, मेरा नाम धनञ्जय है, परिवार के लोगों द्वारा राज्य से निकाले गए ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा से मैं यह तपस्या कर रहा हूँ ॥४५॥

टिप्पणी—अर्जुन इन्द्र की शकाओं को निर्मूल करने के लिए तथा अपनी तपस्या के पूर्वप्रसंगों से अवगत कराने के लिए अपना परिचय देते हैं। इन्द्र को आश्चर्य था कि अर्जुन ने तपस्या के समय भी क्यों शस्त्र धारण किया है, उसी का समाधान यह ।यह-प्रश्न करते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ, क्षत्रिय को कभी

अवस्थाओं में शस्त्रास्त्र धारण करना ही चाहिये। क्षत्रिय भी वह उच्च कुल के हैं, पाण्डु के पुत्र हैं। पाण्डु को दो पत्नियाँ थीं, कुन्ती और माद्री। पार्थ कह कर वह स्पष्ट कर देते हैं कि मैं ज्येष्ठ रानी पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र हूँ। कुन्ती के पाँच पुत्र हैं, अतः अपना नाम धनञ्जय बता कर वह संकेत कर रहे हैं कि मैंने ही उत्तर कुरुप्रदेश को जीत कर विपुल धन अर्जित किया था। मैं मोक्ष का अभिलाषी नहीं अपितु विजय का अभिलाषी हूँ, क्योंकि परिवार के व्यक्तियों ने हम सब को राज्य से बहिष्कृत कर दिया है। और आप यदि यह सोचें कि मैं अपने मन से तपस्या करने आया हूँ तो यह भी बात नहीं है क्योंकि मेरे बड़े भाई ने मुझे इस कार्य के लिए आज्ञा दी है। अतः मैं यहाँ आया हूँ, क्योंकि "आज्ञा गुरूणां न विचारणीया।" परिकर अलङ्कार।

कृष्णद्वैपायनादेशाद्बिभर्मि व्रतमीदृशम्।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वत ॥४६॥

अन्वयः—कृष्णद्वैपायनादेशात् ईदृशम् व्रतम् बिभर्मि। स्वाराध्यस्य मरुत्वत भृशम् आराधने यत्तः ॥४६॥

अर्थ—भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की आज्ञा से मैं इस प्रकार के व्रत का अनुष्ठान कर रहा हूँ। सुखपूर्वक आराधना करने योग्य देवराज इन्द्र की प्रसन्नता के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ ॥४६॥

टिप्पणी—इस प्रकार के व्रत से विरुद्ध वेश की ओर अर्जुन का संकेत है। इन्द्र क्षत्रियों के देवता हैं, अतः उनकी आराधना क्षत्रियों के लिए सुख साध्य ही है।

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥४७॥

अन्वय.—दुरक्षान् दीव्यता राज्ञा राज्यम् आत्मा वयम् वधूः पणताम् नीतानि नूनम् भवितव्यता ईदृशी ॥४७॥

अर्थ—कूट बुद्धि वालों के समीप जुआ खेलते हुए राजा युधिष्ठिर ने अपने

सारे राज-पाट, स्वय अपने को, हम सब को तथा पत्नी को भी दाव पर रख दिया। निश्चय ही ऐसी भवितव्यता थी ॥४७॥

टिप्पणी—बुद्धि भवितव्यता के अनुसार ही पलट जाती है, अन्यथा युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा की बुद्धि ऐसी क्यों होती।

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना ।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥४८॥

अन्वयः—अनुजसहायेन तेन द्रौपद्या च मया विना आयामियामासु यामिनीषु भृशम् अभितप्यते ॥४८॥

अर्थ—अपने अनुजों के साथ राजा युधिष्ठिर तथा मेरी प्रियतमा द्रौपदी मेरे बिना लबे लबे प्रहरों से युक्त रात्रियों को अत्यन्त सन्ताप से बिताती हैं ॥४८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मै उन लोगों के लिए यहाँ चिन्तित हूँ उसी प्रकार से वे लोग भी मेरे लिए सन्तप्त होवे हैं, अतः मुझमें वैराग्य भावना कहाँ से उदय हो सकती है।

हृतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतह्रिय. ।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातय· ॥४९॥

अन्वय—अरातय. सभाराम् प्रसभम् हृतोत्तरीयाम् आगतह्रियः नः मर्मच्छिदा वचसा निरतक्षन् ॥४९॥

अर्थ—शत्रुओ ने भरी सभा मे जबर्दस्ती से प्रियतमा द्रौपदी का वस्त्र-हरण देखने वाले अत्यन्त लज्जित हम लोगों को अपने मर्मभेदी वचनों से अत्यन्त व्यथित किया है ॥४९॥

उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसन्निधौ ।
भावमानयने सत्या सत्यङ्कारमिवान्तक. ॥५०॥

अन्वय—अन्तक· गुरुसन्निधौ सत्याः कृष्णाया आनयने भावम् सत्यङ्कारम् इव सपत्नेषु उपाधत्त ॥५०॥

अर्थ—काल ने भीष्म द्रोण आदि गुरुजनों के समक्ष में ही (चीर-केशा
के आकर्षण के लिए) पतिव्रता द्रौपदी को ले आने के (शत्रुओं के) अभिप्रा
को मानों बयाना की तरह मानकर ही शत्रुओं को दिया था ॥५०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मानों काल ने यह सोचकर कि जिस तर
तुम लोग इस अबला को यहाँ भरी सभा में खींच लाए हो उसी तरह मैं भी तु
सब को अपने लोक में ले जाऊँगा। विनाश काल में लोगों की बुद्धि नष्ट
ही जाती है, इसी से इन्होंने ऐसा किया।

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम्।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥५१॥

अन्वय—दुःशासनपुरःसरा ता सभ्याः अभिसायार्कं महातरोः आवृत्त
छायाम् इव क्षणम् ऐक्षन्त ॥५१॥

अर्थ—दुःशासन द्वारा भरी सभा में खींच कर लाई हुई द्रौपदी को, (भीष्म
द्रोणादि) सभासदों ने दिनान्त के सूर्य के सम्मुख स्थित महान् वृक्ष की छाया
भाँति क्षणमात्र के लिए देखा था ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् द्रौपदी की उस समय ऐसी दुर्दशा थी कि सभासद भी
उसे देर तक नहीं देख सकते थे। और देखते हुए भी मध्यस्थता के भङ्ग होने
भय से अन्याय का कुछ प्रतिरोध नहीं कर सकते थे। दुःशासन की उपमा महान
वृक्ष से है, सभासदों की तुलना सूर्य के साथ है और छाया की समानता द्रौपदी
साथ। उपमा अलङ्कार।

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः।
अरुद्ध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥५२॥

अन्वय—अयथार्थक्रियारम्भैः तव पतिभिः ईक्षितैः किम् इतीव बाष्पवारिणा
अस्याः नयने अरुद्ध्येताम् ॥५२॥

अर्थ—पति शब्द का अर्थ है पत्नी की रक्षा करना, विपत्ति से रक्षा न

करने वाले इन पतियों की ओर देखने से कुछ भी फल नहीं मानों यही सोचकर आँसुओं ने द्रौपदी के नेत्रों को रोक लिया था ॥५२॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने पतियों की कायरता से ही मानों द्रौपदी की आँखों में आँसू भर आये थे और उन्हें अपने पतियों की ओर देखने से इसलिए वञ्चित कर दिया था कि उनकी ओर देखना व्यर्थ है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥५३॥

अन्वय—गुणप्रियः ज्यायान् एव नः अन्त्यां दशां सोढवान्। द्विषां भङ्गः सुलभः सत्सु अवाच्यता दुर्लभा हि ॥५३॥

अर्थ—गुणों के प्रेमी हमारे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने ही हम लोगों की इस निकृष्ट दुर्दशा को सहन कर लिया क्योंकि शत्रुओं का विनाश तो अभी भी हो सकता था, किन्तु सत्पुरुषों के बीच में जो अनिन्द्यता थी, वही दुर्लभ थी ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—अर्थात् हमारे बड़े भाई युधिष्ठिर ने ही शत्रुओं के अपकारों की उपेक्षा की, जिससे हमारी यह दुर्दशा हुई है। हम लोग तो उन्हीं के कारण रुके रहे। शत्रु का विनाश तो हम लोग जब चाहेंगे कर लेंगे किन्तु सज्जनों के बीच में जो हमारी अनिन्दा है, वह नष्ट हो जाने पर फिर कभी नहीं मिलने वाली है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

स्थितिव्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ॥५४॥

अन्वय—तोयराशीनां तोयानि मनस्विनां मनांसि च स्थितिव्यतिक्रान्तिभीरूणि आकुलितानि अपि स्वच्छानि ॥५४॥

अर्थ—जलनिधि समुद्रों की जलराशि तथा मनस्वी पुरुषों के चित्त मर्यादा का उल्लंघन करने से भीत होते हैं, वे क्षुब्ध होने पर भी स्वच्छ ही रहते हैं ॥५४॥

टिप्पणी—तुल्ययोगिता अलङ्कार।

[यदि यह कहिए कि युधिष्ठिर तो अजातशत्रु हैं उनसे अपने ही च भाइयों में कैसे द्रोह हो गया तो कहते हैं कि इसका कारण हमारी उन दुज के सग हुई मित्रता ही है—]

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत।
असन्मैत्री हि दोपाय कूलच्छायेव सेविता ॥५५॥

अन्वयः—धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिः अस्मासु वैरम् असूयत हि असन् कूलच्छाया इव सेविता दोपाय ॥५५॥

अर्थ— धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि के सङ्ग की हमारी मित्रता ही हम लं के बीच में शत्रुता की जननी है। क्योंकि दुर्जनों की मित्रता गिरनेवाले नदी· की छाया की भाँति अनर्थकारिणी होती है ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार गिरनेवाले कगार की छाया प्राणहाि होती है उसी प्रकार दुर्जनों की मैत्री भी विनाशकारिणी होती है। दुर्जन ए सज्जनों की भाँति मित्र-द्रोह रूपी पातक को नहीं देखते। उपमा से अनुप्राि अर्थान्तरन्यास अलकार।

[यदि यह कहिये कि पहिले ही से उन सबों के गुणदोषों पर विचार क तब मित्रता करनी चाहिये थी, जिससे यह दुर्दशा न होती, क्योंकि]

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोपयोः।
असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभाव विधेरिव ॥५६॥

अन्वय·—अपवादात् अभीतस्य गुणदोपयो. समस्य असद्वृत्ते अहो विधेः इव दुर्विभावम् ॥५६॥

अर्थ—जन-निन्दा से डरनेवाले एवं गुण तथा अवगुण दोनों में सम निष्ठा रखनेवाले दुराचारी मनुष्यों की चेष्टाएँ दैव की इच्छा अर्थात् भाग्य भाँति जानी नहीं जा सकतीं ॥५६॥

टिप्पणी—अर्थात् कार्य-सम्बन्ध पड़ने पर ही उन्हें जाना जा सकता है।

[यदि यह कहिए कि मानी पुरुष मान-हानि की अपेक्षा प्राण दे देना अच्छा समझता है तो क्या करूँ—]

ध्वंसेत हृदय सद्य: परिभूतस्य मे परै: ।
यद्यमर्ष: प्रतीकार भुजालम्ब न लम्भयेत ॥५७॥

अन्वय.—परैः परिभूतस्य मे हृदय सद्यः ध्वसेत अमर्षः प्रतीकार भुजालम्बं यदि न लम्भयेत् ॥५७॥

अर्थ—शत्रुओं से अपमानित हमारा हृदय शीघ्र ही फट जाता यदि हमारे क्रोध ने प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे हृदय को हाथ का सहारा-सा देकर उसे बचा न लिया होता ॥५७॥

टिपप्णी—अर्थात् हम बदला चुकाने के लिए ही जीवित बचे हैं।

अवधूयारिभिर्नीता हिरणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीम किं पुन सहवासिनाम् ॥५८॥

अन्वयः—अरिभिः अवधूय हरिणै. तुल्यवृत्तिता नीताः अन्योन्यस्य अपि जिह्रीमः सहवासिना पुन. किम् ॥५८॥

अर्थ—शत्रुओं द्वारा पराजित होकर मृगों के समान जीविका निर्वाह करने की स्थिति में पहुँचे हुए हम लोग अपने भाइयों में भी परस्पर लज्जा का अनुभव करते हैं, सहचारियों अर्थात् मित्र-मण्डली के बीच तो कहना ही क्या !

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से मृगादि जगली पशु पत्र-पुष्प फलाहारादि से अपनी जीविका चलाते हैं और मानापमान का ध्यान नहीं रखते उसी प्रकार से हम लोग भी जीविका चलाते हैं।

[इस दुर्दशा का कारण यदि हम लोगों का स्वाभिमान है तब भी हम इसे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि]

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयस. ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गति ॥५९॥

अन्वयः—शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वात् लघीयसः मानहीनस्य जन्मिन तृणस्य च समा गतिः ॥५६॥

अर्थ—स्वाभिमान का परित्याग करने के कारण नम्र तथा दुर्बल एव गौर हीन होने के कारण मान रहित शरीरधारी का तथा तृण का जीवन एक समा है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी— मामूली तृण के समान गर्हित जीवन बिताने से अच्छा य है कि पुरुष अपने स्वाभिमान का त्याग न करे। श्लेष अलकार से अनुप्राणि उपमा अलङ्कार।

[मान के परित्याग में केवल दोप ही नहीं है प्रत्युत मान-रक्षण में अने लाभ भी हैं—]

अलङ्घ्य तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम्।
प्रियतां ज्यायसीं मा गान्महतां केन तुङ्गता ॥६०॥

अन्वयः—महीभृताम् यद् यद् उच्चैः तत्तत् अलङ्घ्यम् उद्वीक्ष्य महता तुङ्ग ज्यायसीं प्रियता केन मागात ॥६०॥

अर्थ—पर्वतों के जो-जो शिखर ऊँचे होते हैं, उनको-उनको अलघनं देखकर महान् पुरुषों की मनस्विता किसे अत्यन्त प्रिय न होगी ? ॥६०॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥६१॥

अन्वयः—तावदेव असौ लक्ष्म्या आश्रीयते तावत् अस्य यशः स्थिर ता पुरुषः यावत् मानात् न हीयते ॥६१॥

अर्थ—तभी तक मनुष्य लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, तभी तक उस यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष है जब तक मान से विहीन न होता है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मानहीन व्यक्ति के लिए ससार सूना है।

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुर.स्थिते ।
नान्यामगुलिमभ्येति सख्यायामुद्यतांगुलि ॥६२॥

अन्वय·—स. पुमान् अर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते सङ्ख्यायाम् उद्यताङ्गुलि. अन्याम् अङ्गुलिं न अभ्येति ॥६२॥

अर्थ—उसी पुरुष का जन्म सार्थक है, जिसका नाम योग्य पुरुषों की गणना के अवसर पर प्रथम अगुली पर आता है, द्वितीय पर नहीं ॥६२॥

दुरासदवनज्यायान्गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधर. ।
न जहाति महौजस्कं मानप्राशुमलङ्घ्यता ॥६३॥

अन्वयः—दुरासदवनज्यायान् तुङ्ग. अपि भूधर· गम्यः महौजस्क मान-प्राशुम् अलङ्घ्यता न जहाति ॥६३॥

अर्थ—दुर्गम घोर जगलो से आकीर्ण अत्यन्त ऊँचा पर्वत भी गम्य हो जाता है किन्तु प्रतापी एव मनस्वी पुरुष की उच्चता अपनी अलंघनीयता कभी नहीं छोड़ती ॥६३॥

टिप्पणी—अर्थात् पर्वत से भी बढ़कर मनस्वी का स्वाभिमान है। व्यतिरेक अलङ्कार।

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा ।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥६४॥

अन्वय —ये वंश्यान् गुरून् कुर्वन्ति ते वसुन्धरा अन्वर्था येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति ॥६४॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने वंशजों की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, उन्हीं से वसुन्धरा सार्थक होती है, जिनके श्वेत यश अपनी निष्कलङ्कता से चन्द्रमण्डल को लज्जित करते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—यश की उपमा श्वेत से दी जाती है, क्योंकि उसे भी निष्कलंक ही होना चाहिए। उपमा अलङ्कार।

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥६५॥

अन्वय.—यैः अमर्षः शुष्के अशनिः इव अरातिषु पात्यते मनस्विना प्रथमे ते आशीःषु उदाहरणम् ॥६५॥

अर्थ—जो लोग अपने अमर्ष को शुष्क काष्ठादि में वज्रपात की भाँति शत्रुओं पर प्रयुक्त करते हैं वे ही मनस्वी पुरुषों में पथम हैं और वे ही पुरुष मात्र को किस प्रकार का होना चाहिये, इस बात के उदाहरण हैं ॥६५॥

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन्विविक्तं ब्रह्मण. पदम् ॥६६॥

अन्वय.—उदन्वद्वीचिचञ्चल सुखम् न प्रार्थये अर्थञ्च न अनित्यताशनेः त्रस्यन् विविक्त ब्रह्मण' पद न ॥६६॥

अर्थ—मैं समुद्र की तरङ्गों के समान चञ्चल सुख की कामना नहीं करता और न धन की ही कामना मुझे है। यही नहीं, विनाश रूपी वज्र से भयभीत होकर निर्बाध ब्रह्म पद अर्थात् मोक्ष की भी कामना मुझे नहीं हे ॥६६॥

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥६७॥

अन्वयः—छद्मना कृतम् अयशःपङ्क वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः प्रमार्ष्टुम् इच्छेयम् ॥६७॥

अर्थ—किन्तु मेरी इच्छा यही है कि शत्रुओं के छल से जो अपयश का कीचड़ हमें लगा है उसे (उन्हीं) शत्रुओं की विधवा स्त्रियों के वैधव्य-सन्ताप से निकले हुए अश्रुजल से धो डालूँ ॥६७॥

अपहस्येऽथवा सद्भि प्रमादो वास्तु मे धिय ।
अस्थानविहितायास. काम जिहेतु मा भवान ॥६८॥

अन्वय.—सद्भिः अपहस्ये अथवा मे धिय' प्रमाद. वा अस्तु भवान् अस्थानविहितायास. काम मा जिहेतु ॥६८॥

अर्थ—सज्जन लोग चाहे मेरा उपहास करें अथवा मेरी बुद्धि भ्रान्त हो जाय अथवा मुझ जैसे अयोग्य पात्र में मोक्ष के उपदेश का प्रयत्न निष्फल होने से आप लज्जित ही हों (किन्तु) ॥६८॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥६९॥

अन्वय.—अहं विद्विषां समुच्छेदेन वंशलक्ष्मीम् अनुद्धृत्य निर्वाणम् अपि जयश्रियः अन्तरायं मन्ये ॥६९॥

अर्थ—मैं तो अपने शत्रुओं का संहार करके अपनी वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त राज्य-लक्ष्मी का उद्धार किये बिना मुक्ति को भी विजयश्री की प्राप्ति में बाधक ही मानता हूँ ।

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥७०॥

अन्वय —पुरुषः यावत् अरिभिः विलुप्तं यशः इषुभिः न आदत्ते तावत् अजन्मा गतासुः तृणम् एव वा ॥७०॥

अर्थ—मनुष्य जब तक शत्रुओं द्वारा विलुप्त अपने यश को अपने बाणों से पुनः नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह ऐसा है जैसे संसार में जन्म ही न लिया हो, मृतक-सा हो अथवा तिनके से भी गया बीता हो ॥७०॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन्ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥७१॥

अन्वय —तपोधन ! त्वं हि ब्रूहि यस्य अमर्षः द्विषताम् अनिर्जयेन प्रशाम्यति तस्मिन् पुरुषोक्तिः कथम् ॥७१॥

अर्थ—हे तपोधन ! आप ही बतलाइये कि जिस मनुष्य का क्रोध शत्रु का निर्मूलन किये बिना ही शान्त हो जाता है, उसे पुरुष कैसे कहा जा सकता है ॥ ७१ ॥

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥७२॥

अन्वय.—जातिमात्रावलम्बिना पुरुषशब्देन कृतम् अङ्गीकृतगुणैः यः श्लाघ सविस्मयम् उदाहृतः ॥७२॥

अर्थ—पुरुषत्व जाति मात्र में प्रयुक्त होने वाले पुरुष शब्द से कुछ नहीं हो सकता (क्योंकि पशु आदि जीवों में भी तो पुरुष जाति रहती ही है अतः सच्चा पुरुष तो वही है) जो गुणग्राहियों द्वारा प्रशंसित हो और शीघ्रता भी।जिसका आदर्श रूप में उल्लेख किया जा सके ॥७२॥

असमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥७३॥

अन्वयः—सदसा गौरवेरितम् ओजांसि असमानम् इव यस्य नाम द्विषः अ अभिनन्दन्ति सः पुमान् पुमान् ॥७३॥

अर्थ—सभा एवं गोष्ठी आदि में गौरवपूर्वक लिया गया एवं सुनने व के तेज को ग्रसता हुआ जिसका नाम शत्रुओं द्वारा भी अभिनन्दनीय हो, पुरुष पुरुष है ॥७३॥

टिप्पणी—अर्थात् वही मनस्वी पुरुषों में गणनीय है । लाटानु अलङ्कार ।

[यदि यह कहें कि भीम आदि के रहते हुए तुमको ही शत्रुओं से ब चुकाने की इतनी चिन्ता क्यों है तो—]

यथाप्रतिज्ञ द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥७४॥

अन्वय—नृपतिः यथाप्रतिज्ञ युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया तृष्यन् जला इव मम एव अध्येति ॥७४॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुओं से बदला चु के लिए उसी प्रकार से मेरा ही स्मरण करते हैं जिस प्रकार से तृषार्त व्यक्ति की अञ्जलि का स्मरण करता है ॥७४॥

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम्।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥७५॥

अन्वय.—सः अवदातस्य वंशस्य शशाङ्कस्य इव लाञ्छनम् यत्र कृच्छ्रेषु भर्तुः आज्ञया व्यर्थया भूयते ॥७५॥

अर्थ—वह व्यक्ति अपने निर्मल वंश के चन्द्रमा के कलङ्क के समान कलङ्क है जो आपत्ति के समय गृह-स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता ॥७५॥

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥७६॥

अन्वय:—धर्मरोधिनी अर्वाक् मुनिता कथं वा आदीयताम् पूर्वैः आश्रमानुक्रमः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥७६॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम से पहिले ही इस धर्मविरोधिनी वानप्रस्थाश्रम की वृत्ति का आप मुझे क्यों उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि मनुस्मृति धर्मशास्त्रकारों ने तो चारों आश्रमों का उपदेश क्रमानुसार ही किया है, व्यतिक्रम से नहीं किया है ॥७६॥

[यदि आप यह कहें कि मैं गृहस्थ हूं, इसके बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना क्रमानुसार ही है तो मैं कहूँगा कि उसी गृहस्थ को वानप्रस्थ में प्रविष्ट होने का अधिकार है जो गृहस्थ धर्म का पूर्णतया पालन कर चुका हो, मैं तो अभी गृहस्थ धर्म के अनेक आचरणों का पालन नहीं कर सका हूँ, क्योंकि—]

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृप. ॥७७॥

अन्वय —आसक्ता रूढा इयं धूः, दूरगा जननी च, नृप आचारवान् ज्यायान् च मे स्वातन्त्र्यम् तिरस्करोति ॥७७॥

अर्थ—शत्रु से बदला चुकाने का यह गुरु भार कन्धे पर है, इस समय मेरी माता दूर हैं एवं मेरे आचारनिष्ठ ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर हैं—ये तीनों मेरी स्वतन्त्रता को दूर करने वाले हैं ॥७७॥

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥७८॥

अन्वयः—मानशालिनः स्वधर्मम् अनुरुन्धन्ते न अतिक्रमम् अरातिभिः कृतध्वसाः आहवान् न पलायन्ते ॥७८॥

अर्थ—मानी लोग अपने धर्म का अनुसरण करते हैं, उसका उल्लङ्घन नहीं करते। शत्रुओं से अपकृत पुरुष युद्ध से पलायन नहीं करते ॥७८॥

टिप्पणी—वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

[अधिक क्या कहूँ मेरा तो यही निश्चय है, कि—]

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥७९॥

अन्वयः—विच्छिन्नाभ्रविलायम् नगमूर्धनि विलीये वा सहस्राक्षम् आराध्य अयशः शल्यम् उद्धरे ॥७९॥

अर्थ—वायु से छिन्न भिन्न होकर जिस प्रकार बादल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत पर या तो विलीन हो जाऊँगा या इन्द्र की सम्यक् आराधना कर अपने अपयश-रूपी कण्टक का उद्धार करूँगा ॥७९॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥८०॥

अन्वयः—मघवा इति उक्तवन्तम् तनूजम् आविष्कृतदिव्यमूर्तिः दोर्भ्यां परिरभ्य विभूत्यै अघोपघातं भवोद्भवाराधनम् आदिदेश ॥८०॥

अर्थ—देवराज इन्द्र ने अपने दिव्य रूप को प्रकट करके इस प्रकार की बातें करते हुए अपने पुत्र को दोनों बाहुओं से आलिगन करके अभीष्ट सिद्धि के लिए सम्पूर्ण दुःखों को नाश करने वाली इस संसार के आदिकारण शिव जी की आराधना करने का उपदेश किया ॥८०॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै-
र्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।

लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषा-
मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

अन्वयः—पिनाकिनि प्रीते लोकपालैः सह मया लोकत्रये अपि विहितप्रतिवार्यवीर्यः परेषा लक्ष्मीम् भृशम् समुत्सुकयिता असि इति वाचम् उच्चार्य तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

अर्थ—शिव जी के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान करूँगा, जिसका निवारण तीनों लोकों में नहीं हो सकता, उसके प्रभाव से तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को अपनी ओर समुत्कण्ठित कर लोगे—ऐसी बातें कहते हुए देवराज इन्द्र (वहीं) अन्तर्धान हो गए ॥८१॥

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।
क्लान्तिरहितमभिराधयितु विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः ॥१॥

अन्वयः—अथ रुचिरवदनः धनञ्जयः वासवस्य वचनेन त्रिलोचन क्लान्ति रहितम् अभिराधयितु तपांसि विधिवत् विदधे ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अपने पिता इन्द्र के साक्षात्कार से सन्तुष्ट होने के कार प्रसन्नमुख अर्जुन इन्द्र के उपदेशानुसार श्रान्तिरहित हो शकर जी को प्रस करने के लिए शास्त्रीय विधि से तपस्या करने में लग गये ॥१॥

टिप्पणी—इस सर्ग में उद्गता छन्द है।

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुपः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥२॥

अन्वयः—अभिरश्मिमालि भुवि एकचरणम् निषीदतः विमलस्य धृतज धृतेः अनाशुषः तस्य बहुतिथाः तिथयः प्रतिजग्मुः ॥२॥

अर्थ—सूर्य के अभिमुख होकर पृथ्वी पर एक चरण से खड़े हुए भीत बाहर विशुद्ध एव जय की कामना से युक्त निराहार अर्जुन को तपस्या करते हु अनेक तिथियाँ बीत गयीं ॥२॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः ।
व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥३॥

अन्वय —पाण्डवः सततम् वपुरिन्द्रियोपतपनेषु असुखेषु नगपतिः इव स्थि- रताम् व्याप । हि महताम् धैर्यम् अविभाव्यवैभवम ॥३॥

अर्थ—अर्जुन निरन्तर शरीर और इन्द्रियों को सन्तप्त करने वाले अनशन

आदि दुःखों को सहन करते हुए हिमालय की भाँति स्थिर बने रहे। क्यों न हो, महान पुरुषों के धर्म को कोई जान नहीं सकता ॥३॥

न पपात सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम्।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम् ॥४॥

अन्वय.—तस्य मानसम् सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु शुचिनि शिशिरे पयसि च न पपात। हि सुकर्म्मणाम् सुतपः अमृतायते ॥४॥

अर्थ—अर्जुन का मन समीप ही स्थित सुगंधयुक्त फलों में एवं स्वच्छ शीतल जल में भी नहीं आसक्त होता था। क्यों न हो पुण्यकर्मा लोगों का उत्तम तप ही अमृत के समान होता है ॥४॥

न विसिस्मिये न विषसाद मुहुरलसतां न चाददे।
सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हतः स्म तस्य हतशक्तिपेलवे ॥५॥

अन्वयः—सः न विसिस्मिये न विषसाद। मुहुः अलसताम् च न आददे हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी उरुधृति तस्य सत्त्वम् न हतः स्म ॥५॥

अर्थ—अर्जुन कभी यह सोचकर विस्मित नहीं होते थे कि—अहो मैंने प्रचण्ड तपस्या की और इसके लिए कभी विषाद नहीं किया कि मेरी तपस्या का अभी तक कोई फल नहीं मिला। तपस्या करने में उन्होंने कभी आलस्य भी नहीं किया। निस्तेज होने के कारण नश्वर रजस् एवं तमोगुण उस महान् धैर्यशाली के पराक्रम को कभी विचलित नहीं कर सके ॥५॥

तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम्।
त्रासजननमपि तत्त्वविदां किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ॥६॥

अन्वय.—सः तपसा कृशं विजितजगत्त्रयोदयं तत्त्वविदां अपि त्रासजननम् वपु उवाह यत् मनस्विभिः सुकरं किम् इव न अस्ति ॥६॥

अर्थ—अर्जुन का शरीर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश हो गया था तब भी उन्होंने तीनों लोक के उत्कर्ष को जीत लिया था। उस शरीर को देखने से

तत्त्वज्ञ लोग भी भयभीत हो जाते थे। सच है, मनस्वी पुरुषों के लिए जो सका न हो, ऐसा संसार में कौन-सा कार्य है ॥६॥

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधे.।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः ॥७॥

अन्वयः—विजयी सः अनुनिशीथ ज्वलतः अनलात् अधिकरुचिः अम्भसा निधेः धैर्य्यगुणम् अवजयन् शैलतः समुन्नततरः ददृशे ॥७॥

अर्थ—विजयी अर्जुन आधी रात के समय जलती हुई अग्नि से भी अधिक तेजस्वी एव जलनिधि समुद्र की गभीरता को भी तिरस्कृत करते हुए पर्वत से भी अधिक ऊँचे दिखाई पड़ने लगे ॥७॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार।

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभि ।
तस्य दशनकिरणै. शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम् ॥८॥

अन्वय —सदा उपाशुः जप जपतः तस्य वदनम् अभितः विसारिभिः दशनकिरणैः परिवेषभीषणम् अर्कमण्डलम् इव शुशुभे ॥८॥

अर्थ—सर्वदा एकान्त में धीरे-धीरे मन्त्र-जप करते हुए अर्जुन का मुखमंड चारों ओर से फैली हुई दाँतों की श्वेत किरणों द्वारा परिधि से भयकर सूर्य-मंड की भाँति शोभायमान हो रहा था ॥८॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुः परिवीतभीमगहनो विदिद्युते ॥९॥

अन्वय.—कवचम् बिभ्रत् उपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः सः महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनः शैलपति. इव विदिद्युते ॥९॥

अर्थ—कवच धारण किये हुए एव यज्ञोपवीत के स्थान पर प्रत्यञ्चा सहित धनुष धारण किये हुए अर्जुन इन्द्र धनुष से परिवेष्टित एव घने दुर्गम वनों से व्याप्त हिमालय की भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥९॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छत. ।
तस्य पदविनमितो हिमवान्गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहति. ॥१०॥

अन्वयः—नियमसवनाय कृशस्य गच्छतः तस्य पदविनमित. हिमवान गाम् प्रविवेश। गुणाः गुरुता नयन्ति हि सहतिः न ॥१०॥

अर्थ—विधिविहित स्नान के लिए जाते हुए दुर्बलाङ्ग अर्जुन के चरणों के भार से नीचे की ओर दबता हुआ हिमालय धरती मे धँसता-सा प्रतीत हो रहा था। सच है, आन्तरिक शक्ति से ही गुरुता (वजन) अधिक होती है, बाहरी स्थूलता से नहीं ॥१०॥

परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम् ।
ज्योतिरुपरि शिरसो वितत जगृहे निजान्मुनिदिवौकसा पथ. ॥११॥

अन्वयः—उद्यतभुजस्य शिरस उपरि वितत भुवनविवरे परिकीर्णं दुरासद ज्योतिः मुनिदिवौकसा निजान् पथः जगृहे ॥११॥

अर्थ—ऊर्ध्व बाहु होकर तपस्या में निरत अर्जुन के शिर के ऊपर विस्तृत, आकाश और पृथ्वी मडल के अन्तराल में व्याप्त एक दुर्द्धर्ष तेज ने देवताओं और मुनियों के लिए नियत मार्गों को अवरुद्ध कर दिया था ॥११॥

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभिः ।
भिन्नतिमिरनिकरं न जहे शशिरश्मिसङ्गमयुजा नभःश्रिया ॥१२॥

अन्वय.—बहुलसमये अपि रजनीषु राजतनयस्य धामभिः भिन्नतिमिरनिकर नभ शशिरश्मिसङ्गमयुजा श्रिया न जहे ॥१२॥

अर्थ—कृष्णपक्ष में भी रात्रि के समय राजपुत्र अर्जुन के तेज से आकाश मडल का अन्धकार नष्ट हो गया था अतएव चन्द्रमा की चाँदनी श्री ने उस आकाश का त्याग नहीं किया ॥१२॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि कृष्णपक्ष मे भी इन्द्रकील के उस शिखर पर अर्जुन के तेज से आकाश प्रकाशयुक्त रहता था। निदर्शना अलङ्कार ।

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना ।
ह्रीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः ॥१३॥

अन्वयः—जिष्णुजन्मना महता मयूखनिचयेन शमितरुचि अंशुमालिनः ह्रीतम् इव वीतमले नभसि न विराजते स्म ॥१३॥

अर्थ—अर्जुन के शरीर से निकलने वाली तेज की किरण-मालाओं से प्रभ सूर्य नारायण का मडल मानों लज्जिता-सा होकर निर्मल आकाश में सुशोभित नहीं हो रहा था ॥१३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जना ।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरी. पुरी· ॥१४॥

अन्वयः—उदीरितारुणजटांशुम् अधिगुणशरासन त जनाः आसुरी. मिमन्थिषुम् अनुदितललाटदृश रुद्रम् इव ददृशुः ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन की अरुण वर्ण की जटाओं से तेज की किरणें निकल थीं, और उनके धनुष पर प्रत्यञ्चा खिंची हुई थी। उस समय उन्हें लो दानवों के नगर (त्रिपुर) को विध्वस करने के इच्छुक उन शकर भगवा समान देखा, जिनके ललाट पर तीसरा नेत्र न खुला हो ॥१४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से उपमा अलङ्कार की ध्वनि ।

मरुता पति· स्विदहिमांशुरुत पृथुशिख शिखी तप ।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवयये स तापसै ॥१५॥

अन्वय—मरुता पति स्वित् अहिमांशु. उत पृथुशिखः शिखी अ तपः तप्तुम् उपक्रमते अय जन न । सः तापसै इति अवयये ॥१५॥

अर्थ—वे इन्द्र हैं अथवा सूर्य हैं अथवा विकराल ज्वाल मालाओं से पित अग्नि देव हैं, जो कठोर तपस्या के लिए प्रस्तुत हैं ? यह कोई साधारण नहीं है ? इस प्रकार वहाँ के तपस्वी जनों ने अर्जुन के सम्बन्ध में जाना

टिप्पणी—अपह्नव अलङ्कार ।

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।
न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥१६॥

अन्वयः—दूरग हरितनयधाम भूरुहवनानि न ददाह । अपः परिशोष न नयति स्म । सिद्धतापसैः सुसह न बभूव ॥१६॥

अर्थ—इन्द्रपुत्र अर्जुन के सर्वत्र व्याप्त तेज ने वृक्षों के समूहों को नहीं जलाया, और न वहाँ के जलाशयों की जलराशि का ही शोषण किया, किन्तु (फिर भी) वहाँ पर स्थित सिद्धों और तपस्वी जनों के लिए वह असहनीय हो गया ॥१६॥

टिप्पणी—विरोधाभास अलङ्कार ।

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव ।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥१७॥

अन्वयः—अथ विनयं गुणा इव अपनयभिद विवेक नया इव न्यायम् अवधय इव अशरणाः महर्षयः शिव शरण ययुः ॥१७॥

अर्थ—तदनन्तर औदार्य शान्ति आदि गुण जिस प्रकार से विनय के समीप, नीति जिस प्रकार से दुर्नीति निवारक विवेक के समीप, एव अवधि (निर्दिष्ट समय) जिस प्रकार से प्रमाण के समीप जाती है, उसी प्रकार से (अर्जुन के तपः तेज से आतङ्कित) अशरण महर्षि गण भगवान शङ्कर की शरण में पहुँचे ॥१७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

परिवीतमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः ।
शम्भुमुपहतदृशः सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे ॥१८॥

अन्वयः—उदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः अंशुभिः परिवीतं शम्भुम् उपहतदृशः ते (महर्षयः) सहसा निचायितु नाभिप्रसेहिरे ॥१८॥

अर्थ—सूर्य के तेजस्वी किरण मंडल को भी तिरस्कृत करनेवाले तेजःपुञ्ज से चारों ओर परिव्याप्त भगवान् शङ्कर को देखकर आँखों के चकाचौंध हो जाने से वे महर्षि गण सहसा उन्हें देख नहीं सके ॥१८॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः ।
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ भूतभव्यभवदीशम् अभिमुखयितु कृतस्तवा तत्रमहसि क
विग्रहम् अयुग्मलोचन पुरुष ददृशुः ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान—तीनों कालों के अ
देवदेव शकर को अपनी ओर अभिमुख करने के लिए स्तुति करते हुए म
ने उक्त तेजोमण्डल में विराजमान मनोहरमूर्ति त्रिलोचन भगवान् शक
देखा ॥१९॥

[नीचे के पाँच श्लोकों द्वारा भगवान् शकर का वर्णन है—]

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥२१॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥२२

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारि शशिधाम बिभ्रतम् ॥२

अन्वय.—अकृशपरिणाहशालिनि वृषस्य ककुदे आर्द्रचन्दने उमाकु
मण्डल इव कृतबाहु स्पर्शसुखम् अनुभवन्तम्, उन्नते तुहिनशैलशिरसि स्थितम्
तिवर्तिना ओजसा साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिक् विश्वम् अश्नुवानमिव,
जानुमध्यम् अवसक्तविततवपुषा महाहिना अधिवेष्टितम् रवितेजसाम्
धिना भूमिभृता अखिल लोकमिव स्थितम्, तुहिनराशिविशदम् उप
त्रतां नीतम् उरगम् अनुरञ्जयता परिणाहिना विलसन्मरीचिना शितिना

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदम् अवरुद्धमूर्धजम् सुरसरित् पयसा शेषमिव विसारि शशिधाम शिरसा बिभ्रतम् ॥२०-२४॥

अर्थ—पार्वती के गीले चन्दन से अनुलिप्त दोनों स्तनमंडलों के समान विशाल एवं पुष्ट वृषभ (नन्दीश्वर) के ककुद पर अपने हाथों को रख कर (शिवजी) स्पर्श सुख का अनुभव कर रहे थे। हिमालय के किसी शिखर पर स्थित होने पर भी मानों सम्पूर्ण भुवन को अतिक्रमण करने वाली अपनी तेजोराशि से पर्वतों, समुद्रों और बादलों के मार्गों (आकाशमंडल) तथा दशों दिशाओं समेत सम्पूर्ण विश्व को वे व्याप्त कर रहे थे। उस समय वह दोनों जानुओं के मध्यभाग में भीषणकाय सर्पराज से वेष्ठित होकर सूर्य के प्रकाश के सीमाभूत लोकालोक पर्वत के द्वारा अधिवेष्टित सम्पूर्ण विश्व की तरह शोभायमान थे। तुषारराशि के समान श्वेत-शुभ्र भुजगराज को, जो उनके (शङ्कर के) यज्ञोपवीत के स्थान पर था, कृष्ण वर्ण को बनाने वाली एवं परिस्फुरित लंबी किरणों से सुशोभित नीले कंठ से वह अतीव शोभा पा रहे थे। मालती के पुष्पों के समान शुद्ध कपालरूपी कुमुद को अभिषिक्त करने वाली चन्द्रमा की किरणों को, जो उनकी पिंगल वर्ण की जटाओं को व्याप्त करके चारों ओर फैल रही थी, उन्होंने गंगा जल के अवशिष्ट भाग के समान शिर पर धारण कर रखा था ॥२०-२४॥

टिप्पणी—नन्दीश्वर के ककुद का स्पर्श पार्वती के स्तन-स्पर्श के समान सुखदायी था। प्रथम श्लोक में उपमा अलङ्कार है, द्वितीय में उत्प्रेक्षा, तृतीय में उपमा, चतुर्थ में तद्गुण तथा पाँचवें में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥२५॥

अन्वयः—ततः मुनयः अभिमुखम् एत्य नयनविनिमेषनोदिताः पाण्डुतनयतपसा जनितम् जगताम् अशर्म भृशम् आचचक्षिरे ॥२५॥

अर्थ—तदनन्तर मुनियों ने शंकर जी के सम्मुख पहुँचकर, आँख के इशारे से सब संकेत समझकर पाण्डुपुत्र अर्जुन की तपस्या से उत्पन्न संसार के कष्टों को (उनसे) भलीभाँति कह सुनाया ॥२५॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति।
ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥२६॥

अन्वय.—हे भुवनैकपुरुष ! वृत्रः इव भीमविग्रहः कोऽपि पुरुषः तरसा ८ अमलवपुष. रवेः अपि ज्योतिः अभिभूय तपस्यति ॥२६॥

अर्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ ! वृत्रासुर के समान भीषण शरीर वाला न जाने कै एक पुरुष बड़े पराक्रम एव हठ से प्रकाशमूर्ति सूर्य के भी तेज को तिरस्कृत क हुए तपस्या कर रहा है ॥२६॥

स धनुर्महेषुधि बिभर्ति कवचमसिमुत्तमं जटाः।
वल्कमजिनमिति चित्रमिद मुनिताविरोधि न च नास्य राजते ॥२७

अन्वयः—सः महेषुधि धनुः कवचम् उत्तमम् असिम् जटाः वल्कम अजि नम् च बिभर्ति इदम् मुनिताविरोधि अस्य न राजते इति न ॥२७॥

अर्थ—वह तपस्वी पुरुष दो विशाल तरकस, धनुष, कवच, उत्तम खड् जटा, वल्कल, और मृगचर्म इन सब वस्तुओं को धारण कर तपस्या रहा है। यद्यपि ये सब चीजें मुनिधर्म-विरोधिनी हैं, तथापि उसे ये शोभा न देती ऐसी बात नहीं है, (प्रत्युत इनसे उसकी और अधिक शोभा होती है, य आश्चर्य है।) ॥२७॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम्।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम् ॥२८॥

अन्वय.—तस्य चलने अवनिः चलति करणनियमे सदिङ्मुखम् शान्तमरु ग्रहतारकागणयुतम् नभस्तलम् स्तम्भम् अनुभवति ॥२८॥

अर्थ—उसके चलने से धरती चलने लगती है, और उसके समाधि होने पर एव इन्द्रियों का निरोध होने पर दिशाओं समेत प्रशान्त वायु एव ग्र नक्षत्रों से युक्त आकाश मण्डल भी निश्चलता का अनुभव करता है ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् उसकी श्वास रुक जाने से समस्त विश्व की गति रु

जाती है। इससे ज्ञात होता है कि उस तपस्वी की शक्ति समस्त विश्व में श्रेष्ठ है।

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम्।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥२६॥

अन्वयः—सः ओजसा विजितसारम् अमरदितिजोपसंहितम् तत् इदम् विश्वम् पुरा अपि दधाति। यत् तपसाम् अदुष्करम् तत् किमिव अस्ति न ॥२६॥

अर्थ—वह तपस्वी अपने अदम्य तेज से सुरासुर समेत इस निखिल विश्व को निस्सार बना कर इसका शीघ्र ही आच्छादन अथवा हरण कर लेगा। क्योंकि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तपस्या द्वारा दुष्कर हो ॥२६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ सञ्जिहीर्षति वि।
प्राप्तुमभवमभिवांछति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुचः ॥३०॥

अन्वय.—जगन्ति युगपत् विजिगीषते यदि अथ सञ्जिहीर्षति अभवम् प्राप्तुम् अभिवाञ्छति वा वयम् अस्य रुचः विषहितुम् नो क्षमा ॥३०॥

अर्थ—वह तपस्वी तीनों लोकों को या तो एक साथ जीतना चाहता है या तीनों लोकों का एक साथ ही संहार करना चाहता है अथवा अपवर्ग (मुक्ति) प्राप्त करना चाहता है। (ऐसा हमें कुछ भी नहीं ज्ञात है, किन्तु कुछ भी हो) हम लोग उसके तेज को सहन करने में असमर्थ हो रहे हैं ॥३०॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ ! तव विदित न किञ्चन।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभव ॥३१॥

अन्वयः—नाथ ! किम् उपेक्षसे कथय तव न विदितम् न किञ्चन अभयद ! नः अलम् त्रातुम् अर्हसि। त्वयि शासति पराभवः मा स्म भवत् ॥३१॥

अर्थ—हे नाथ ! आप उसकी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं, कहिये क्या कारण है ? आप से तो कुछ भी अज्ञात नहीं है। हे अभयदान कर्त्ता ! आप हम लोगों

की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं। आप के शासक रहते हुये हम लोगों का
नहीं हो सकता ॥२१॥

इति गां विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ॥२२॥

अन्वय.—इति गाम् विधाय मुनिषु अन्धकान्तकः दिशा विवरम् ध्वनय
भिन्नजलधिजलनादगुरु वचनम् समाददे ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार की प्रार्थना करके मुनियों के चुप हो जाने पर अन्धका
के शत्रु शङ्करजी दिशाओं के अन्तराल अर्थात् आकाश मण्डल को अपनी ध्व
से पूर्ण करते हुए क्षुब्ध समुद्र के जलनाद के समान गभीर वाणी में बोले ।२

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम् ॥२३॥

अन्वयः—बदरीतपोवननिवासनिरतम् गा गतम् जगताम् उदयनिधने ध
आदिपुरुषस्य अंशम् नरम् अन्यथा मा अवगात ॥२३॥

अर्थ—बदरिकाश्रम के तपोवन में निवास करनेवाले, जगत की सृष्टि
संहार के कर्त्ता विष्णु के अंशभूत उस तपस्वी को नर (अर्थात् नारायण
अवतार ही) समझो, उसे कोई दूसरा साधारण तपस्वी मत मानो ॥२३॥

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ॥२४॥

अन्वयः—एष. सकलभुवनाभितापिनः क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान् द्वि
परासिसिषु मदुपासनं महत्तप विहितवान् ॥२४॥

अर्थ—वह सम्पूर्ण लोक को दुःख देने वाले, इन्द्र की शक्ति
सेना को तृण के समान समझने वाले अपने दुर्दान्त शत्रुओं को पराजित
की कामना से मेरी उपासना के रूप में यह घोर तपस्या कर रहा है ॥२४॥

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजाः ।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ॥३५॥

अन्वय —विभूः अयम् अच्युतः च सरसिरुहजन्मनः वचनेन असुरनिधनेन प्रजाः पातुम् भुवम् अभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ॥३५॥

अर्थ—यह परम शक्ति सम्पन्न तपस्वी तथा भगवान श्री कृष्ण दोनों ही भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्रजा की रक्षा के लिए इस धरती पर मनुष्य योनि में जन्म लेकर निवास कर रहे हैं ॥३५॥

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः ।
हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ॥३६॥

अन्वय—मूकदानवः एतत् सुरकृत्यम् इति निपुणम् अवगम्य पाण्डुसुतम् हन्तुम् अभिपतति तत् अत्र मया सह त्वरया गम्यताम् ॥३६॥

अर्थ—मूक नामक एक कोई दानव (अर्जुन की) इस तपस्या को देवताओं का कार्य है—ऐसा भली भाँति समझकर पाण्डुपुत्र को मारने के लिए जा रहा है, तो आप लोग शीघ्रता से हमारे साथ ही वहाँ (देखने के लिए) चलें ॥३६॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन् ।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ॥३७॥

अन्वय—पापनिरतिः एषः विवरे अपि एनम् अनिगूढम् अभिभवितुम् न पारयन् अविशङ्कितया वराहमायया विजयम् व्यवस्यति ॥३७॥

अर्थ—यह पापी (मूक दानव) एकान्त स्थान पाने पर भी प्रकट रूप में इन्हें (अर्जुन को) पराजित करने में अपने को असमर्थ समझकर, माया से शूकर का रूप धारण कर निःशंक भाव से अर्जुन को जीतने के लिए प्रयत्न-शील हो रहा है ॥३७॥

निहते विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया ।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ॥३८॥

अन्वयः—विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा मया रिपौ निहते मुक्तनिशितविशिख अयम् प्रसभ मृगयाविवादम् आचरिष्यति ॥३८॥

अर्थ—किरातराज का रूप धारण कर उस वराह रूप शत्रु को मेरे द्वारा मारे जाने पर यह अर्जुन उस पर तीक्ष्ण वाण प्रहार करके मेरे साथ हठपूर्व मृगया-कलह प्रारम्भ कर देगा ॥३८॥

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पदः ।
सत्त्वविहितमतुलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ॥३६॥

अन्वयः—तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पदः मृधे अधिकुप्यतः अस्य सत्वविहितम् अतुलम् भुजयोः बल पश्यत ॥३६॥

अर्थ—तपस्या के कारण अत्यन्य दुर्बल एव सहायक साधनों से हीन होने पर भी इस अर्जुन के रण में क्रुद्ध होने पर उसकी भुजा के स्वाभाविक एवं अतुल, बल को तुम लोग देखो ॥३६॥

[नीचे के तीन श्लोकों में किरातराज शिव की चेष्टाओं का वर्णन है—]

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना ।
घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ॥४०॥
वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।
बिभ्रदरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलांछितकपोलभित्तिना ॥ ॥४१॥
बृहदुद्वहज्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम् ।
मेघनिचय इव संववृते रुचिर. किरातपृतनापतिः शिवः ॥४२॥

अन्वय.—इति तान् उदारम् अनुनीय विषमहरिचन्दनालिना घर्मजनितपुलकेन लसद् गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा । पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना अरुणनयनेन वदनेन रुचम् बिभ्रत् । किरात-पृतनापतिः शिव. जलदनादि उपहितैकमार्गणम् बृहत् धनु. उद्वहत् रुचिरः मेघ-निचय. इव संववृते ॥४०-४२॥

अर्थ—शिव जी ने इस प्रकार उन मुनियों को आगे की घटना के सम्बन्ध

में सूचना देकर किरात सेनापति का वेश धारण किया। उसी समय उनके वक्षस्थल में अनेक वक्राकृति हरिचन्दन की रेखाएँ खिंच गयीं, स्वेद से रोमाञ्च हो आया, और वक्षस्थल में गजमुक्ता की माला शोभायमान हो गयी। (उनके मुखमण्डल की तो विचित्र शोभा हुई।) अपनी लम्बी जटाओं को पुष्पित लताओं से उन्होंने बाँध लिया था, मयूर पक्ष के कुंडल धारण कर लिए थे, वे कुंडल जब उनके कपोलों पर लटकने लगे तो उस समय उनके अरुण नेत्र से सुशोभित मुख की शोभा अति सुन्दर लगने लगी। इस प्रकार किरात सेनापति का विचित्र वेश धारण कर शिव जी ने मेघों के समान गंभीर ध्वनि करनेवाला एक बृहत् धनुष लिया और उस पर एक शर-सन्धान किया। उस समय उनकी शोभा मेघमंडल के समान दिखाई पड़ने लगी ॥४०-४२॥

टिप्पणी—तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः।
शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ॥४३॥

अन्वय.—अस्य अनुकूलम् विचिन्त्य आत्तविग्रहैः शूलपरशुशरचापभृतैः गणपतिभिः महती वनेचरचमूः विनिर्ममे ॥४३॥

अर्थ—शिव जी की प्रसन्नता की कामना से किरात शरीर धारण कर शिव के प्रमथ गणों ने भी शूल परशु धनुष बाण आदि शस्त्रास्त्र धारण कर किरातों की एक महती सेना तैयार कर ली ॥४३॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया।
भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगयां प्रतस्थिरे ॥४४॥

अन्वय —अथ ईश्वराज्ञया अनुगिरम् काननविभागम् विरचय्य भीमनिनदपिहितोरुभुवः मृगयाम् अपदिश्य परितः प्रतस्थिरे ॥४४॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान शङ्कर की आज्ञा से उन प्रमथ गणों ने पर्वतीय वन प्रदेश का विभाग कर अपनी भयङ्कर आवाजों से वन्य भूमि को व्याप्त करते हुए मृगया के बहाने से चारों ओर प्रस्थान कर दिया ॥४४॥

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः ।
पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ॥४५॥

अन्वयः—क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः पूर्णपृथुवनगुहाविवरः भूधरः सहसा भयात् इव ररास ॥४५॥

अर्थ—उस समय भयभीत होकर अपने-अपने स्थान से निकल कर अपने-अपने समूह से बिछुड़े हुए पक्षियों और मृगों के आर्त्त शब्दों से वह सम्पूर्ण वन और पर्वत प्रदेश की गुफाएँ व्याप्त हो गयीं, ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों इन्द्रकील पर्वत स्वमेव भयभीत होकर आर्त्तनाद कर रहा हो ॥४५॥

न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहङ्गसंहतिः ।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥४६॥

अन्वयः—पथि विरोधिनी मृगविहङ्गसंहतिः रुषम् न इयाय भूरिभियः समम् आगताः आपदः सहजम् अपि वैरम् सपदि घ्नन्ति ॥४६॥

अर्थ—भागते समय मार्ग में पशुओं और पक्षियों की पारस्परिक सहज वैर भावना क्रोधयुक्त नहीं हुई। क्यों न हो, अत्यन्त भय देनेवाली विपत्तियाँ एक साथ आकर सहज वैर को भी शीघ्र दूर कर देती हैं ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भयेऽप्युपस्थिते ।
वंशविततिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभिरादढे धृतिः ॥४७॥

अन्वयः—वंशविततिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभिः चमरीगणैः गणबलस्य बलवति भये उपस्थिते अपि धृतिः आददे ॥४७॥

अर्थ—बाँसों की काँटेदार झाड़ियों में अपने प्रिय बालों वाली पूँछों के अँटक जाने पर चमरी गौओं ने शिव के प्रमथों की सेना द्वारा भीषण भय उपस्थित होने पर भी अपना धैर्य बनाए ही रखा ॥४७॥

टिप्पणी—बालों के टूट जाने के डर से उन्हें प्राणहानि की भी चिन्ता नहीं हुई।

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः ।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः ॥४८॥

अन्वयः—प्रतिभये अपि गजमदसुगन्धिकेसरैः सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैः मृगाधिपैः स्वस्थम् हरसैनिकाः अभिददृशिरे ॥४८॥

अर्थ—भय का कारण उपस्थित होने पर भी गजराजों के मदजल से सुगन्धित केसरों वाले मृगराजों अर्थात् सिंहों ने निद्रा त्याग कर जँभाई लेते हुए निःशङ्क भाव से शिव के सैनिकों को देखा ॥४८॥

टिप्पणी—मृगराजों के लिए यह उचित भी था ।

बिभराम्बभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः ।
पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयः ॥४९॥

अन्वयः—अपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणम् पयः बिभराम्बभूवुः ॥४९॥

अर्थ—नदियाँ भयातुर होकर उछलनेवाली मछलियों से व्याप्त हो गयीं । उनके तट कीचड़ से दुर्गम बन गये । भागते हुए हाथियों के धक्कों से टूटे हुए हरिचन्दन वृक्ष के रसों से उनके जल अरुण वर्ण के हो गये ॥४९॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः सदागतिः ।
व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः प्रणुदन्ववौ वनसदां परिश्रमम् ॥५०॥

अन्वयः—महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः सदागतिः वनसदाम् परिश्रमम् प्रणुदन् ववौ ॥५०॥

अर्थ—महिषों के घर्षण से छिन्न-विछिन्न त्वचा वाले अगुरु-तमाल, एवं उशीर की सुगन्धि से सुरभित तथा शुक के समान हरे-हरे शिला-कुसुमों को इधर-उधर उड़ाने वाली वायु उन वनवासियों (किरात सेनाओं) के परिश्रम को दूर करती हुई बहने लगी ॥५०॥

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुकाः ।
क्लान्तजलरुहलताः सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसम्प्लवः ॥५१॥

अन्वयः—सत्त्वसम्प्लवः निदाघः इव सरसी. मथिताम्भसः रयविकीर्णमृदित-कदलीगवेधुकाः क्लान्तजलरुहलताः विदधे ॥५१॥

अर्थ—भयभीत होकर भागते हुए उन वन्य जीव जन्तुओं के समूह ने ग्रीष्मऋतु की भाँति सरोवरों की दुर्दशा कर दी। उन्होंने उनकी जलराशि को विलोडित कर दिया। भागने के वेग से किनारे के सम्पूर्ण कदली एव निवारों को कुचल डाला, और पद्मिनी लताओं को मलिन कर दिया ॥५१॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापति·।
प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम् ॥५२॥

अन्वयः—इति उमापति. अचलसानुवनगहनजान् चालयन् मुदितहरिणी-दशनक्षतवीरुधम् ऐन्द्रसूनवीम् वसतिम् प्राप ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार पार्वतीपति भगवान् शङ्कर इन्द्रकील के शिखर पर वृक्षों तथा जङ्गलों में रहने वाले जीवों को विक्षुब्ध करके, हर्षित हरिणियों के दाँतों से छिन्न लताओं वाले इन्द्रपुत्र अर्जुन के आश्रम में पहुँच गए ॥५२॥

स तमाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थित मुनेः।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुव दनुजं दधानमथ सौकरं वपुः ॥५३॥

अन्वयः—अथ सः घननीलम् मुनेः अभिमुखम् उपस्थित पोत्रनिकषणविभि-न्नभुव सौकर वपुः दधान दनुजम् तम् आससाद ॥५३॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान् शङ्कर बादलों के समान नीले तपस्वी अर्जुन के सम्मुख उपस्थित उस मूक नामक दानव के समीप पहुँचे, जो सूकर शरीर धारण कर अपने थूथुन से धरती को खोद रहा था ॥५३॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेना-
मन्वीत. स कतिपयै. किरातवर्यै.।
प्रच्छन्नस्तरुगहनै सगुल्मजालै-
र्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सम्प्रतस्थे ॥५४॥

अन्वयः—लक्ष्मीवान् सः सुरसरितः कच्छान्ते सेना निधाय कतिपयै: किरातवर्यैः अन्वीतः सगुल्मजालैः तरुगहनैः प्रच्छन्नः अस्य अनुपदं सम्प्रतस्थे ॥५४॥

अर्थ—अत्यन्त शोभासम्पन्न भगवान् शङ्कर सुरनदी मन्दाकिनी के तट-प्रांत में अपनी सेना को खड़ी करके कतिपय चुने हुए किरात सैनिकों को साथ ले कर लता प्रतान से सुशोभित घनेघने वृक्षों की आड़ में छिप कर उस सूकर वेषधारी (मूक) दानव के पीछे-पीछे चल पड़े ॥५४॥

टिप्पणी—प्रहर्षिणी छन्द ।

श्री महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१२॥

तेरहवाँ सर्ग

वपुषा परमेण भूधराणामथ सम्भाव्यपराक्रमं विभेदे ।
मृगमाशु विलोकयाञ्चकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं महेन्द्रसूनुः ॥१॥

अन्वयः—अथ महेन्द्रसूनुः परमेण वपुषा भूधराणां विभेदे सम्भाव्यपराक्रमं स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं मृगम् आशु विलोकयाञ्चकार ॥१॥

अर्थ—भगवान् शंकर के प्रस्थान के अनन्तर इन्द्र पुत्र अर्जुन ने उस सूकर वेशधारी दानव को शीघ्र ही देख लिया, जो अपने विशाल शरीर से पर्वतों को भी खंड खंड कर देने में समर्थ मालूम पड़ रहा था और जिसकी सुदृढ़ दाढ़ों से उसका मुख अत्यन्त भयंकर दिखाई पड़ रहा था ॥१॥

टिप्पणी—इस सर्ग में पैंतीसवें श्लोक तक औपच्छन्दसिक वृत्त है।

स्फुटबद्धसटोन्नतिः स दूरादभिधावन्नवधीरितान्यकृत्यः ।
जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीमं मुहुराददे वितर्कम् ॥२॥

अन्वयः—स्फुटबद्धसटोन्नतिः दूरात् अभिधावन् अवधीरितान्यकृत्यः सः जयम् इच्छति जातशङ्के तस्य मनसि मुहुः इमं वितर्कम् आददे ॥२॥

अर्थ—क्रोध के कारण अयाल को ऊपर उठाए हुए, दूर से ही दौड़कर आते हुए दूसरे कार्यों से विरत यह वराह विजय के लिए ही इस प्रकार आ रहा है—इस प्रकार की आशंका करते ही अर्जुन के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे ॥२॥

[नीचे के ग्यारह श्लोकों में अर्जुन के तर्क-वितर्क का वर्णन किया गया है—]

घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निविडस्कन्धनिकापरुग्णवप्रः ।
अयमेकचरोऽभिवर्तते मां समरायेव समाजुहूषमाणः ॥३॥

अन्वयः—घनपोत्रविदीर्णशालमूलः निविडस्कन्धनिकाषरुग्णवप्रः एकचरः अय समराय समाजुहूषमाणः इव माम् अभिवर्तते ॥३॥

अर्थ—अपने कठोर थूथुन से किसी वृक्ष के मूलभाग को विदीर्ण करने वाला एवं अपने निविड स्कन्ध के घर्षण से पर्वत की शिलाओं को भी तोड़ने वाला यह अकेला वराह (अपने यूथ से अलग हो कर) मुझसे युद्धार्थ मानों चुनौती देने के लिए मेरे सम्मुख आ रहा है ॥३॥

इह वीतभयास्तपोनुभावाज्जहति व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम् ।
मयि तां सुतरामयं विधत्ते विकृतिः किं नु भवेदियं नु माया ॥४॥

अन्वयः—इह तपोनुभावात् वीतभयः व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम् जहति अय मयि तां सुतरां विधत्ते । इयं विकृतिः किं नु माया भवेत् नु ॥४॥

अर्थ—इस आश्रम में (मेरी) तपस्या के प्रभाव से क्रूर व्याघ्रादि जन्तुओं ने प्राणि हिंसा करके अपनी जीविका चलाना छोड़ दिया है। किन्तु यह वराह तो मेरे साथ उसी हिंसा वृत्ति का व्यवहार करना चाहता है। क्या यह भावना मेरे मन में इसलिए तो नहीं उठ रही है कि मेरी तपस्या भंग हो गयी है अथवा यह किसी दैत्य की कोई माया है ॥४॥

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा न मुक्तः ।
अवधूय विरोधिनीः किमारान्मृगजातीरभियाति मां जवेन ॥५॥

अन्वय.—अथ एष. पूर्वं भृशम् आसेवितया रुषा कृतज्ञयेव न मुक्तः । आरात् विरोधिनीः मृगजाति. अवधूय जवेन मा अभियाति किम् ॥५॥

अर्थ—अथवा मेरे प्रति इसका पूर्व जन्म का कोई शत्रुता सम्बन्धी प्रबल क्रोध है, जो कृतज्ञता की तरह इस जन्म में भी इसका संग नहीं छोड़ रहा है, जिसके कारण अपने सहज विरोधी अन्य जीवों को समीप में ही छोड़कर यह बड़े वेग से मेरी ही ओर क्यों दौड़ा चला आ रहा है ? ॥५॥

न मृग खलु कोऽप्ययं जिघांसुः स्खलति ह्यत्र तथा भृश मनो मे ।
विमल कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपु वा ॥६॥

अन्वयः—अय मृगः न खलु कोऽपि जिघांसुः। हि अत्र मे मनः भृश स्खलति। हि विमल कलुषीभवत् चेतः एव हितैषिण रिपु वा कथयति ॥६॥

अर्थ—यह वराह नहीं है, निश्चय ही कोई अन्य मेरे प्राणों का ग्राहक है, क्योंकि इसे देखकर मेरा मन बारम्बार ऐसा ही कह रहा है। सच है, चित्त का प्रसन्न और कलुषित होना ही मित्र अथवा शत्रु होने की सूचना दे देता है ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् जिसे देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, वही मित्र है और जिसे देखकर वह कलुषित हो जाता है वही शत्रु है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूयतेऽभिमानः।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥७॥

अन्वयः—मुनिः अस्मि निरागसः मे कुतः भय इति एषः अभिमानः न भूतये। हि परिवृद्धिषु बद्धमत्सराणां दुरात्मनाम् अलङ्घ्य किमिव अस्ति ॥७॥

अर्थ—मैं मुनि हूँ अतएव मुझ अनपकारी को किसी से क्या भय है—यह अभिमान करना अत्र श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि दूसरों की उन्नति से जलने वाले दुष्ट-दुरात्माओं के लिए कौन ऐसी मर्यादा अथवा धर्म सीमा है, जिसका वे उल्लघन नहीं करते ॥७॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे।
अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम् ॥८॥

अन्वय—अय दनुजः स्वित क्षपाचरो वा वनजे सत्त्वे इति बल नास्ति बत। तथा हि मेघनीलः सकल शैलराजम् अभिभूय कम्पयतीव ॥८॥

अर्थ—अथवा यह कोई दानव निशाचर है, वन्य पशु में ऐसी शक्ति तो नहीं हो सकती? क्योंकि बादलों के समान विशालकाय एव नीला यह वराह इस पर्वत राज को भी मानों पराजित करके निकम्पित-सा कर रहा है ॥८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षागर्भित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगाणि काननानि ॥६॥

अन्वयः—अयमेव शमस्थे मयि मायया प्रहरिष्यन् मृगव्यसत्रकामः पृथुभिः ध्वजिनीरवैः काननानि चकितोद्भ्रान्तमृगाणि अकार्षीत् ॥६॥

अर्थ—इसी वराह ने शान्तिपूर्वक तपस्या में निरत मुझ पर प्रहार करने की दुर्भावना से मृगया की इस भूमि को मुझसे छीनने के लिए अपनी माया से कल्पित विशाल सेना के कोलाहल से जङ्गल के पशुओं को उद्भ्रान्त एवं चकित-सा कर दिया है ॥६॥

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम् ॥१०॥

अन्वयः—अथवा बहुशः कृतसत्कृतेः सुयोधनस्य प्रियं विधातुम् इच्छन् वनगोचराभियोगात् क्षुभितम् आकुलं तिरश्चां गणम् आशिश्रियत् ॥१०॥

अर्थ—अथवा दुर्योधन से बहु पुरस्कृत होकर उसका प्रिय कार्य करने की इच्छा से किसी ने वनभूमि के अवरोध से क्षुब्ध पशुओं के रूप में आश्रय लिया है ॥१०॥

टिप्पणी—अर्थात् उसने मन में यह सोचा होगा कि यदि मैं किसी दूसरे वेश में वहाँ जाऊँगा तो मेरे कार्य सम्पादन में ये जङ्गली पशु ही विघ्न डालेंगे अतएव मैं भी जङ्गली पशु क्यों न बन जाऊँ और इस प्रकार से दुर्योधन का प्रिय कार्य सम्पन्न कर आऊँ।

अवलीढसनाभिरश्वसेनः प्रसभं खाण्डवजातवेदसा वा।
प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥११॥

अन्वयः—खाण्डवजातवेदसा प्रसभम् अवलीढसनाभिः समन्युः, अश्वसेनः प्रतिकर्तुम् उपागतः यदि वा वृकोदरेण कृतमन्युः ॥११॥

अर्थ—अथवा खाण्डव दाह के समय अपने बन्धु- बान्धवों के जल जाने के कारण अत्यन्त क्रुद्ध तक्षक नागराज का पुत्र अश्वसेन ही तो मुझसे बदला लेने के लिए नहीं आया है ? अथवा यह भीमसेन के द्वारा अपकृत कोई व्यक्ति हो सकता है, जो क्रुद्ध होकर बदला चुकाने के लिए मेरे पास आया हो ॥११॥

टिप्पणी—महाभारत की एक कथा के अनुसार पाण्डवों ने खाण्डव वन को जलाते समय नागराज तक्षक के पुत्र अश्वसेन के बन्धु-बान्धवों को भी उसी में जला डाला था। वे बेचारे आग के भय से बाहर निकल कर भागना चाहते थे किन्तु पाण्डवों ने अपने बाणों से उन्हें रोक कर उसी वन में पुनः वापस लौटने के लिए विवश कर दिया था।

बलशालितया यथा यथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः ॥१२॥

अन्वयः—यथा तथा वा अयं बलशालितया उच्छेदपरां धियं दधानः मया नियमेन निबर्हणीयः। हि अरातिभङ्गं परमं लाभम् आहुः ॥१२॥

अर्थ—खैर जो भी हो। यह मायावी वराह हो अथवा यथार्थ में जङ्गली सूकर ही हो, अत्यन्त बलवान् होने के कारण यह मुझे मारना तो चाहता ही है, अतः मुझे इसको मारना ही चाहिये। क्योंकि पण्डित लोग शत्रु के संहार को ही परम लाभ बतलाते आए हैं ॥१२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्माम्।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम् ॥१३॥

अन्वय.—तात ! अमार्गदायी विजयाय तपांसि कुरु इति मुनिः माम् अलम् अन्वशात्, अस्य बलिनः वधादृते अन्यथा व्रतसंरक्षणं कर्तुं न शक्यम् ॥१३॥

अर्थ—हे वत्स ! छिद्रान्वेषी शत्रुओं को अपने आश्रम में प्रवेश का अवसर न देते हुए विजय के लिए तपस्या करना—इस प्रकार का उपदेश मुझे मुनिवर व्यास जी ने किया था, अतएव इस परम बलवान वराह के वध के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय द्वारा मेरे व्रत की रक्षा नहीं हो सकती ॥१३॥

टिप्पणी—दुष्टों का दमन करने के लिए यदि हिंसा का भी प्रयोग करना पड़े तो इसमें दोष नहीं है।

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः ॥१४॥

अन्वयः—तेन इति विचिन्त्य चापनाम प्रथम पौरुषचिह्नम् आललम्बे परस्य भेदे उपलब्धगुणः शुद्धः बाणश्च सचिव इव आददे ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन ने इस प्रकार का तर्क-वितर्क करने के अनन्तर अपने गाण्डीव नामक धनुष को, जो प्रथम पौरुष-चिह्न के रूप में था, ग्रहण किया एव तदनन्तर शत्रुओं के वध करने में ज्ञात पराक्रम वाले एक सरल एव निर्दोष बाण को भी मन्त्री के समान ग्रहण किया ॥१४॥

टिप्पणी—बाण के दोनों विशेषण मन्त्री के साथ भी जोड़ लेने चाहिये। श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार।

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनञ्जयेन।
स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥१५॥

अन्वय.—गुरु स्थिरत्वात् अविसंवादि गुणवत् धनुः मित्रमिव अनुभाववता धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमान आनतिं प्रपेदे ॥१५॥

अर्थ—महान, पूज्य, सत्यपरायण, औदार्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न सन्मित्र धन-रूप बल की अभाव दशा में भी प्रार्थित होने पर जिस प्रकार से अनुकूल आचरण करते हैं, उसी प्रकार से महान, सारवान होने से दृढ़तर और प्रत्यञ्चा युक्त गाण्डीव धनुष भी कठोर तपस्या के कारण क्षीण बल होने पर भी महानुभाव अर्जुन द्वारा आकृष्ट किए जाने पर नम्र हो गया ॥१५॥

टिप्पणी—श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार।

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम्।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः ॥१६॥

अन्वयः—तदानीं महेषौ गाण्डिवम् अधिरोहति प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितः सकलः शैलः सशयम् आरुरोह ॥१६॥

अर्थ—उस समय गाण्डीव धनुष पर अर्जुन द्वारा बाण रखते ही प्रत्यञ्चा खींचने के कठोर शब्द से पर्वत की गुफाएँ व्याप्त हो गयीं, और अर्जुन के पद भार से आक्रान्त होने कारण वह सम्पूर्ण पर्वत अपने में स्थिर रहने के लिए भी सशयग्रस्त हो गया ॥१६॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार ।

ददृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः ।
रचितस्त्रिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ॥१७॥

अन्वयः—अथ शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमडलस्थः तिसृणां पुरां वधं विधातुं रचितः आत्मा इव परेषां भयानकः सविस्मयं ददृशे ॥१७॥

अर्थ—बाण-सन्धान के अनन्तर भगवान शंकर ने सम्पूर्ण रूप से प्रत्यञ्चा के खींचने के कारण विरचित निश्चल चाप-मडल में अवस्थित अर्जुन को बड़े विस्मय के साथ त्रिपुर-विध्वंस के समय स्वयं अपने द्वारा रचित निज-स्वरूप के समान शत्रुओं के लिए परम भयंकर रूप में देखा ॥१७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः ।
धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शम्भुः ॥१८॥

अन्वयः—शम्भुश्च संहितेषुः उच्चैः चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः आयतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्निः धनुः विचकर्ष ॥१८॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान शंकर ने भी शर-सन्धान पूर्वक अपने धनुष को खींचा । उस समय उनके चरणों की अत्यन्त चपेट से पर्वतराज नीचे की ओर खिसक उठा । उनके धनुष की प्रत्यञ्चा पर नागराज वासुकि ही विराजमान थे, अतः उसके खींचने पर उनका शरीर खिंच गया और मुख की ग्रंथि से अग्नि की (भयङ्कर) ज्वालाएँ निकलने लगीं ॥१८॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

स भवस्य भवत्त्रयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम्।
रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ॥१९॥

अन्वयः—सहार्थं विधास्यतोः भवत्त्रयैकहेतोः भवस्य सितसप्तेश्च मध्य रिपुः प्रकृतिप्रत्यययोः अनुबन्धः इव स पराभवाय आप ॥१९॥

अर्थ—एक ही समय शत्रु-संहार रूप प्रयोजन को पूरा करने के लिए उद्यत संसार के विनाश के आदि कारण शङ्कर जी और अर्जुन के मध्य में प्राप्त वह वराह रूप शत्रु, संयुक्त रूप में अर्थ बोध कराने वाले प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में स्थित इत्संज्ञक वर्ण की भाँति विनाश को प्राप्त हुआ ॥१९॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से अर्थ प्रतिपादक प्रकृति और प्रत्यय के बीच ण् त् उ आदि इत्संज्ञक वर्ण केवल लोप होने के लिए ही आकर उपस्थित होते हैं उसी प्रकार से शिव और अर्जुन के बीच में वह वराह उपस्थित हुआ। उदाहरण के लिए कर्त्तव्य शब्द को लीजिए। इसमें 'कृ' धातु अर्थ प्रतिपादक प्रकृति है और तव्यत् प्रत्यय है। दोनों के बीच में अन्तिम त कार का लोप हो जाता है जो इत्संज्ञक है। उपमा अलङ्कार।

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रववित्रासितवारणादवार्यः।
निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः ॥२०॥

अन्वय.—अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा अवार्यः इषुः रववित्रासितवारणात् पिनाकात् महतः अभ्रात् वैद्युतः कृशानुः इव जवात् निपपात ॥२०॥

अर्थ—तदनन्तर मेघों के पथ को उदभासित करता हुआ शङ्कर जी का अमोघ बाण, अपने घोष से हाथियों को भी विकम्पित करने वाले धनुष से, विशाल मेघ मंडल से विद्युत् की ज्वाला के समान वेग से छूटा ॥२०॥

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्कः।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ॥२१॥

अन्वयः—व्रजतः अस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्क महोरगाणां हृदयश्रोत्रभित् प्रतिनादमहान् नादः उत्पपात ॥२१॥

अर्थ—वेग से चलते हुए उस बाण के बृहत पक्षों से उत्पन्न भीषण ना अपनी ही प्रतिध्वनि से भयकर हो कर, गरुड़ के वेग पूर्वक आक्रमण की आशव उत्पन्न करता हुआ महान् सर्पों के हृदयों और कानों को विदीर्ण करते हु फैल गया ॥२१॥

टिप्पणी—भ्रमोत्थापित अतिशयोक्ति अलङ्कार।

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतर यतः पिशङ्गैः।
विदधे विलसत्तडिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्ग. ॥२२॥

अन्वयः—शूलिनः नयनात् प्रवृत्तैः इव पिशङ्गैः विलसत्तडिल्लताभैः मनठ. अपि आशुतरम् यतः मार्गणस्य किरणैः व्योमनि मार्गः विदधे ॥२२॥

अर्थ—मानो भगवान् शकर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि-ज्वाला के समान कपिल वर्ण और बिजली की रेखा के समान देदीप्यमान, मन के वेग से भी शीघ्रगामी वेग से चलते हुए शिव के उस बाण की किरणों ने आकाश मडल में उल्कारेखा की तरह एक ज्वलन्त मार्ग बना दिया ॥२२॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

अपयन्धनुष. शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहान.।
युगपद्ददृशे विशन्वराह तदुपोढैश्च नभश्चरै. पृषत्क. ॥२३॥

अन्वय.—पृषत्क. धनुषः अपयन् शिवान्तिकस्थै. अभिख्यया जिहानः विव-रेसद्भि. वराहं विशन् तदुपोढै. नभश्चरै. युगपत ददृशे ॥२३॥

अर्थ—शिव जी का वह बाण जिस क्षण धनुष से निर्गत हुआ, उस समय शिव समीपवर्ती आकाश चारियों ने, जिस समय वह पूर्वोक्त शोभा से सम्पन्न हुआ उस समय अन्तराल वर्ती आकाश चारियों ने तथा जिस समय वह वराह में प्रविष्ट हुआ उस समय वराह के समीपवर्ती आकाश चारियों ने एक सा ही देखा ॥२३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उसे धनुष से निकलकर आकाश से जाते हुए एव वराह के शरीर में प्रविष्ट होते हुए तनिक भी देर नहीं लगी। अतिशयोक्ति अलङ्कार से लोकोत्तर वेग प्रतीतिरूप वस्तुध्वनि।

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविपक्तवेग.।
भयविप्लुतमीक्षितो नभ.स्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥२४॥

अन्वय.—सः तमालनिभे सुराणा रिपौ घननीहार इव अविपक्तवेगः नभ.स्थैः भयविप्लुतम् ईक्षितः आपगा ग्राह इव जगतीं जगाहे ॥२४॥

अर्थ—शिव जीका वह वेगशाली बाण तमाल के समान नील वर्ण के उस देवशत्रु वराह के अप्रतिहत वेग शरीर में सघन हिम के समान अप्रतिहत वेग से प्रविष्ट हो गया। भय विह्वल नभचरों ने देखा कि वह इसके बाद इस प्रकार से धरती में प्रविष्ट हो गया जिस प्रकार से ग्राह नदी में प्रविष्ट हो जाता है ॥२४॥

सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनख. खमाससाद।
कुपितान्तकतर्जनांगुलिश्रीर्व्यथयन्प्राणभृतः कपिध्वजेषुः ॥२५॥

अन्वय.—सपदि प्रियरूपपर्वरेख सितलोहाग्रनखः कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीः कपिध्वजेषु. प्राणभृत· व्यथयन् खम् आससाद ॥२५॥

अर्थ—ठीक उसी अवसर पर तुरन्त ही अर्जुन का भी बाण प्राणियों को पीडित करता हुआ आकाश में उपस्थित हुआ। उस बाण का स्वरूप सुन्दर था, उसमें गाँठे और रेखाएँ अच्छे ढग से निर्मित थीं, उसके अग्रभाग में श्वेत लोहे का फल लगा हुआ था, जो नख की आकृति का था। वह क्रोधित यमराज की तर्जनी अगुली के समान भयकर दिखाई पड रहा था ॥२५॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

परमास्त्रपरिग्रहोरुतेज स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु।
स जवेन पतन्पर.शताना पतता व्रात इवारव वितेने ॥२६॥

अन्वयः—परमास्त्रपरिग्रहोरु स्फुरदुल्काकृति तेज. वनेषु विक्षिपन् जवेन पतन् सः पर.शताना व्रात इव आरव वितेने ॥२६॥

अर्थ—अर्जुन का वह महान वाण मन्त्र द्वारा दिव्य अस्त्र की भाँति सधानित था, अतः प्रदीप्त उल्का के समान वन में अपने तेज को विखेरता हुआ अत्यन्त वेग के साथ दौड़ते हुए सैकड़ों-सहस्रों पक्षियों के समूह की भाँति वह महान् शब्द फैलाने लगा ॥२६॥

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरहसा सः ।
सह पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ॥२७॥

अन्वयः—अतिरहसा अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इव सः सह नु चित्तवृत्तेः पूर्वतर नु लक्ष्यभेद चकार ॥२७॥

अर्थ—अत्यन्त वेग के कारण अर्जुन के उस वाण का गाण्डीव से निर्गत होने का तथा उसके गमन का समय किसी को ज्ञात नहीं हो सका और उसने अतिवेग से मानों अत्यन्त सूक्ष्म होकर चित्तवृत्ति (मन की गति) के साथ ही अथवा उससे भी पूर्व ही लक्ष्य में पहुँच कर अथवा लक्ष्य तक बिना पहुँचे ही उसका भेदन कर दिया—इसका कुछ भी निश्चय नहीं हो सका ॥२७॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से वाण वेगोत्कर्ष रूप वस्तुध्वनि ।

स वृषध्वजसायकावभिन्नं जयहेतुः प्रतिकायमेपणीयम् ।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ॥२८॥

अन्वय.—जयहेतुः सः शरः वृषध्वजसायकावभिन्नम् एपणीयम् प्रतिकाय विधिना उदीरितम् अर्थं प्रयत्न इव लघु साधयितु प्रसेहे ॥२८॥

अर्थ—विजय साधक वह अर्जुन का वाण वृषभध्वज शङ्कर के वाण से विद्ध उस प्रतिपक्षी सूकर के शरीर को इस प्रकार से सुगमतापूर्वक विद्ध करने में समर्थ हो गया जिस प्रकार से मनुष्य का प्रयत्न दैव प्रतिपादित कार्य का अनायास ही सम्पादन कर लेता है ॥२८॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव सश्रितानुरागम् ।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसाद विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ॥२९॥

अन्वय.—अविवेकवृथाश्रमौ अर्थम् इव क्षयलोभौ संश्रितानुरागमिव अनय-प्रमादौ विजिगीषुमिव विशिखौ तम् अवसाद विनिन्यतुः ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार से अविवेक और व्यर्थ का परिश्रम धन-वैभव को, स्वामी का विनाश और लोभ जैसे सेवकों के अनुराग को और अनीति तथा प्रमाद जैसे विजय-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को शिथिलित कर देते हैं वैसे ही शङ्कर और अर्जुन के बाणों ने उस सूकर को शिथिलित कर दिया ॥२६॥

टिप्पणी—मालोपमा अलङ्कार।

अथ दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन्सहसा रुग्णरयः स सम्भ्रमेण।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरु धरा च मेने ॥३०॥

अन्वयः—अथ सः दीर्घतम तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः सम्भ्रमेण उष्ण-रश्मिम् उर्व्यां निपतन्तमिव मेने। धराञ्च वलयीभूततरु मेने ॥३०॥

अर्थ—तदनन्तर वह वराह दीर्घ निद्रा के अन्धकार अर्थात् मृत्यु के गाल में प्रवेश करते हुए तुरन्त ही वेगहीन होकर चारों ओर चक्कर काटने लगा और उस क्षण उसे यह ज्ञात हुआ कि जैसे सूर्य पृथ्वी पर गिर रहे हैं और पृथ्वी के समस्त वृक्ष मण्डलाकार घूम रहे हैं ॥३०॥

टिप्पणी—चक्कर काटते हुए को यह भ्रान्ति होती ही है। स्वभावोक्ति अलङ्कार।

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ॥३१॥

अन्वयः—क्षितिं गतः उष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा क्षणम् ईक्षितेन्द्रसूनुः विहितामर्षगुरुध्वनिः सः असुभिः निरासे ॥३१॥

अर्थ—पृथ्वी पर गिर कर गरम-गरम रक्त से लथपथ उस वराह ने अपने खुरों तथा दाढ़ों के अग्रभाग की चोट से पत्थर की शिलाओं को तोड़ते हुए क्षण भर के लिए अर्जुन की ओर देखा और फिर अत्यन्त क्रोध से गंभीर गर्जन करते हुए उसने अपने प्राणों को त्याग दिया ॥३१॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन्प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥३२॥

अन्वयः—अथ पार्थः प्राज्यशर. स्फुटपौरुष शर जिघृक्षुः आपपात। कृतवेदिना कृतावदानः यथा प्रियताम् एति तथा करिष्यन् न ॥३२॥

अर्थ—वराह के मर जाने पर अर्जुन के पास यद्यपि बहुतेरे वाण थे तथापि इस प्रकार का उत्कट पराक्रम दिखानेवाले अपने उस वराह वेधी वाण को उठाने की इच्छा से वह उसकी ओर लपके। सच है, जो लोग कृतज्ञ होते हैं, वे उस का अधिक आदर करते हैं, जो कुछ काम करके दिखा देता है। भविष्य में उपकार करने वाले का वे उतना अधिक आदर नहीं करते ॥३२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[नीचे के दो श्लोकों द्वारा उस वाण का वर्णन किया गया है—]

उपकार इवासति प्रयुक्त. स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम्।
कृतशक्तिरवाङ्मुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ॥३३॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चै. परिरेभे नु भृश विलोचनाभ्याम् ॥३४॥

अन्वय —असति प्रयुक्त· उपकार इव मृगे स्थितिम् अप्राप्य प्रणाश गत· कृतशक्तिः गुरुत्वात् अवाङ्मुखः आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थितः। उत्तम स्वरुचं कीर्तिमिव दधान. विचिन्त्य समुद्धरता तेन उच्चै. स्ववार्त अनुयुक्त इव स विलोचनाभ्या भृश परिरेभे नु ॥३३-३४॥

अर्थ—अर्जुन का वह वाण दुःशील दुर्जनों पर किए गए उपकार की भाँति उस वराह के शरीर में न ठहर कर अदृश्य हो गया एवं अपने पौरुष को दिखला कर अग्रभाग में लोह की गुरुता से अधोमुख होकर वह इस प्रकार दिखाई पड़ा मानों अपने पुरुषत्व के प्रकाशन करने से लज्जित होकर उसने

अपना मुँह नीचे कर लिया है। वह कीर्ति की भाँति मानों अपनी उज्ज्वल कान्ति से युक्त था। उसे सर्वथा ग्राह्य समझ कर अर्जुन ने अपने नेत्रों से उसका बारम्बार आलिंगन किया, उस समय वह मानों उच्च स्वर में अपने कार्य-कौशल को जानने की अभिलाषा करते हुए पड़ा था ॥३३-३४॥

टिप्पणी—गौरवशाली महान् लोग अपने पुरुषत्व का प्रकाशन करके अपना शिर ऊँचा नहीं उठाते, प्रत्युत बड़ा से बड़ा कार्य करके भी वे नम्रता ही दिखाते हैं। दोनों श्लोकों में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम्।
सन्निकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः ॥३५॥

अन्वयः—तत्र महाभुजः कुसुमचापविद्विषः शासनं सन्निकाशयितुम् अग्रतः स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा पश्यति स्म ॥३५॥

अर्थ—उक्त प्रदेश में महाभुज अर्जुन ने कुसुमायुध के संहारकर्त्ता भगवान् शंकर की आज्ञा को सूचित करने के लिए अपने अग्रभाग में स्थित एक धनुषधारी किरात को सहसा देखा ॥३५॥

टिप्पणी—यह रथोद्धता छन्द है। सर्ग की समाप्ति पर्यन्त अब यही छन्द रहेगा।

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम्।
सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वचः ॥३६॥

अन्वयः—सः महीपतेः तनये आत्मजातिसदृशीं किल आनतिं प्रयुज्य, सान्त्वपूर्वम् अभिनीतिहेतुकं वचः इत्थं वक्तुम् उपचक्रमे ॥३६॥

अर्थ—(तदनन्तर वह) किरात राजपुत्र अर्जुन को अपनी जाति परम्परा के अनुसार प्रणाम कर सान्त्वनापूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त बातें इस प्रकार से कहने के लिए उद्यत हुआ ॥३६॥

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम्।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ॥३७॥

अन्वयः—शान्तता ते विनययोगि मानस नु तथा भूरि धाम तपः विमल श्रुतं दिवौकसा सदृशी आकृतिः अवदान अन्ववाय प्राह ॥३७॥

अर्थ—आप का यह शान्त भाव आपके हृदय की विनयशीलता को प्रकाशित करता है। महान् तेजस्वी आप का यह तप आपके विशुद्ध शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देता है और आपकी देवताओं के समान यह मनोहर आकृति आपके विशुद्ध वंश को प्रकट कर रही है ॥३७॥

दीपितस्त्वमनुभावसम्पदा गौरवेण लघयन्महीभृतः।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥३८॥

अन्वय.—मुनिरपि अनुभावसम्पदा दीपितः गौरवेण महीभृतः लघयन् त्वम् इह शातमन्यवम् आधिपत्यं कारयन्निव राजसे ॥३८॥

अर्थ—ऐश्वर्य रहित मुनिवेश में होते हुए भी आप अपने अतिशय प्रभाव से सुप्रकाशित हो रहे हैं। अपनी महत्ता से (बड़े-बड़े) राजाओं को भी तुच्छ बना दे रहे हैं, इस प्रकार आप इस पर्वत पर मानों इन्द्र के द्वारा उनके शासन कार्य की देखभाल करते हुए शोभायमान हो रहे हैं ॥३८॥

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसम्पदाम्।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः ॥३९॥

अन्वयः—विभुताम् उपेयिवान् तापसोऽपि त्वं सर्वसम्पदाम् आस्पदम् असि। तथाहि भवतः जनैर्विना सचिवैः अन्वितस्येव द्युतिः दृश्यते ॥३९॥

अर्थ—अत्यन्त प्रभाव से युक्त होने के कारण आप तपस्वी होकर भी सम्पूर्ण सम्पदाओं के आश्रय हैं। क्योंकि यद्यपि आप अकेले हैं फिर भी सचिवादि से युक्त की भांति आप का तेज दिखाई पड़ता है ॥३९॥

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ॥४०॥

अन्वय.—जयश्रिया क इव वा विस्मयः अतः मुक्तिरपि ते दवीयसी नैव। तथाहि निर्जितरजस्तमोगुणः कस्य ईप्सितस्य उपाश्रयः न भवेत् ॥४०॥

अर्थ—आपको जयश्री का लाभ होना कोई विस्मय की बात नहीं है, अतएव मुक्ति भी आपको दुर्लभ नहीं है, क्योंकि आपके समान रजोगुण एवं तमोगुण को पराजित करने वाले पुरुष किस अभिलषित वस्तु के आश्रय नहीं होते ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् जो व्यक्ति रजोगुण एवं तमोगुण को पराजित कर देता है, उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ह्रेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुष. ।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिन नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ॥४१॥

अन्वय.—त्विषा अहिमतेजसम् ह्रेपयन् उपपन्नपौरुष· सः त्वं वराहभेदिनम् एनम् अस्मत् अधिपस्य सायकम् इत्थ हर्तुम् न अर्हसि ॥४१॥

अर्थ—अपने तेज से उष्णरश्मि भास्कर को लज्जित करने वाले आप जैसे पराक्रमी को इस वराह को मारनेवाले हमारे स्वामी के बाण का इस प्रकार से अपहरण करना उचित नहीं है ॥४१॥

स्मर्यते तनुभृतां सनातनं न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभि ।
ध्वसते यदि भवादृशस्तत. कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना ॥४२॥

अन्वयः—उत्तमैः नृभि. तनुभृता सनातनं न्याय्यम् आचरित स्मर्यते । यदि भवादृशः ततः ध्वसते तेन वर्त्मना कः प्रयातु वद ॥४२॥

अर्थ—मनु आदि आचारवेत्ता महानुभावों ने शरीर धारियों के लिए सर्वदा न्याय पथ का अवलम्बन करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया है। यदि आप जैसे व्यक्ति उस न्याय पथ से विचलित हो जायँगे तो बताइये उस पथ पर दूसरा कौन व्यक्ति चलेगा ? ॥४२॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छव संनिवृत्तिमपथान्महापद. ।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यव. शीलयन्ति यतय. सुशीलताम् ॥४३॥

अन्वय.—योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः यतयः आकुमार महापदः अपथात् संनिवृत्तिम् उपदेष्टुम् इच्छवः सुशीलता शीलयन्ति ॥४३॥

अर्थ—अपनी योग शक्ति अर्थात् आत्मज्ञान की महिमा से जन्म और मृत्यु को जीतने वाले योगी जन अपनी कौमार्यावस्था से ही महान् विपत्तियों के आश्रय रूप कुमार्ग से निवृत्त होने का उपदेश देने की इच्छा से सदाचरण का ही अभ्यास करते हैं ।।४३।।

टिप्पणी—इसलिए सज्जन पुरुष को सदाचरण एव शील का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए ।

तिष्ठता तपसि पुण्यमासजन्सम्पदोऽनुगुणयन्सुखैषिणाम् ।
योगिनां परिणमन्विमुक्तये केन नास्तु विनयः सता प्रियः ।।४४।।

अन्वयः—तपसि तिष्ठता पुण्यम् आसजन् सुखैषिणा सम्पदः अनुगुणयन् तथा योगिनां विमुक्तये परिणमन् विनयः केन सता प्रियः नास्तु ।।४४।।

अर्थ—विनयशीलता तपस्या में निरत धर्मार्थी लोगों को पुण्य प्रदान करती है, सुखार्थी जनों के लिए सम्पत्ति प्रदान करती है और योगियों को मुक्ति प्रदान करती है, अत. कौन-सा ऐसा कारण है कि वह (सदाचार) सज्जनों को प्रिय न हो ।। ४४ ।।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि विनयशीलता धर्मार्थ काम मोक्ष चतुर्वर्ग देनेवाली है ।

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः ।
सोऽयमित्यनुपपन्नसशयः कारितस्त्वमपथे पद यया ।।४५।।

अन्वयः—अय सायकः अत्र भवतः शराकृतिं सर्वथा अनुयाति नूनम् त्वम् अनुपपन्नसशयः सः अयम् इति अपथे पद कारित' ।।४५।।

अर्थ—निश्चय ही मेरे स्वामी का यह वाण आपके वाण के समान आकृति वाला है, जिसके कारण यही आप को सन्देह रहित बनाकर दूसरे के वाण अपहरण करने के इस कुमार्ग पर ला रहा है ।।४५।।

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहृते ।
निघ्नतः परनिबर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः ।।४६।।

अन्वय'—सचेतसः ते अन्यदीयविशिखे आहृते निःस्पृहस्य केवलं न भवितव्यम् परनिबर्हित मृग निघ्नतः व्रीडितव्यमपि ॥४६॥

अर्थ—आप जैसे मनस्वी सज्जन के लिए दूसरे के बाण का अपहरण करने में केवल निस्पृह होना ही उचित नहीं है, प्रत्युत दूसरे द्वारा मारे गए पशु में (फिर से) प्रहार करते हुए लज्जित होना भी उचित है ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थात् मुझे आश्चर्य है कि दूसरे द्वारा मारे गये मृग को मारकर आप को लज्जित होना तो दूर आप तो दूसरे का बाण भी अपहृत करना चाहते हैं—यह तो बड़ी निर्लज्जता की बात है।

सन्तत निशामयन्त उत्सुका यै. प्रयान्ति मुदमस्य सूरय'।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ॥४७॥

अन्वय.—सूरयः अस्य यै सन्ततम् उत्सुका. निशामयन्तः मुद प्रयान्ति तानि चरितानि हसितेऽपि कीर्तितानि य मानिन व्रीडयन्ति ॥४७॥

अर्थ—विद्वान लोग हमारे स्वामी किरातपति के जिस उज्ज्वल चरित को उत्कण्ठापूर्वक सुनकर प्रसन्न होते हैं, वे ही चरित यदि परिहास में भी कहे जाते हैं तो उससे हमारे मनस्वी स्वामी को लज्जा होती है ॥४७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि हमारे स्वामी के उज्ज्वल चरित को बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी उत्कण्ठापूर्वक सुनते हैं, और परमानन्दित होते हैं, किन्तु स्वय हमारे स्वामी को अपने मान का इतना ध्यान रहता है कि यदि हास-परिहास में भी कोई उनके चरित का उल्लेख करता है तो वे सङ्कोच में पड़ जाते हैं। सच्चे महापुरुष अपनी कीर्ति सुनना भी नहीं चाहते।

अन्यदोषमिव स स्वक गुणं ख्यापयेत्कथमधृष्टताजडः।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ॥४८॥

अन्वय.—अधृष्टताजडः स. अन्यदोषमिव स्वक गुण कथ ख्यापयेत् तथापि कार्यवत्तया स उच्यते खलु विभिन्नबुधसेतुम् अर्थितां धिक् ॥४८॥

अर्थ—इस प्रकार आत्म प्रशसा से सर्वदा विमुख रहनेवाले हमारे स्वामी

दूसरों के दोष की भाँति अपने गुणों का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं, तथापि कार्य पड़ने पर अपनी भी प्रशसा की जाती है इसमें दोष नहीं है। किन्तु सज्जन पुरुषों की मर्यादा को भङ्ग करने वाली उस याचना को धिक्कार है, (जिसके प्रसङ्ग में व्यर्थ ही प्रशसा करनी पड़ती है।) ॥४८॥

टिप्पणी—किरात के कथन का तात्पर्य यह है कि आप यह न समझें कि मैं किसी याचना के प्रसङ्ग में अपने स्वामी की व्यर्थ ही प्रशसा कर रहा हूँ, मैं तो उसे धिक्कार की वस्तु मानता हूँ।

दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥४६॥

अन्वय.—वाहिनीपतिः शितेन पत्रिणा एनम् आशु न प्रत्यपत्स्यत। यदि असौ मृगः ओजसा त्वयि यद् अकरिष्यत् तत् दुर्वच अथ तत् मास्म भूत् ॥४६॥

अर्थ—हमारे स्वामी किरातपति यदि अपने तीक्ष्ण बाण से इस वराह को शीघ्र ही न मार डालते तो यह वन्य जीव अपने भयङ्कर बल से आपके प्रति जो कुछ करता वह अमागलिक होने के कारण कहना उचित नहीं है। भगवान् करे वैसा अमङ्गल आप का न हो ॥४९॥

टिप्पणी—अर्थात् वह वराह शीघ्र ही आप को समाप्त कर देता।

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम्।
वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम् ॥५०॥

अन्वयः—हरितुरङ्गम् आयुधस्थेयसीं अङ्गसहतिं दधत वेगवत्तर इम दंष्ट्रिण चमूपतेः ऋते कः नु शरेण हन्तुमर्हति ॥५०॥

अर्थ—इन्द्र के वज्र के समान कठिन अङ्गोंवाले, परमवेगशाली, इस तीक्ष्ण दाढ़ोंवाले वराह को हमारे स्वामी किरातपति के अतिरिक्त कौन ऐसा है, जो बाण द्वारा मार सकता है ॥५०॥

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते।
त विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ॥५१॥

अन्वयः—तथा च अय मेदिनीपतिः ते संशये उपकारि इष्टं मित्रम्, त विरोध्य सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता मा भवता निराश्रि ॥५१॥

अर्थ—इस प्रकार से वे हमारे स्वामी किरातपति आपके प्राण सङ्कट के अवसर पर ऐसा उपकार करके आप के मित्र बन गए हैं। उनके साथ विरोध करके एकमात्र सज्जनों में निवास करने वाली कृतज्ञता को आप निराश्रित न करें ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् प्राण रक्षा करने वाले ऐसे परम मित्र के साथ यदि आप जैसे सज्जन व्यक्ति विरोधी आचरण करेंगे तो यह बड़ी अकृतज्ञता होगी। बेचारी कृतज्ञता फिर कहाँ रहेगी ?

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतयः।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसम्पदः ॥५२॥

अन्वयः—जिगीषतां दुर्लभाः असुरक्ष्यभूतयः अन्तविरसाः लाभसम्पदः एकसुकृतेन लभ्यं रक्षितारं स्वन्तं मित्रलाभम् अनु ॥५२॥

अर्थ—विजयाभिलाषी जनों के लिए मित्र लाभ की अपेक्षा धन-सम्पत्ति का लाभ निकृष्ट वस्तु है। क्योंकि ये धन सम्पत्तियाँ बहुधा बहुत क्लेश उठाने पर ही प्राप्त की जाती हैं, प्राप्त होने पर भी उनकी रक्षा में न मालूम कितना प्रयत्न करना पड़ता है, किन्तु तब भी वे नष्ट हो ही जाती हैं। जब कि मित्र-लाभ केवल एक उपकार कर देने से सुलभ हो जाता है, उसकी रक्षा में कोई कष्ट नहीं प्रत्युत वह तो स्वयं अपनी भी रक्षा करता है, और अन्त में सुखद परिणामकारी होता है ॥५२॥

टिप्पणी—व्यतिरेक अलङ्कार।

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः।
भूधरस्थिरमुपेयमागतं मावमंस्त सुहृदं महीपतिम् ॥५३॥

अन्वयः—वसु नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमपि उन्नताः अरातयः हरन्ति भूधरस्थिरम् उपेयम् आगतं महीपतिं सुहृदं मावमंस्त ॥५३॥

अर्थ—धन-सम्पत्ति नितांत चञ्चल अर्थात् नश्वर हैं, धरती को भी प्र
शत्रु हर लेते हैं, अतएव पर्वत के समान अचल, स्वयमेव समागत हमारे स्व
किरातपति जैसे सुहृद को आप अपमानित न करें ॥५३॥

टिप्पणी—उपमा और व्यतिरेकालङ्कार का सङ्कर।

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः।
प्राप्स्यते च सकलं महीभृता सङ्गतेन तपसः फलं त्वया ॥५४॥

अन्वयः—भवता जेतुमेव तपस्यते मुमुक्षवः आयुधानि न दधते। महीभृ
सङ्गतेन त्वया सकल तपसः फल प्राप्स्यते ॥५४॥

अर्थ—आप अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए ही तपस्या
रहे हैं, क्योंकि मुक्ति के इच्छुक तपस्वी शस्त्रास्त्र नहीं धारण करते। तत्र
ऐसी स्थिति में हमारे स्वामी किरातपति से मैत्री हो जाने पर तो आपकी स
तपस्या सफल हो जायगी ॥५४॥

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिशः।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा केवलं न सहते विलंघनम् ॥५५॥

अन्वयः—वाजिभूमिः इभराजकानन भूरिशः रत्ननिचयाश्च सन्ति। अ
काञ्चनेन पत्रिणा किमिव परन्तु केवल विलङ्घन न सहते ॥५५॥

अर्थ—हमारे स्वामी के पास अश्वों के उत्पत्ति स्थान, गजराजों के ज
और रत्नों की खानें विद्यमान हैं। इस एक (मामूली) सुवर्णमय बाण से उ
कोई विशेष प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा किन्तु इसके ग्रहण करने में उनका
तात्पर्य है कि वे दूसरों के द्वारा होनेवाले अपमान को नहीं सहन कर सकते ॥

टिप्पणी—उदात्त अलङ्कार।

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि।
अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम् ॥५६॥

अन्वयः—महान् रजस्यपि परैः सावलेपम् उपलिप्सिते सति विकृ
अभ्युपैति। अर्थितस्तु जीवित धनायितु न समीहते, धन किमु ॥५६॥

अर्थ—हमारे महान स्वामी दूसरे द्वारा गर्वपूर्वक धूल लेने की चेष्टा करने
(मी क्रुद्ध हो उठते हैं जब कि प्रार्थनापूर्वक माँगने पर वह अपना जीवन भी
पेरे पास रखने की इच्छा नहीं करते अर्थात् अपने प्राण भी दे सकते हैं तो
न की तो बात ही क्या ! ॥५६॥

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वां गुरु यदृच्छयागतम् ।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥५७॥

अन्वयः—तत्तदीयविशिखातिसर्जनात् वा राघवप्लवगराजयोः इव यदृ-
च्छया आगत गुरु युक्तम् इतरेतराश्रय प्रेम अस्तु ॥५७॥

अर्थ—इसलिए उनके इस बाण को प्रदान करने से आप का और उनका,
मचन्द्र और सुग्रीव की भाँति दैवयोग से उपस्थित पारस्परिक महान प्रेम-सम्बन्ध
पापित हो जायगा ॥५७॥

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे यस्तपस्विविशिखेषु चादरः ।
सन्ति भूभृति शरा हि नः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥५८॥

अन्वयः—त्वम् अनृतम् अभियोक्तु नेष्यसे । यः तपस्विविशिखेषु आदर. ।
ई न. भूभृति परे शराः सन्ति ये वज्रिण. पराक्रमवसूनि ॥५८॥

अर्थ—आप से हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नहीं कर सकते क्योंकि
पस्वियों का बाण लेने में हमारा क्यों आग्रह होगा। हमारे पर्वत में सैकड़ों
हस्त्र ऐसे बाण हैं, जो देवराज इन्द्र के शौर्य-सर्वस्व हैं ॥५८॥

टिप्पणी—अर्थात् जो इन्द्र के वज्र से भी अधिक पराक्रम वाले हैं।

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृत. ।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥५९॥

अन्वयः—अथ तव मार्गणैः प्रयोजन भूभृतः पतिं किमु न नाथसे । सः
त्वद्विध सुहृदम् अर्थिनम् एत्य मेदिनीं विजित्य किम् न यच्छति ॥५९॥

अर्थ—और यदि आपको ऐसे बाण चाहिए तो हमारे स्वामी किरातपति
से क्यों नहीं माँग लेते, वह आप जैसे महानुभाव मित्र के याचना करने पर

क्या इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर न दे देंगे—ऐसा नहीं किन्तु अवश्य दे देंगे ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि आप जैसे मित्र के माँगने पर हमारे सम्पूर्ण पृथ्वी जीत कर दे सकते हैं तो इस मामूली बाण की क्या बात है !

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।
सीदतामनुभवन्निवार्थिनां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥६०॥

अन्वयः—तेन सूरिः उपकारिताधनः याचितं वृथा कर्तुं न इच्छति यत् सीदताम् अर्थिना प्रणयभङ्गवेदनाम् अनुभवन्निव वेद ॥६०॥

अर्थ—हमारे स्वामी परम विद्वान् किरातपति का उपकार करना एक मात्र धन है, वह आपकी प्रार्थना को व्यर्थ नहीं करेंगे। क्योंकि वह क्लेश उठाने वाले याचकों की याचना-भङ्ग-रूपी वेदना का मानों स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ६० ॥

टिप्पणी—अर्थात् वे याचकों की याचना के भङ्ग होने की वेदना को अपनी ही याचना के भङ्ग होने के समान मानते हैं, अतः उनसे आपकी याचना विफल हो नहीं सकती ।

शक्तिरर्थपतिषु स्वयग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाधिकबले विपत्फला ॥६१॥

अन्वयः—अर्थपतिषु शक्तिः वा निरत्ययं प्रेम स्वयद्ग्रहं कारयति । इदं कारणद्वयं निरस्यतः अधिकबले प्रार्थना विपत्फला ॥६१॥

अर्थ—अधिक पराक्रम एवं शक्ति अथवा बिना किसी विघ्न-बाधा का प्रेम—ये दो ही ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा दूसरे की वस्तु को स्वयं (स्वामी की आज्ञा के बिना ही) ले लिया जाता है। किन्तु उक्त दोनों साधनों को छोड़ कर किसी प्रबल स्वामी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा विपत्ति का कारण बनती है ॥६१॥

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य चेह भुजवीर्यशालिनः ।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ॥६२॥

अन्वयः—इह तापसेषु जामदग्न्यम् अपहाय अस्त्रवेदम् तत्त्वतः अधिगम्य —शालिनः कस्य च आयुध चरितार्थं गीयते ॥६२॥

अर्थ—इस संसार में तपस्वियों में एकमात्र परशुराम को छोड़कर भली भाँति अस्त्र विद्या को जानते हुए किस बाहुपराक्रमशाली के अस्त्र की महिमा ...र्थक रूप से जनता द्वारा गायी जाती है ॥६२॥

टिप्पणी—अर्थात् तपस्या करने वाले मुनियों में अकेले परशुराम हैं जिन्हें ...त्र विद्या कुछ कुछ ज्ञात है, तुम्हें तो कोई जानता भी नहीं अतः हमारे स्वामी ...से महान् पराक्रमी से वैर ठानना तुम्हारे लिए अच्छा नहीं है।

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृग क्षितिपते. परिग्रह.।
अक्षमिष्ट वदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥६३॥

अन्वय'—त्वया मुनिचापलात् क्षितिपतेः परिग्रह. यत् मृग. अभ्यघानि तत् ...यम् अक्षमिष्ट हि प्रमाद्यताम् दोषम् अज्ञता संवृणोति खलु ॥६३॥

अर्थ—आपने ब्राह्मण-सुलभ चञ्चलता से हमारे स्वामी किरातपति द्वारा ...ञ्छित उस वराह को जो मार दिया है, उसे हमारे स्वामी ने क्षमा कर दिया है, ...योंकि अविवेक के साथ कार्य करनेवालों के अपराध को उनकी अज्ञता ही ढँक ...देती है ॥६३॥

टिप्पणी—अर्थात् अज्ञ लोगों के अपराध नहीं गिने जाते।

जन्मवेषतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम्।
आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥६४॥

अन्वयः—जन्मवेषतपसां विरोधिनीम् अमूम् अपक्रियां पुन· मा कृथा । हि अपथे वर्तमान दुर्मतिम् उभयलोकदूषणी आपदेति ॥६४॥

अर्थ—उच्च सत्कुल में जन्म, तपस्वी वेश और तपस्या—इन सब का विरोधी दूसरे का अपकार आप पुन न करें, क्योंकि कुमार्ग पर चलने वाले दुर्बुद्धि व्यक्ति को दोनों लोकों का विनाश करनेवाली विपत्तियाँ घेर लेती हैं ॥६४॥

यष्टुमिच्छसि पितॄन्न साम्प्रतं संवृतोऽर्चिचयिषुर्दिवौकसः ।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः ॥६५॥

अन्वयः—साम्प्रतं पितॄन् यष्टु नेच्छसि सवृतः दिवौकस. अर्चिचयिषुः अ न । हे अङ्ग ! पदवीं दातुमेव क्षमोऽपि किं मृगे विशिख न्यवीविशः ॥६५॥

अर्थ—इस समय आप अपने पितरों का श्राद्ध करने के इच्छुक न हों और न देवार्चन के ही इच्छुक होंगे, क्योंकि एकान्त स्थान में ही ऐसे स्थल यह दोनों कार्य सिद्ध नहीं हो सकते। हे अङ्ग ! आप को तो उस वराह जाने के लिए मार्ग दे देना ही उचित था, फिर उस पर आपने बाण चलाया ? ॥६५॥

टिप्पणी—अर्थात् आप तपस्वी थे, आपको चाहिये था कि भाग कर उस मार्ग छोड़ देते। बिना पितृ और देव कार्य के प्राणिहिंसा करना तपस्वी का नहीं है।

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ॥६६॥

अन्वयः—सज्जनोऽसि चापल विजहीहि सर्वदा क इव वा सहिष्यते। अ भृता॰ गुरूनपि युगान्तवायव. वारिधीनिव क्षोभयन्ति ॥६६॥

अर्थ—आप सज्जन (दिखाई पड़ते) हैं, अतः चञ्चलता छोड़ दें। स आप का इस प्रकार का अपकार कौन सहन करेगा ! बारम्बार अनुचित करने वाले लोग महान धैर्यशालियों को भी उसी प्रकार से क्षुब्ध बना देते हैं प्रलयकाल की वायु समुद्रों को क्षुब्ध कर देती है ॥६६॥

टिप्पणी—उपमा से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[आप यह न सोचें कि यह किरात हमारा क्या कर सकता है, क्योंकि]

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति मावजीगणः ।
गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः ॥६७॥

अन्वयः—अयं महीपतिः अस्त्रवेदवित् पर्वतीयः इति मावजीगणः मरुत्वता इमा भुवम् गोपितुम् अनुनीय शैलवासं लम्भितः ॥६७॥

अर्थ—यह हमारे स्वामी किरातपति अस्त्र विद्या के ज्ञाता हैं, इन्हें साधारण पहाड़ी व्यक्ति समझकर तिरस्कृत मत कीजिए। देवराज इन्द्र ने इस वनस्थली की रक्षा के लिए प्रार्थनापूर्वक इन्हें इस पर्वत पर रखा है ॥६७॥

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पदः ॥६८॥

अन्वयः—तत् मुने. इद मया तितिक्षितं वचः चमूपतिः अवोचत। अत्र भवते निज बाणं दिशन् त्वमपि सर्वसम्पदः आप्नुहि ॥६८॥

अर्थ—मैंने उस तपस्वी के इस अपराध को क्षमा कर दिया है—ऐसी बात हमारे स्वामी किरातपति ने मुझसे कहा है। अब आप भी उनके बाण को वापस देके (उनसे मैत्री जोड़कर) सम्पूर्ण सम्पत्तियों की प्राप्ति कीजिए ॥६८॥

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः।
इत्यनेकफलभाजि मा स्मभूदर्थिता कथमिवार्यसङ्गमे ॥६९॥

अन्वयः—आत्मनीनम् उपतिष्ठते। गुणाः सम्भवन्ति। आपदश्च विरमन्ति। इति अनेकफलभाजि आर्यसङ्गमे अर्थिता कथमिव मा स्म भूत् ॥६९॥

अर्थ—जिसके द्वारा अपना कल्याण होता है, सदाचरणादि अनेक सद्गुण प्राप्त होते हैं, विपत्तियाँ दूर होती हैं, इस प्रकार के अनेक सुन्दर फलों को देने वाले सज्जनों की मित्रता का लोभ क्यों न किसी को हो ॥६९॥

टिप्पणी—अर्थात् इन सब गुणों से युक्त सज्जनों की सङ्गति कोई क्यों न करना चाहेगा।

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः।
साहिनीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥७०॥

अन्वयः—तिग्महेतिपृतनाभि. अन्वितः साहिवीचि· सिन्धुरिव समयसेतुना-रितः अयम् अनोकहान्तरे दृश्यताम् ॥७०॥

अर्थ—तीक्ष्ण अस्त्रों से युक्त सर्पयुक्त तरङ्गमालाओं से समन्वित समुद्र के समान उद्धत किन्तु समय-रूप सेतु से निवारित यह हमारे स्वामी किरातपति उन वृक्षों के मध्य में विराजमान हैं, देखें ॥७०॥

टिप्पणी—किरात ने यहाँ पर अर्जुन को अपने हाथों से सङ्केत करके दिखलाया है।

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः
स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन
सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥७१॥

अन्वयः—स्थेयान् यः हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीं जयन् अहिपतिस्थवीयः सज्य धनुः वहति । हे मतिमन्! अस्य मतिम् अनुकूलय, सख्या अनेन सुख चिन्तितानि समभियास्यसि ॥७१॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! जो यह अत्यन्त स्थिर, इन्द्रध्वज की लक्ष्मी को पराजित करते हुए, शेषनाग के समान स्थूल चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष धारण किये हुए हैं, (वही हमारे स्वामी हैं, आप) उनकी मति को अपने अनुकूल करें । उनके साथ मैत्री करने से बिना क्लेश के ही आप के सब मनोरथ पूरे हो जायँगे ॥७१॥

टिप्पणी—वसन्ततिलका छन्द ।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

चौदहवाँ सर्ग

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ॥१॥

अन्वयः—ततः उद्धतैः किरातस्य वचोभिः अर्णवाम्बुभिः शैलः इव पराहतः कुपितः अपि पाण्डवः धैर्यं न जहौ । हि साधवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणाः ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर समुद्र की जलराशि से अभिहत पर्वत की भाँति किरात की उद्धत बातों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यहीन नहीं हुए। सच है, सत्पुरुषों का हृदय अक्षोभणीय अर्थात् निश्चल होता है ॥१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितः कृती गिरा विस्तरतत्त्वसंग्रहे ।
अयं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः ॥२॥

अन्वयः—सलेशम् उल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितः गिरां विस्तरतत्त्वसङ्ग्रहे कृती प्रमाणीकृतकालसाधनः अयं प्रशान्तसंरम्भः इव वचः आददे ॥२॥

अर्थ—किरात की युक्तियों से भरी बातों से शत्रु के सम्पूर्ण अभिप्राय को समझकर वाक्यरचना के विस्तार एवं संक्षेप में निपुण अवसर के उपयुक्त वचन बोलने के लिये अर्जुन ने मानो क्षोभरहित होकर यह बात कही ॥२॥

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥३॥

अन्वयः—विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः द्विषाम् अपि हृदयानि प्रसादयन्ती प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती अकृतपुण्यकर्मणां न प्रवर्तते ॥३॥

अर्थ—स्पष्ट वर्ण रूपी आभरण से युक्त, सुनने में कानों को सुख देने

वाली, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्नता से विभोर करने वाली, सहज प्रसाद-गुणयुक्त और गम्भीर पदों से परिपूर्ण, वाणी (सुन्दरी स्त्री की भाँति) यथेष्ट पुण्य न करने वालों को नहीं प्राप्त होती ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रचुर पुण्य-कर्म करने वाले भाग्यशाली जनों को ही ऐसी वाणी मिलती है। सरस्वती का वाणी के अतिरिक्त एक दूसरा अर्थ -स्त्री-रत्न भी है। उस स्थिति में समासोक्ति अलङ्कार।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥४॥

अन्वयः—ते विपश्चिता सभ्यतमाः भवन्ति ये मनोगत वाचि निवेशयन्ति। तेषु अपि उपपन्ननैपुणाः कतिचित् गभीरम् अर्थं प्रकाशता नयन्ति ॥४॥

अर्थ—वे पुरुष विद्वन्मण्डली के बीच अत्यन्त सभ्य अथवा निपुण कहे जाते हैं, जो अपने सम्पूर्ण मनोगत भावों को वाणी द्वारा प्रकाशित करते हैं। उनमें भी निपुणता प्राप्त कुछ ही होते हैं, जो गूढ़ अर्थ को स्पष्ट रूप से वाणी द्वारा प्रकट करते हैं ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् संसार में पहले तो अभिप्राय ज्ञाता ही दुर्लभ होते हैं, उनमें भी वक्ता दुर्लभतर होते हैं और उनमें भी गूढ़ अर्थों के प्रकाशक तो और भी अधिक दुर्लभ होते हैं और आप में ये सब गुण वर्तमान हैं, इसलिये आप धन्य हैं। और मैं भी आपकी सब बातों का रहस्य समझता हूँ इसलिए मैं स्वयम भी उसी प्रकार का हूँ, यह भी अर्जुन के कथन का सङ्केत है।

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥५॥

अन्वयः—गुर्वीम् अभिधेयसम्पदं स्तुवन्ति अपरे विपश्चितः उक्तेः विशुद्धिम्। इति प्रतिपुरुषं रुचौ स्थितायाम् सर्वमनोरमाः गिरः सुदुर्लभाः ॥५॥

अर्थ—कुछ विद्वान् लोग वाणी में अर्थ-सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि वक्ता का सबसे अधिक प्रशंसनीय गुण शब्द शुद्धि है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी बहुत ही दुर्लभ है जो सब को एक-सी मनोहारिणी मालूम पड़ती है अथवा जो शब्द और अर्थ दोनों प्रकार से मनोहर होती है ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारी वाणी सर्वं मनोहर है।

समस्य सम्पादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम्।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य्य वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः ॥६॥

अन्वयः—धुर्य्य ! समारोपितभार ! इमां भारतीम् गुणैः समस्य प्रगल्भं सम्पादयता त्वया वनेचरेण सता अपि आत्मा वाग्मिनाम् धुरि अधिरोपितः ॥६॥

अर्थ—हे वनेचर ! तुममें कार्य निर्वाह करने का बहुत बड़ा गुण है इसीलिए तुम्हारे स्वामी ने तुम पर यह कार्य भार अर्पित किया है। तुमने उक्त वाक्य-गुणों से योजित कर अपनी वाणी को निर्भीक होकर प्रयुक्त किया है। वनवासी होकर भी तुमने योग्य वक्ताओं से भी अपने को आगे बढ़ा लिया है ॥६॥

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥७॥

अन्वयः—साम प्रयुज्य विलोभनम् आचरितं धियः विभेदाय भयं प्रदर्शितम्। शिलीमुखार्थिना तथा अभियुक्तं यथा इतरत् न्याय्यम् इव अवभासते ॥७॥

अर्थ—तुमने प्रिय भाषण करके प्रलोभन पैदा किया, बुद्धि को विचलित करने के लिए भय दिखलाया, बाण प्राप्त करने की कोशिश की इच्छा से तुमने इस प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है, जो अन्याय से भरी होने पर भी न्याय-युक्त के समान प्रतिभासित हो रही थी ॥७॥

टिप्पणी—इसी से मालूम पड़ता है कि तुम बड़े निपुण वक्ता हो। उपमा अलङ्कार।

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः ।
हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ॥८॥

अन्वयः—सिद्धेः विरोधि इति कर्तुम् उद्यतः सः भूपतिः भवता किं न वारितः । भूतिम् इच्छता सहार्थनाशेन अनुजीविना नृपः हिते नियोज्यः खलु ॥८॥

अर्थ—किन्तु फल-सिद्धि का विरोधी कार्य करने के लिए उद्यत अपने स्वामी को तुमने मना क्यों नहीं किया । क्योंकि अपने कल्याण के इच्छुक एवं समान सुख-दुःख भागी सेवक को चाहिये कि वह अपने स्वामी को कल्याण के पथ पर ही अग्रसर करे ॥८॥

टिप्पणी—क्योंकि यदि वह स्वामी को अनिष्टकर कार्यों से मना नहीं करता तो स्वामी के साथ द्रोह करने का पातक तो लगेगा ही, अपना अनिष्ट भी होगा ।

ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥९॥

अन्वय.—प्रहितस्य पत्रिणः प्रणाशः ध्रुव तस्य शिलोच्चये विमार्गणं नय. अत्र आर्यजनातिलङ्घनम् न युक्तम् । हि सतां अतिक्रमः अपायम् दिशति ॥९॥

अर्थ—धनुष के फेंके गये बाण का विलोप होना निश्चित है, किं उसका पर्वतीय प्रदेश में ढूँढ़ना तो (सज्जनों के लिए) उचित ही है । औ इस विषय में सज्जनों के मार्ग का अतिक्रमण करना (जैसा कि तुम कर रहे हो अनुचित है, क्योंकि सज्जनों का अतिक्रमण अनर्थ का कारण होता है ॥९॥

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता ।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥१०॥

अन्वय.—खाण्डवम् अत्तुम् इच्छता अग्निना मम अतीतसंख्या शिलीमुखा विहिता. । अमरसायकेषु अपि अनादृतस्य कथं शैलजनाशुगे धृतिः स्थिता ॥१०॥

अर्थ—खाण्डव नामक इन्द्र के वन को उदरस्थ करने के इच्छुक अग्निदेव

मुझे असंख्य बाण प्रदान किये थे। अतएव देवता द्वारा प्रदत्त बाण में भी आदर की भावना न रखने वाले मेरे लिए एक पहाड़ी व्यक्ति के बाण में इस प्रकार की आस्था (लालच) किस प्रकार से हो सकती है ॥१०॥

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥११॥

अन्वयः—आर्यचेष्टितं प्रमाणीकृतं यदि अदोषेण वयं किमिति तिरस्कृताः हि परिवादगोचरम् अयातपूर्वा सतां वाणी गुणम् एव भाषते ॥११॥

अर्थ—यदि सज्जनों के चरित्र को ही प्रमाण मानते हो तो फिर दोष के न होने पर भी हमारा तिरस्कार क्यों किया। (अर्थात् तुमने यह अनुचित कार्य किया है—) सच है, जो सज्जनों की वाणी पहले कभी किसी व्यक्ति की निन्दा करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुई रहती वह गुण की ही चर्चा करती है, (दोष की नहीं) ॥११॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि तुम्हारी वाणी सज्जन के विषय में भी जो मिथ्या दोष का आरोप लगा रही है, उससे यह स्पष्ट है कि सदाचार को तुम प्रमाण नहीं मानते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम् ।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ॥१२॥

अन्वयः—गुणापवादेन तदन्यरोपणात् समञ्जसं जनम् भृशाधिरूढस्य निगूहतः हृदयं असाधोः स्फुरन् वागसिः द्विधा कृत्वा इव विवृणोति ॥१२॥

अर्थ—विद्यमान गुणों को छिपाकर उनके स्थान पर अविद्यमान दोष का आरोप कर सज्जन व्यक्ति पर बुरी तरह से आक्रमण करने वाले एवं अपने हृदय के भावों को छिपाकर रखने वाले व्यक्ति के हृदय को उस दुर्जन का वचन-रूपी तीक्ष्ण खड्ग ही मानों दो टुकड़ों में काटकर प्रकाशित कर देता है ॥१२॥

टिप्पणी—अर्थात् दुर्जन जब किसी साधु पुरुष के गुणों को छिपाकर उन पर अवगुण का आरोप करना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि उनकी माया

को कोई जान न सके तब ऐसे अवसरों पर उनकी वाणी की कटार ही उनके हृदय को काटकर प्रकट कर देती है। वे जो कुछ छिपाकर रखना चाहते हैं, वह उनकी वाणी से ही प्रकट हो जाता है। रूपक अलङ्कार।

वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणोति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः ॥१३॥

अन्वयः—वनाश्रयाः मृगाः कस्य परिग्रहाः यः तान् प्रसभेन शृणाति ते तस्य अत्र नृपेण मानिता प्रहीयता मानिता च अस्ति श्रियः च न भवन्ति ॥१३॥

अर्थ—वन मे निवास करने वाले पशु भला किसके अधीन हैं? जो उन्हें पराक्रमपूर्वक मारता है, वे उसी के हैं। अतएव इस सूकर के सम्बन्ध में तुम्हारे राजा को चाहिये कि वह इस पर अपना अधिकार है—यह अभिमान करना छोड़ दें। क्योंकि केवल अभिमान मात्र से सम्पत्ति अपने अधीन नहीं हो जाती ॥१३॥

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलङ्क्रिया ॥१४॥

अन्वयः—कस्मैचित् अपि वर्त्म न प्रदीयताम् इति व्रत महर्षिणा मे विहितम् अस्मात् जिघांसु. मृगः मया निहतः। हि व्रताभिरक्षा सताम् अलङ्क्रिया ॥१४॥

अर्थ—किसी को भी अपने आश्रम में प्रवेश मत करने देना—इस प्रकार के व्रत-पालन की आज्ञा महर्षि व्यास ने मुझे दी थी। इसीलिए मैंने मुझे मारने की इच्छा से दौड़कर आने वाले इस वराह को मारा है। व्रत की रक्षा करना सत्पुरुषों के लिए शोभा की वस्तु है ॥१४॥

टिप्पणी—अर्थात् मैंने अपनी रक्षा के लिए इसका वध किया है, अकारण नहीं।

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छता तपः।
कृपेति चेदस्तु मृग. क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः ॥१५॥

अन्वय.—स्वहेतुना मृगान् विनिघ्नन् मृगयुः तपः इच्छता कथ कृतोपकारः

चेत् कृपा इति अस्तु मृगः क्षणात् क्षतः अनेन पूर्वं मया न इति का गति. ॥१५॥

अर्थ—अपने स्वार्थ के लिए पशुओं को मारने वाले शिकारी तपस्वियों का भला क्या उपकार कर सकते हैं ? और यदि यह कहते हो कि मेरे स्वामी की कृपा है तो फिर रहने दो, व्यर्थ मे झगड़ने से क्या लाभ ? पशु को हम दोनों ने एक ही क्षण में मारा है। और यदि तुम यह कहो कि तुम्हारे स्वामी ने पहले मारा है और मैंने बाद में तो मैं कहूँगा कि इसमें प्रमाण ही क्या है ? ॥१५॥

अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा ।
शरासनं बिभ्रति सज्यसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते ॥१६॥

अन्वयः—अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनौ कृपा इति वृत्तिः महताम् अकृत्रिमा सज्यसायकम् शरासनम् बिभ्रति सः कथ कृतानुकम्पः प्रतीयते ॥१६॥

अर्थ—किसी अस्त्र-शस्त्र से विहीन तपस्वी को यदि कोई हिंस्र-जन्तु मारना चाहता है तो उस पर अनुकम्पा करना तो महान् पुरुषों का सहज धर्म है, किंतु धनुष पर डोरी चढ़ाकर बाण सन्धान करने वाले मुझ जैसे तपस्वी पर उन्होंने किस प्रकार से अनुकम्पा की है, यह मै कैसे मान सकता हूँ ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् असमर्थ और निस्सहाय पर दया करना तो उचित है, किंतु जो स्वय अपनी रक्षा मे समर्थ हो उसकी रक्षा के लिए दया का प्रश्न ही कहाँ उठता है ।

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।
अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपते. ॥१७॥

अन्वयः—अथो तेन मदर्थम् शरः उज्झितः तस्य फलम् च प्रतिकायसाधनम् अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते चमूपतेः अधिका कृतार्थता ननु ॥१७॥

अर्थ—अच्छा मैं पूछता हूँ कि तुम्हारे स्वामी ने मुझे बचाने के लिए ही यह बाण चलाया था तो उनके बाण चलाने का परिणाम यही था न कि उस मेरे शत्रु वाराह का नाश हो। वह तो हो ही गया और मैंने उसे अपने अधीन कर लिया तो ऐसी स्थिति में आपके सेनापति की तो और अधिक सफलता हुई न ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् उनके उस एक बाण से पर-रक्षा, शत्रुवध तथा उचित पात्र में प्रतिपादन—ये तीन फल प्राप्त हुए।

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम्।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः ॥१८॥

अन्वयः—सः कामं भवता याच्यताम् इति यत् आत्थ एतत् अनल्पचेतसां न क्षमं प्रसह्य आहरणैषिणाम् परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः ॥१८॥

अर्थ—तुम जो यह कह रहे हो कि मैं तुम्हारे स्वामी से बाण माँग लूँ तो यह मनस्वी लोगों के लिए उचित नहीं है। क्योंकि जो बलपूर्वक हरण करने के इच्छुक होते हैं, उन्हें याचना-रूपी दीनता से मलिन सम्पत्ति क्यों अच्छी लगने लगी? ॥१८॥

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ॥१९॥

अन्वयः—तव नृपः अभूतम् आसज्य अलभ्यं विरुद्धं ईहितम् बलात् लिप्सते। हि अनयस्य रौद्रतां विजानतः अपि मतिः अपाये परिमोहिनी भवति ॥१९॥

अर्थ—तुम्हारे स्वामी मिथ्या अभियोग लगाकर, एक अलभ्य एवं विपरीत फल देने वाली वस्तु को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहते हैं। सच है, अनीति की भयङ्करता से परिचित होकर भी मनुष्य की बुद्धि विनाश के समय विपरीत हो जाती है ॥१९॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याञ्चया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः ॥२०॥

अन्वयः—असिः शराः वर्म उच्चकैः धनुः च ते ईश्वरेण विविच्य किं न प्रार्थितम्। अथ शक्तिः अस्ति याञ्चया कृतम् एव शक्तिमतां स्वयंग्रहः न दूषितः ॥२०॥

अर्थ—तलवार, बाण, कवच या उत्कृष्ट धनुष—इन सब वस्तुओं में से

चुनकर तुम्हारे स्वामी ने कोई वस्तु नहीं माँगी? (मैं इनमें से कोई भी वस्तु उन्हें दे सकता हूँ।) और यदि उनके पास शक्ति है तो फिर याचना की जरूरत क्या है? क्योंकि शक्तिशाली लोग यदि किसी की कोई वस्तु स्वय ले लेते हैं तो उसमें उन्हें दोष नहीं होता ॥२०॥

सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयासूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥२१॥

अन्वयः—सः कथ त्वया युक्तः सखा कथितः यः तपस्यते यदृच्छया असूयति । हि गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः सता प्रकृत्यमित्राः ॥२१॥

अर्थ—तुम अपने स्वामी को मेरे लिए योग्य मित्र कैसे बतला रहे हो, क्योंकि जो तपस्वी जनों से भी अपने आप ही ईर्ष्या करता है, (वह अच्छा मित्र नहीं हो सकता।) क्योंकि गुण एकत्र करने के विरोधी असज्जन लोग सज्जनों के सहज वैरी होते हैं ॥२१॥

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥२२॥

अन्वयः—वर्णाश्रमरक्षणोचिताः वय क्व जातिहीनाः मृगजीवितच्छिदः क्व अपकृष्टैः सह महता सङ्गत न । दन्तिनः गोमायुसखाः न भवन्ति ॥२२॥

अर्थ—वर्ण एव आश्रम धर्म की मर्यादा की रक्षा में तत्पर हम कहाँ, और जाति-विहीन पशुओं को मारकर जीविका चलाने वाले हिंसक तुम्हारे स्वामी कहाँ? उक्त रीति से जाति एव वृत्ति से नीच व्यक्ति के साथ हमारी मैत्री उचित नहीं है। हाथी सिआरों के मित्र नहीं होते ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम् ।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥२३॥

अन्वय—अज्ञताजडः परः अवजानाति यत् तत् उन्नताना धीरता न विहन्ति समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः अतिक्रान्ति करोति असौ तिरस्क्रिया ॥२३॥

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख जो सज्जनों का अपमान करता है, उससे महान् ल
अधीर नहीं होते। किन्तु समान पराक्रम, वश और पौरुष वालों में से यदि
अतिक्रमण करता है तो वही उनका तिरस्कार होता है ॥२३॥

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ॥२४॥

अन्वयः—यदा विगृह्णाति तदा यशः हत अथ मैत्रीं करोति गु
दूषिताः इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य परीक्षकः पृथग्जनम् अवज्ञोप
करोति ॥२४॥

अर्थ—सज्जन लोग जब नीच लोगों के साथ वैर-विरोध करते हैं तो उ
उनकी कीर्ति नष्ट होती है, और यदि मित्रता करते हैं तो उससे उनके
दूषित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही तरह से अपनी मर्यादा की ह
समझ कर विचारवान लोग नीच व्यक्ति की अवज्ञा के साथ उपेक्षा ही क
हैं ॥ २४ ॥

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः ॥२५॥

अन्वयः—अनेन हेतुना मया मृगान् हन्तुः विरुद्ध आक्षेपवचस्तितिक्षित
अथ शरार्थम् एष्यति दृष्टिविषात् शिरोमणिं जिघृक्षतः गतिं लप्स्यते ॥२५॥

अर्थ—इसी कारण से मैंने पशुओं के हत्यारे तुम्हारे स्वामी किरात
कठोर एवं आक्षेपभरी बातें सहन की हैं। और यदि इसके बाद भी वह बाण
लिए आना चाहेंगे तो दृष्टिविष नामक भयङ्कर सर्प से मणि ग्रहण करने व
की जो दुर्गति होती है, उसी को वह भी प्राप्त करेंगे ॥२५॥

इतीरिताकूतमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा।
ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ॥२६॥

अन्वयः—इति ईरिताकूतम् अनीलवाजिनम् दूतः जयाय तेजसा प्रतितर्ज्य
ध्वजिनीम् उपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः समीप ययौ ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार वह दूत अपना अभिप्राय प्रकट करने वाले अर्जुन को अपने तेज से चमकाकर विजय प्राप्ति के लिए सेना लेकर उपस्थित प्रसन्नस्वरूप त्रिलोचन के पास पहुँच गया ॥२६॥

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्रादवती महाचमूः ।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिवीचिसंहतिः ॥२७॥

अन्वयः—ततः पताकिनीपतेः अपवादेन निर्ह्रादवतीः महाचमूः युगान्तवाताभिहता अम्भोनिधिवीचिसंहतिः निनाद कुर्वती इव चचाल ॥२७॥

अर्थ—तदनन्तर सेनापति के आदेश से भयङ्कर शब्द करने वाली वह किरात-सेना प्रलयकालिक झंझावात से उठी हुई समुद्र की लहरों के समान गर्जन करती हुई आगे बढ़ी ॥२७॥

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसन्ततिः ।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः ॥२८॥

अन्वयः—जैत्रः तरङ्गितालम्बितकेतुसन्ततिः सघनाम्बुशीकरः सुरभिः समीरणः रणाय त्वरां प्रदिशन् इव बलानां पुरः शनैः प्रतस्थे ॥२८॥

अर्थ—उस अवसर पर अनुकूल एवं सुगन्धि पूर्ण वायु जल की घनी बूँदों को साथ लेकर सेना की पताकाओं के समूह को फड़फड़ाती हुई मानों अर्जुन और किरातपति के युद्ध में जल्दी करने की प्रेरणा देती हुई उस सेना के आगे-आगे धीरे धीरे चल पड़ी ॥२८॥

टिप्पणी—अनुकूल वायु का बहना विजय का सूचक था ।

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः ।
असम्भवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः ॥२९॥

अन्वयः—जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः भूधरराजकुक्षिषु असम्भवन् गां प्रकम्पयन् दिशः अवतस्तरे ॥२९॥

अर्थ—बन्दी तथा मागधों के जय-जयकार एवं वीरों के सिंहनाद से वर्द्धित होकर धनुष की डोरी की टंकार और ढाल की प्रचण्ड ध्वनियाँ पर्वतराज हिमा-

लय की कन्दराओं में न समाकर धरती को कँपाती हुई सभी दिशाओं में फैल गयीं ॥२९॥

निशातरौद्रेषु विकासतां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम्।
वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ॥३०॥

अन्वयः—निशातरौद्रेषु वनेसदा हेतिषु भिन्नविग्रहैः विकासता गतैः रश्मिमतः मरीचिभिः ककुभा अन्तर प्रदीपयद्भिः इव विपुस्फुरे ॥३०॥

अर्थ—तीक्ष्ण होने के कारण अत्यन्त भयङ्कर उन किरातों के शस्त्रों पर सङ्क्रान्त होकर अत्यधिक विकास को प्राप्त अंशुमाली सूर्य की किरणें दिशाओं के अन्तराल को मानों प्रज्वलित-सी करती हुई सुशोभित होने लगीं ॥३०॥

उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारित चापमण्डलः।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गणानामुपरीव मध्यगः ॥३१॥

अन्वयः—उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखः विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः आयत पक्षद्वय वितत्य गणाना मध्यगः उपरि इव बभौ ॥३१॥

अर्थ—अपने विशाल वक्षस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को [illegible] दित करते हुए तथा प्रत्यञ्चा के आकर्षण से धनुर्मण्डल को भयङ्कर श[illegible] युक्त करते हुए भगवान् शङ्कर ने अपने प्रभाव से अपने दोनों ओर की [illegible] भूमियों को व्याप्त कर लिया। प्रमथ गणों के बीच में स्थित होते हुए भी वह उस समय सर्वोपरि स्थित के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३१॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ वनं निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ॥३२॥

अन्वय.—सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैः जवात् अहपूर्विकया यियासुभिः गणैः अविच्छेदनिरुद्धम् आकुलाकुल वन निरुच्छ्वासम् इव आबभौ ॥३२॥

अर्थ—सुगम अथवा दुर्गम—दोनों ही प्रकार की भूमि पर एक समान चलने वाले, वेग के साथ, मैं पहले चलूँ, मैं पहले चलूँ, इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा से भरे हुए आक्रमणकारी प्रमथ गणों से वह वन निरन्तर अवरुद्ध होकर इस प्रकार से अत्यन्त आकुल हो गया मानों उसका दम घुट-सा रहा हो ॥३२॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नुवानाः सहसातिरिक्तताम्।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥३३॥

अन्वय'—किरातसैन्यैः तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः भुवः सहसातिरिक्तताम् समश्नुवानाः अपिधाय रेचिता क्षण निम्नतया भेजिरे इव ॥३३॥

अर्थ—किरातवाहिनी से उस पर्वतीय भूमि के खड्ढे, लताकुञ्ज और तट-प्रदेश सब व्याप्त हो गये थे। वह शीघ्र ही अतिरिक्तता को प्राप्त हो जाती थी अर्थात् उभरी-सी दिखाई पड़ने लगती थी, किन्तु फिर तुरन्त ही सेना के आगे बढ़ जाने पर जब वह रिक्त हो जाती थी तब मानो गभीर होकर नीची दिखलाई पड़ने लगती थी ॥३३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

पृथूरुपर्यस्तबृहल्लतातति र्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना।
गणानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ॥३४॥

अन्वय—पृथूरुपर्यस्तबृहल्लताततिः जवानिलाघूर्णितशालचदना परितः प्रसारिणी गणानां सहतिः वनानि अवाञ्चि इव चकार ॥३४॥

अर्थ—अपनी विशाल जङ्घाओं से लताओं के गहन जालों को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई तथा अपने वेग की वायु से शाल एव चन्दन के वृक्षों को झकझोरती हुई, चारों ओर फैली हुई प्रमथों की वह सेना मानों सम्पूर्ण वन प्रदेश को अधोमुख-सा करने लगी थी ॥३४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

[नीचे के आठ श्लोकों में अर्जुन की युद्ध की तैयारी का वर्णन है—]

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम्।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥३५॥

अनादरोपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम्।
शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ॥३६॥

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानपायिनि ।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥३७॥

उपेयुषीं विभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः ।
पुरः समावेशितसत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हूतमध्वरे ॥३८॥

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा ।
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥३९॥

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।
समुज्जिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥४०॥

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः ।
मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनम् ॥४१॥

गुरुक्रियारम्भफलैरलंकृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः ।
गणाः समासेदुरनीलवाजिनं तपात्यये तोयघना घना इव ॥४२॥

अन्वय.—ततः सदर्पं तपस्यया प्रतनुं मदस्रुतिक्षामम् एकवारणम् इव भूभृताम् निधनाय परिज्वलन्तम् आशाः दहन्तम् जातवेदसम् इव। अनादरोपात्तधृतैकसायकम् अनुकूले सुहृदि इव जये सस्पृहम् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ शनैः नयने निवेशयतम्। आपत्प्रतिकारकारणे अनपायिनि शरासने धैर्ये इव निषण्णं प्रकृतौ स्थितम् अपि अलङ्घनीयं निवातनिष्कम्पम् आपगापतिम् इव। अदूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः वधात् उपेयुषीं अन्तकद्युतिं बिभ्रन्तम् द्विजैः अध्वरे हूतम् पुरः समावेशितसत्पशुं पशूनाम् पतिम् इव। निजेन भूयसा धैर्यगुणेन विजितान्यगौरवं तथा गभीरतां नीतम् घनोरुवीरुधा वनोदयेन समन्धकारीकृतम् उत्तमाचलम् इव। महर्षभस्कन्धम् अनूनकन्धरम् बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा महाभरां जगतीं समुज्जिहीर्षुं महतः अर्णवात् महावराहम् इव। हरिन्मणिश्यामम् उदग्रविग्रहम् देहिनः परिभूय प्रकाशमानं जलादर्शे अंशुमालिनम् इव मनुष्यभावे स्थितं पुरातनं पुरुषम्। गुरुक्रियारम्भफलैः अलङ्कृतं जगत्प्रमाथिनः प्रतापस्य गतिं अनीलवाजिनं गणाः तपात्यये तोयघनाः घनाः इव समासेदुः ॥३५—४२॥

अर्थ—तदनन्तर स्वाभिमान से भरे हुए, कठोर तपस्या से दुर्बल होने के

रण मदबल के क्षरण से दुर्बल एकाकी गजराज की भाँति एवं अपने शत्रु ओं के विनाश के लिए परम तेज से युक्त होने के कारण दिशाओं को जलाते हुये अग्नि के समान (अर्जुन के समीप वे प्रमथ गण पहुँचे। आगे के भी विशेषण अर्जुन के लिए ही आए हैं—) अर्जुन ने बड़ी उपेक्षा से अपने तरकस से केवल एक बाण निकाल कर हाथ में लिया था, अनुकूल मित्र की भाँति अपनी विजय में उन्हें अडिग विश्वास था, बाण के न वापस करने से प्रतिकार के लिए क्षुब्ध उस सैन्य समुद्र की ओर उन्होंने धीरे से (उपेक्षा के साथ) अपनी आँखें फेरीं। उन्होंने आपत्तियों को दूर करने में एक मात्र साधनभूत अपने सुदृढ़ गाडीव धनुष का अपने सुदृढ़ धैर्य के समान सहज भाव से अवलम्बन लिया। यद्यपि वह अपनी सहज स्थिति में थे तथापि अलङ्घनीय एवं वायु के अभाव से निष्कम्प समुद्र के समान दिखाई पड़ रहे थे। अपने से थोड़ी ही दूर पर गिरे हुए वराह के वध के कारण वह अन्तक अर्थात् मृत्यु के समान भीषण कान्ति धारण कर रहे थे, उस समय उनकी शोभा यज्ञादि में ब्राह्मणों द्वारा आमन्त्रित साक्षात् महाकाल रुद्र के समान थी, जिनके समक्ष यज्ञीय पशु पड़ा हो। अपने महान धैर्य रूपी गुण से अन्य लोगों के गौरव को जीतकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गए थे। इसीलिए उस समय वह अत्यन्त सघन एवं चारों ओर विस्तृत लता वितानों से व्याप्त एक नूतन वन के प्रादुर्भाव के कारण चारों ओर से अंधकाराच्छन्न होकर दुर्गम महान् पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे। उनके विशाल स्कंध महान् वृषभ के समान थे। उनकी ग्रीवा अत्यन्त स्थूल थी। उनका वक्षस्थल विशाल पत्थर की चट्टान के समान कठोर था। इस प्रकार से अत्यन्त भार से युक्त इस पृथ्वी का उद्धार करने की इच्छा से वह उस क्षण महान समुद्र में विराजमान महा वराह के समान दिखाई पड़ रहे थे। उनके शरीर की आभा मरकतमणि के समान श्यामल थी, उनकी उदार मूर्ति समस्त प्राणियों को तिरस्कृत कर के अत्यन्त प्रकाशमान थी। जल-रूप दर्पण में चमकते हुए अंशुमाली के समान मनुष्य योनि में स्थित वह बदरी वन निवासी पुराण पुरुष नारायण के सहचर नर नामक देव अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी दुरति के महान् दर्पों से विभूषित थे, विश्वविजयी तेज के आश्रय थे। ऐसे पूर्वोक्त

विशेषणों से युक्त महाबली अर्जुन के समीप वे (किरात वेशधारी) शिव के प्रमथ गण इस प्रकार से पहुँचे जिस प्रकार से ग्रीष्म के अन्त में वर्षाकालिक मेघ गण पर्वत के समीप पहुँचते हैं॥३५-४२॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में उपमा अलङ्कार है, द्वितीय में स्वभावोक्ति है, छठें श्लोक में उपमा अलङ्कार है। आठवें में भी उपमा अलङ्कार है।

यथास्वमाशासितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे।
ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥४३॥

अन्वयः—पुरा यथास्वम् आशसितविक्रमाः परे मुनिप्रभावक्षततेजसः क्षणात् अप्रतिपत्तिमूढता ययुः। महानुभावः पौरुषम् प्रतिहन्ति ॥४३॥

अर्थ—पहले तो प्रत्येक प्रमथ सैनिक को यह विश्वास था कि मैं पहुँचते ही अर्जुन को जीत लूँगा किन्तु बाद में उस तपस्वी के प्रभाव से उनका तेज नष्ट हो गया। वे क्षण भर में ही किंकर्त्तव्यविमूढ हो गए। सच है, अत्यन्त प्रतापी लोग दूसरों की चेष्टाओं को व्यर्थ बना देते हैं ॥४३॥

ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः।
महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ॥४४॥

अन्वयः—ततः अपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः तैः तत्र समम् एव प्रजह्रे—सहायसाध्याः सिद्धयः महोदयानाम् अपि सङ्घवृत्तिता प्रदिशन्ति ॥४४॥

अर्थ—तदनन्तर वे प्रमथगण परस्पर एक दूसरे की सहायता पाकर दृढ बल हो एक साथ ही अर्जुन पर प्रहार करने लगे। कार्य की सिद्धियाँ सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अतः वे महान् लोगों को भी संघ-वृति का आश्रय लेने की प्रेरणा देती हैं ॥४४॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिताः समं समुत्पेतुरुपात्तरंहसः।
महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः ॥४५॥

अन्वयः—उरुचापनोदिताः उपात्तरंहसः प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः महावनात् उन्मनसः खगाः इव किरातसैन्यात् समं समुत्पेतुः ॥४५॥

अर्थ—प्रमथों के विशाल धनुषों से चलाये गये वेगशाली बाणवृन्द दोनों पत्तों से सरसर ध्वनि करते हुए किरातों की सेना से इस प्रकार से एक साथ ही चल पड़े जैसे किसी महा वन से कहीं अन्यत्र जाने के इच्छुक पक्षियों के समूह चल पड़ते हैं ॥४५॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृतः प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु।
धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः ॥४६॥

अन्वयः—गभीररन्ध्रेषु महीभृत सानुषु प्रतिस्वनैः भृशं उन्नमितेन जवात् उपेयुषा धनुर्निनादेन दिशः विभिद्यमानाः इव दध्वनुः ॥४६॥

अर्थ—अत्यन्त गम्भीर गुफाओं वाले पर्वत के शिखरों की प्रतिध्वनि से अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त, वेग से छूटते हुए धनुष के टंकारों से दिशाएँ मानों विदीर्ण होती हुई गभीर ध्वनि करने लगीं ॥४६॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा।
महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः ॥४७॥

अन्वय.—भूरुहां गहनानि विधूनयती तिरोहितोपान्तनभोदिगतरा गणमार्गणावलिः अनिलेरिता महीयसी वृष्टिः इव रवं वितेने ॥४७॥

अर्थ—वृक्षों के वनों को कँपाती हुई एवं चारों ओर से आकाश और दिशाओं को आच्छादित करती हुई वह प्रमथगणों की बाणपंक्तियाँ वायु से प्रेरित मूसलाधार वृष्टि के समान घनघोर शब्द करने लगीं ॥४७॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥४८॥

अन्वय.—ऋतूनाम् त्रयीं अनिलाशिनः सतः रणाय प्रहृष्यतः जिष्णोः वपुषि पोषं प्रयाति शिथिलेन वर्मणा विदुषेव सत्वरं घनत्वम् ईये ॥४८॥

अर्थ—छः महीने से केवल वायु का आहार करने के कारण दुर्बल अर्जुन का शरीर जब रणोत्साह उत्पन्न होने पर पुष्ट हो गया तब पहले ढीला पड़ने

चाला उनका कवच भी मानों उनकी इच्छा को जानते हुए शीघ्र ही सघन (कर
हो उठा ॥४८॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषतः ।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा वलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥४६॥

अन्वयः—रोदसी समन्ततः वितत्य पतत्सु शस्त्रेषु धनुः दुधूषतः तस्य भीषणा विनिपातशसिनी दृष्टिः उल्का इव बलेषु सरोष पपात् ॥४६॥

अर्थ—पृथ्वी और आकाश मण्डल को चारों ओर से व्याप्त कर जब प्रमथों के बाण समूह चलने लगे तब अपने गाडीव नामक धनुष को प्रकम्पित करने के इच्छुक अर्जुन ने अपनी अत्यन्त भयकर, विनाश की सूचना देने वाली दृष्टि उल्का के समान प्रमथ सैनिकों पर डाली ॥४६॥

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम् ।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः ॥५०॥

अन्वयः—क्षयकालदारुणः मुनिः इषुभिः दिशः समूहन् इव रवेः प्रभा विक्षिपन् इव अनिलम् आकुलयन् इव सशैला क्षितिं चलयन् इव चचाल ॥५०॥

अर्थ—प्रलय काल के समान भयङ्कर तपस्वी अर्जुन (उस समय) अपने बाणों से मानों दिशाओं को एकत्र करते हुए, सूर्य की किरणों को नीचे फेंकते हुए, वायु को व्याकुल करते हुए एव पर्वतों समेत सम्पूर्ण धरती को विचलित करते हुए-से चलने लगे ॥५०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः ।
स निर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ॥५१॥

अन्वय.—आशसितशत्रुनिर्जय. वनेचरै. एकावसर विमुक्तम् अनेकम् आयुधम् स. क्रियाफलम् अतिपातित॰ काल॰ इव अतरा शरै. निर्जघान ॥५१॥

अर्थ—शत्रु को जीतने के आकाक्षी किरातों ने एक साथ ही जिन हथियारों को अर्जुन के ऊपर छोड़ा था उन्हें अर्जुन ने बीच ही में इस प्रकार से

अपने बाणों से काट डाला जिस प्रकार से बिताया हुआ काल क्रिया के फल को नष्ट कर देता है ॥५१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से उपयुक्त अवसर बिता देने से क्रिया-फल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार से किरातों के हथियारों को अर्जुन ने अपने बाणों से बीच ही में काट डाला। उपमा अलङ्कार।

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः ।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पांडुनन्दनः ॥५२॥

अन्वयः—पाण्डुनन्दनः परेषां अविभावनीयतां गतैः विपदं निवारयद्भिः विदूरगैः बृहत्फलैः शरैः उपायैः इव भृशं उपचितः बभूव ॥५२॥

अर्थ—पाण्डुपुत्र अर्जुन दूसरों द्वारा न दिखाई पड़नेवाले, विपत्तियों को दूर करनेवाले, दूरतक जानेवाले, विशाल फलों से युक्त अपने बाणों द्वारा (दूसरों से न दिखाई पड़नेवाले, विपत्तियों का प्रतीकार करने में समर्थ, दूरगामी, तथा सुदूर पर विपुल परिणामदायी) साम-दामादि उपायों के समान अत्यन्त समृद्ध हो गये ॥५२॥

टिप्पणी—श्लेष अलङ्कार। किन्हीं किन्हीं के मत से उपमा अलङ्कार।

दिवः पृथिव्याः ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजसः ।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरादिति तेऽभिमेनिरे ॥५३॥

अन्वयः—अथ शराः दिवः पृथिव्याः ककुभां मण्डलात् नु उत तिग्मतेजसः बिम्बात् सकृद्विकृष्टात् कार्मुकात् मुनेः शरीरात् पतन्ति इति ते अभिमेनिरे ॥५३॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन के उन बाणों को देखकर उस समय प्रमथगणों ने यह समझा कि ये शरसमूह मानों आकाशमंडल से, या पृथ्वी मंडल से, या दिङ्मंडल से, अथवा सूर्यमण्डल से, अथवा एक बार खींचे गए इस तपस्वी के धनुष से, अथवा इसके शरीर से—जाने कहाँ से इस प्रकार निकल रहे हैं ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि ।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥५४॥

अन्वयः—मर्मविदारणैः अपि गणाधिपाना परासुताम् अविधाय निर्गतैः तस्य पत्रिभिः कृतापराधैः इव अधोमुखैः जवात् हिमवान् अतीये ॥५४॥

अर्थ—मर्मस्थलों को विदीर्ण कर के भी प्रमथगणों का प्राण-नाश न करके उनके शरीर से बाहर निकले हुए अर्जुन के शरसमूह मानों अपराधी की भाँति नीचे मुख किए हुए बड़े वेग के साथ हिमालय में प्रविष्ट हो गये ॥५४॥

टिप्पणी—प्रमथगण तो अमर थे अतः उनका प्राण-हरण करना अर्जुन के अमोघ बाणों से भी संभव नहीं था। अतः अपने उद्देश्य में असफल उन बाणों को लज्जित होकर शिर नीचा करके कहीं छिप जाना ही उचित था। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥५५॥

अन्वयः—प्रथमे शिलीमुखाः द्विषा देहावरणानि विभिद्य याः क्षतीः चक्रिरे तासु पुनः मुनेः विशिखैः न पेते। हि अरुन्तुदत्व महता अगोचरः ॥५५॥

अर्थ—अर्जुन के प्रथम बार छोड़े गये बाणों ने शत्रुओं के कवचों का भेदन कर उनके शरीरों पर जो घाव किए थे, उन पर दूसरी बार छोड़े गये उनके बाणों ने पुनः प्रहार नहीं किया। सच है, महान लोग सताए हुए लोगों को नहीं सताते ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः ।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम् ॥५६॥

अन्वयः—यावदराति समुज्झिता चापात् सहैव निर्यती मुनिबाणसंहतिः उमापते. चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिम् इव सङ्कोच निनाय ॥५६॥

अर्थ—संख्या में जितने शत्रु थे, उतने ही छोड़े गए अर्जुन के बाणों ने गाण्डीव से एक साथ निकलते हुए भगवान शङ्कर की उस किरात-सेना को इस प्रकार से सङ्कुचित कर दिया जिस प्रकार से चन्द्रमा की किरणें पङ्कजों की पंक्तियों को संकुचित कर देती हैं ॥५६॥

अजिह्ममोजिष्ठममोघमक्लमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्नियोजितम् ।
प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विषः ॥५७॥

अन्वयः—अजिह्मम् ओजिष्ठम् अमोघम् अक्लमम् बह्वीषु क्रियासु पृथङ्नियोजितम् अस्य शरौघम् उत्साहम् इव सादिताः विद्विषः सादयितुं न प्रसेहिरे ॥५७॥

अर्थ—स्वरूप में तथा गति में सीधे, तेजस्वी, व्यर्थ न होने वाले, निरंतर कार्यरत रहने पर भी न थकने वाले, मारने, काटने, गिराने आदि भिन्न-भिन्न व्यापारों में पृथक् पृथक् प्रयुक्त अर्जुन के बाणों का, उनके (सरल, सीधे कार्यों में प्रयुक्त होने वाले, ओजस्वी, अव्यर्थ तथा निरंतर एक रूप में स्थिर रहने वाले भिन्न-भिन्न कार्यों में भिन्न-भिन्न रूप से) उत्साह के समान ही वे घायल शत्रु प्रतीकार करने में असमर्थ रहे ॥५७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन के उत्साह के समान ही उनके बाणों की वृष्टि भी दुर्धर्ष थी।

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रतः स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम् ।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ॥५८॥

अन्वय.—अनेकदेशगा. शिवध्वजिन्यः उग्रेषुमयूखमालिनम् एकदेशस्थं तम् अर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधम् अग्रतः स्फुरन्तम् निदध्यु. ॥५८॥

अर्थ—अनेक स्थलों पर स्थित शिव की सेनाएँ सूर्य की किरणों के समान प्रचंड बाण समूह की वृष्टि करने वाले एवं एक ही स्थान पर स्थित अर्जुन को उसी प्रकार से प्रत्येक योद्धा के सामने फड़कते हुए देखा जिस प्रकार से अनेक स्थलों पर स्थित लोग अपने अपने आगे ही किरण जाल से प्रदीप्त सूर्य को देखते हैं ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

मुने. शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता ।
विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रज ॥५९॥

अन्वय —प्रकोपात् इव विष्वक् आयता उग्ररंहसा मुनेः शरौघेण महानिलेन निदाघजं रजः इव विधूनितं तत् सङ्गिनीं भ्रान्तिम् इयाय ॥५९॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध से मानों चारों ओर से आते हुए, तीव्र वेगयुक्त अर्जुन के बाण समूह से आहत शिव की वह सेना इस प्रकार से चक्कर काटने लगी जिस प्रकार से अत्यन्त वेगशाली प्रचण्ड झंझावात से ग्रीष्म ऋतु की धूल विकम्पित होकर चक्कर काटने लगती है ॥५६॥

[अर्जुन के इस प्रकार के रणकौशल को देखकर किरात-सेना अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगी—

तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून्निरस्यति ।
अमुष्य मायाविहतं निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥६०॥

अन्वयः—एषः तपोबलेन भूयसीः अदृश्याः तनूः विधाय इषून निरस्यति स्वित् अमुष्य मायाविहित स्वम् आयुधम् प्रतीपम् आगत्य नः निहन्ति किमु ॥६०॥

अर्थ—यह तपस्वी अपने तपोबल से अनेक अदृश्य शरीर धारण करके इस प्रकार से बाणसमूह छोड़ रहा है अथवा इसकी माया के प्रभाव से हम लोगों के ही बाण प्रतिकूल होकर हमारे ऊपर आकर गिर रहे हैं ! क्या बात है (कुछ समझ में नहीं आ रही है ।) ? ॥६०॥

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।
कथं न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥६१॥

अन्वयः—अस्य मुनेः गुणैः हृताः भयेन वा देवताः तिरोहिताः प्रहरन्ति स्वित् अस्य अमी सायकाः जलधेः ऊर्मयः इव कथम् नु सन्ततम् अनेके भवन्ति ॥६१॥

अर्थ—अथवा इस तपस्वी के शांति आदि गुणों से वशीभूत होकर या इससे भयभीत होकर देवता लोग ही प्रच्छन्न रूप में हम लोगों पर प्रहार कर रहे हैं ? क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस तपस्वी के ये बाणसमूह समुद्र की तरङ्ग-माला के समान क्यों निरंतर असंख्य होते जा रहे हैं ? ॥६१॥

जयेन कच्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।
तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥६२॥

अन्वयः—क्वचित् अथ रणात् जयेन विरमेत् अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् इति प्रतर्काकुलिता नृपसूनुमार्गणैः कीर्णा पताकिनी तताप ॥६२॥

अर्थ—यह तपस्वी हम लोगों को जीतकर भी रण से विरत होगा या नहीं? चराचर जगत का कल्याण होगा या नहीं?—इस प्रकार के वितर्कों में उलझी हुई राजपुत्र अर्जुन के बाणों से विदीर्ण किरात सेना सताप का अनुभव करती रही ॥६२॥

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः।
बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना ॥६३॥

अन्वयः—अमर्षिणा क्षमाश्रयं कृत्यम् इव मदोद्धतेन हितं प्रियं वचः निरस्तम् इव बलीयसा विधिना पौरुषम् इव जिष्णुना बलं न रराज ॥६३॥

अर्थ—क्रोधी पुरुष के द्वारा जिस प्रकार से क्षमासाध्य कार्य निष्फल हो जाता है, मदोद्धत गर्वीले पुरुष द्वारा जिस प्रकार हितकर और प्रिय वचन व्यर्थ हो जाता है और प्रबल दैव की प्रेरणा से किया गया पुरुषार्थ जिस प्रकार से व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार से अर्जुन द्वारा पराजित वह किरात-सेना निस्तेज और निरुद्यम हो गयी ॥६३॥

प्रतिदिशं प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः।
रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमंडलता दधे ॥६४॥

अन्वयः—प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः शिवबलैः रविकरग्लपितैः वारिभिः इव प्रतिदिशं परिमण्डलता दधे ॥६४॥

अर्थ—कपिध्वज अर्जुन के बाण-समूहों से क्षत-विक्षत शरीर वाले शिव के सैनिकगण इस प्रकार से चारों ओर मंडलाकार स्थित हो गए जिस प्रकार सूर्य की किरणों से शोषित जल समूह मण्डलाकार होकर (बादल के रूप में) चारों ओर घूमने लगता है ॥६४॥

टिप्पणी—द्रुतविलम्बित छन्द।

प्रवितत्शरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मंडलं पाण्डुसूनौ।

अर्थ—अत्यन्त क्रोध से मानों चारों ओर से आते हुए, तीव्र वेगयुक्त अर्जुन के वाण समूह से आहत शिव की वह सेना इस प्रकार से चक्कर काटने लगी जिस प्रकार से अत्यन्त वेगशाली प्रचण्ड झंझावात से ग्रीष्म ऋतु की धूल विकम्पित होकर चक्कर काटने लगती है ॥५९॥

[अर्जुन के इस प्रकार के रणकौशल को देखकर किरात-सेना अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगी—

तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषूनिरस्यति ।
अमुष्य मायाविहृत निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥६०॥

अन्वयः—एषः तपोबलेन भूयसीः अदृश्याः तनूः विधाय इषून् निरस्यति स्वित् अमुष्य मायाविहित स्वम् आयुधम् प्रतीपम् आगत्य नः निहन्ति किमु ॥६०॥

अर्थ—यह तपस्वी अपने तपोबल से अनेक अदृश्य शरीर धारण करके इस प्रकार से वाणसमूह छोड़ रहा है अथवा इसकी माया के प्रभाव से हम लोगों के ही वाण प्रतिकूल होकर हमारे ऊपर आकर गिर रहे हैं ? क्या बा॰ है (कुछ समझ में नहीं आ रही है ।) ? ॥६०॥

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।
कथं न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥६१॥

अन्वयः—अस्य मुनेः गुणैः हृताः भयेन वा देवताः तिरोहिताः प्रहरन्ति स्वित् अस्य अमी सायकाः जलधेः ऊर्मयः इव कथम् नु सन्ततम् अनेके भवन्ति ॥६१॥

अर्थ—अथवा इस तपस्वी के शांति आदि गुणों से वशीभूत होकर या इससे भयभीत होकर देवता लोग ही प्रच्छन्न रूप में हम लोगों पर प्रहार कर रहे हैं ? क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस तपस्वी के ये वाणसमूह समुद्र की तरङ्ग-माला के समान क्यों निरतर असख्य होते जा रहे हैं ? ॥६१॥

जयेन कच्चिद्विरमेदय रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।
ततापं कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥६२॥

अन्वयः—क्वचित् अय रणात् जयेन विरमेत् अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् इति प्रतर्काकुलिता नृपसूनुमार्गणैः कीर्णा पताकिनी तताप ॥६२॥

अर्थ—यह तपस्वी हम लोगों को जीतकर भी रण से विरत होगा या नहीं? चराचर जगत का कल्याण होगा या नहीं?—इस प्रकार के वितर्कों में उलझी हुई राजपुत्र अर्जुन के बाणों से विदीर्ण किरात सेना सताप का अनुभव करती रही ॥६२॥

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रय मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः।
बलीयसा तद्विधिनेव पौरुष बलं निरस्त न रराज जिष्णुना ॥६३॥

अन्वयः—अमर्षिणा क्षमाश्रय कृत्यम् इव मदोद्धतेन हित प्रिय वचः निरस्तम् इव बलीयसा विधिना पौरुषम् इव जिष्णुना बल, न रराज ॥६३॥

अर्थ—क्रोधी पुरुष के द्वारा जिस प्रकार से क्षमासाध्य कार्य निष्फल हो जाता है, मदोद्धत गर्वीले पुरुष द्वारा जिस प्रकार हितकर और प्रिय वचन व्यर्थ हो जाता है और प्रबल दैव की प्रेरणा से किया गया पुरुषार्थ जिस प्रकार से व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार से अर्जुन द्वारा पराजित वह किरात-सेना निस्तेज और निरुद्यम हो गयी ॥६३॥

प्रतिदिश प्लवंगाधिपलक्ष्मणा विशिखसहतितापितमूर्तिभिः।
रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमंडलता दधे ॥६४॥

अन्वयः—प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसहतितापितमूर्तिभिः शिवबलैः रविकरग्लपितैः वारिभिः इव प्रतिदिश परिमण्डलता दधे ॥६४॥

अर्थ—कपिध्वज अर्जुन के बाण-समूहों से क्षत-विक्षत शरीर वाले शिव के सैनिकगण इस प्रकार से चारो ओर मंडलाकार स्थित हो गए जिस प्रकार सूर्य की किरणों से शोषित जल समूह मण्डलाकार होकर (बादल के रूप में) चारों ओर घूमने लगता है ॥६४॥

टिप्पणी—द्रुतविलम्बित छन्द।

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मंडलं पाण्डुसूनौ।

कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातु
विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे ॥५६॥

अन्वयः—प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले पाडुसूनौ आविर्मंडल धनुः विधुवति भीतभीता जयलक्ष्मीः कथमपि विषमनयनसेनापक्षपातम् विहातुम् विषेहे ॥६५॥

अर्थ—पाडुपुत्र अर्जुन द्वारा अपने वाणों से विश्व ब्रह्माड के आच्छादित कर लेने पर एव मडलाकार धनुष का वारम्बार आस्फालन करने पर मानों अत्यन्त डरी हुई विजय-श्री किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से त्रिलोचन की सेना के पक्ष का परित्याग करने के लिए तैयार हो सकी ॥६५॥

टिप्पणी—अर्थात् अर्जुन के इस प्रकार के प्रचड पराक्रम को देखकर किरात-सेना ने अपनी पराजय मान ली। मालिनी छन्द ॥६५॥

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

— ० —

पन्द्रहवाँ सर्ग

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसु.।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥१॥

अन्वयः—अथ तत्र भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यः तत्रसुः। सा चमूः परित्यक्तमहेष्वासा दिशः भेजे ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन के बाणों से उस रणभूमि के जीव-जन्तु अत्यन्त व्याकुल हो गये और किरातों की वह सेना अपने विशाल धनुषों और बाणादि हथियारों को छोड़-छोड़ कर सभी दिशाओं में भाग निकली ॥१॥

टिप्पणी—समुच्चय अलङ्कार और यमक अलङ्कार की संसृष्टि।

अपश्यद्भिरिवेशान रणान्निववृते गणैः।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलित मनः ॥२॥

अन्वयः—गणैः ईशानम् अपश्यद्भिरिव रणात् निववृते। हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलित मनः मुह्यत्येव ॥२॥

अर्थ—प्रमथ गण मानों भगवान शङ्कर को बिना देखे ही भाग निकले। सच है, सङ्कट के क्षणों में उद्विग्नता से विचलित मन मुग्ध हो ही जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं सोच-विचार पाता ॥२॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम् ॥३॥

अन्वयः—खण्डिताशंसया तेषां तया पराङ्मुखतया केतौ कृत. उच्चैः वानरं नरं कृपा आविवेश ॥३॥

कि—२२

अर्थ—विजय की आशा छोड़कर भागती हुई उस किरात सेना को देखकर कपिध्वज अर्जुन के मन में बड़ी दया आई ॥३॥

टिप्पणी—यमक अलङ्कार।

[अर्जुन को अपने शत्रु पर दया क्यों आई, इसका कारण बताते हैं—]

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥४॥

अन्वयः—आस्थाम् आलम्ब्य वश नीतेषु क्षुद्रेषु अरातिषु अनुकम्पया महता माहात्म्य व्यक्तिम् आयाति ॥४॥

अर्थ—अनेक प्रकार के यत्नों द्वारा क्षुद्र शत्रुओं को वशवर्ती बना लेने पर बड़े लोग जो अनुकम्पा दिखाते हैं, उससे उनकी महत्ता प्रकट होती है ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने पौरुष से पराजित किए गए शत्रु पर करुणा प्रकट करना महान पुरुषों को शोभा देता है।

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीला ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥५॥

[एकाक्षर पाद]

अन्वयः—सासिः सासुसूः सासः येयायेयाययाययः ललः अलोलः शशीशशिशुशीः शशन् सः लीला ललौ ॥५॥

अन्वय में आये प्रत्येक पदों के अर्थ एवं विग्रह इस प्रकार हैं—

सासिः—असि अर्थात् तलवार से युक्त।

सासुसूः—बाण के साथ।

जो असु अर्थात् प्राणों को प्रेरणा करे, उसे असुसू कहते हैं और जो असुसू को साथ लिए हो वह सासुसूः है।

सासः—धनुष के साथ। आस अर्थात् धनुष के साथ।

येयायेयाययाययः—येय + अयेय + आयय + अयय:—इन चार पदों से उक्त वाक्य बना है। येय अर्थात् यान के द्वारा साध्य। अयेय जो बिना यान

के ही साध्य हो। आयय—जो सुवर्ण हाथी इत्यादि का लाभ करता हो। अयय:—जो शुभ भाग्य को प्राप्त करता है।

लल:—शोभासम्पन्न।

अलोल:—अचचल, शान्त।

शशीशाशिशुशीः = शशि + ईश + शिशु + शीः॥ अर्थात् चन्द्रमा के स्वामी के पुत्र को मारनेवाला।

शंशन्—पैंतरे बदलने वाला।

सः—वह अर्जुन।

लीलां—शोभा को।

ललौ—प्राप्त हुआ।

अर्थ—तलवार, बाण और धनुष को धारण किए हुए, यान साध्य एव यान साध्य—दोनों प्रकार के वीरों के पास पहुँचकर उनके स्वर्ण गजादि को प्राप्त करने वाले, सुन्दर भाग्यशाली, शोभायुक्त, शान्त एव शङ्कर जी के पुत्र स्वामिकार्त्तिकेय को मार भगाने वाले, पैंतरे बदलते हुए अर्जुन की उस रण भूमि में विचित्र शोभा हुई ॥५॥

टिप्पणी—इस श्लोक के एक एक चरणों में एक ही अक्षर का प्रयोग हुआ है।

त्रासजिह्मं यतश्चैतान्मन्दमेवान्वियाय सः।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ॥६॥

अन्वयः—सः त्रासजिह्म यतः एतान् मन्दमेव अन्वियाय हि महौजस. भग्नान् अतिपीडयितु नेच्छन्ति ॥६॥

अर्थ—अर्जुन ने भय से विह्वल होकर भागते हुवे उन प्रमथगणों का पीछा मन्दगति से ही किया। महान् तेजस्वी लोग पीड़ितों को अत्यन्त पीड़ित नहीं करना चाहते ॥६॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥७॥

[निरोष्ठ्य]

अन्वय.—अथ अग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना किञ्चिदायस्तचे॰ सेनान्या ते जगदिरे ॥७॥

अर्थ—तदनन्तर इस प्रकार से सेना को भागते हुए देख उसके अग्रभ॰ में हँसते हुये तिरछे खड़े होकर स्थिर कीर्तिवाले स्वामिकार्त्तिकेय चित्त में कु॰ खिन्न होकर उन प्रमथ सैनिकों से बोले ॥७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में ओष्ठ से उच्चारण होने वाला एक भी अ॰ नहीं है, इसे निरोष्ठ्य कहते हैं।

[अब इक्कीस श्लोकों द्वारा स्वामिकार्त्तिकेय की बातों की चर्चा गई है—]

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः ।
क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः ॥८॥

[पादान्तादिक यमक]

अन्वय.—समरन्तव्यसंयत. समरं मा विहासिष्ट क्षुण्णासुरगणैः अगणैः इ॰ किं यश. क्षतम् ॥८॥

अर्थ—आप लोग क्रीड़ा और युद्ध में समान रुचि रखनेवाले हैं, युद्ध॰ छोड़कर इस प्रकार पलायन न करें। आप लोग असुरों को पराजित करने वा॰ प्रमथ हैं फिर उनसे भिन्न (सामान्य लोगों) की भाँति इस प्रकार अपने यश॰ क्यों नष्ट कर रहे हैं ॥८॥

टिप्पणी—यमक अलङ्कार।

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः ।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासयः ॥९॥

अन्वयः—विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः मोघम् उद्‌गूर्णा वः अमी महासयः हसन्ती इव ॥९॥

अर्थ—सूर्य की किरणों के सम्पर्क से द्विगुणित तेज वाली ये आप लोगों की व्यर्थ ही ऊपर उठी हुई बड़ी-बड़ी तलवारें मानों आप लोगों का परिहास सा कर रही हैं ॥९॥

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग रणभूमि छोड़ कर भाग रहे हैं, उनको ऐसी चमकती हुई और ऊपर उठी हुई तलवारों से क्या लाभ है ? उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम् ।
बाणैर्बाणैः समासक्तं शङ्केऽश केन शाम्यति ॥१०॥

[पादादियमक]

अन्वयः—वनसदाम् अवने वने मार्गे मार्गम् उपेयुषा बाणैः बाणैः समासक्तम् अशं केन शाम्यति शङ्के ? ॥१०॥

अर्थ—वनचारी किरातों के रक्षक इस जंगल में मृग के मार्गों से अर्थात् झाड़-झंखाड़ों में से लुक-छिपकर पलायन करते हुए, एवं शब्द युक्त बाणों को धारण किए हुये आप लोगों का जो दुःख है, वह किस उपाय से शान्त होगा—मैं यही सोच रहा हूँ ॥१०॥

टिप्पणी—यमक अलङ्कार।

पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः संहृतायतकीर्तिभिः ।
गुर्वीं कामापदं हन्तुं कृतमावृत्तिसाहसम् ॥११॥

अन्वयः—पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः संहृतायतकीर्तिभिः का गुर्वीम् आपदं हन्तुम् आवृत्तिसाहसं कृतम् ॥११॥

अर्थ—अपने हृदय के उन्नत भावों को नष्ट करके तथा अपनी सुदूर पर्यन्त फैली हुई सत्कीर्ति को नष्ट करके, आप लोगों ने न जाने किस महान् विपत्ति को दूर करने के लिए इस प्रकार रणभूमि से भागने का साहस किया है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अर्थात् आप लोगों के इस पलायन से पाप के अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं।

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः ॥१२॥

[गोमूत्रिकाबन्धः]

अन्वय.—अयम् असुरः न, नागः वा न, धरसंस्थः राक्षसः न, अयं सुखः नवाभोगः धरणिस्थः राजसः ना हि ॥१२॥

अर्थ—यह तपस्वी न तो दानव है, न नागराज है, न कोई पहाड़ जैसी आकृतिवाला राक्षस ही है, किन्तु यह तो एक सुखपूर्वक जीतने योग्य महान् उत्साही रजोगुण प्रधान एक मनुष्य मात्र है ॥१२॥

टिप्पणी—अतएव ऐसे वीर के सम्मुख से रणभूमि छोड़कर भागना आप लोगों के लिए उचित नहीं है। यह श्लोक गोमूत्रिका बन्ध है, जिसका चित्र पुस्तक के अन्त में दिया गया है। इसमें सोलह कोष्ठक बनाने वाली रेखाओं के ऊपर श्लोक का प्रथम चरण तथा नीचे द्वितीय चरण लिखकर एक-एक — के अन्तर पढ़ने से भी पूरा श्लोक बन जाता है। यह एक विकट बन्ध है, जिसका प्रयोग केवल पाडित्य-प्रदर्शन के लिए प्राचीनकाल के कवि लोग किया करते थे। वस्तुतः ऐसे विकट बन्धों में कवित्व बहुत कम और कवित्व-प्रदर्शन बहुत अधिक होता है।

मन्दमस्यन्निषुलतां घृणया मुनिरेप वः।
प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव ॥१३॥

अन्वयः—एष. मुनिः घृणया इषुलताम् मन्दम् अस्यन् वः पशूनिव आगतावज्ञं जघनेषु प्रणुदति ॥१३॥

अर्थ—यह तपस्वी मानो कृपापूर्वक अपने धनुष के शाखा-रूपी बाणों से धीरे-धीरे मारते हुए तुम लोगों को बैलों के समान बड़ी घृणा के साथ जघनस्थलों में कोंच रहा है ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से कोई हलवाहा अपने गरियार बैल को वृक्ष की शाखा से धीरे-धीरे पीटते हुये अपने इच्छित स्थल पर ले चलने के लिए बड़ी ... से उसकी जाँघों में कोंचता है उसी प्रकार का व्यवहार यह तपस्वी भी तुम लोगों के साथ कर रहा है।

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥१४॥

[एकाक्षर]

अन्वयः—हे नानानना ऊननुन्नः ना न नुन्नोनः ना अना। ननुन्नेनः नुन्नः अनुन्नः नुन्ननुन्ननुत् ना अनेनाः न ॥१४॥

अर्थ—अन्वय में आये हुये प्रत्येक पद का अर्थ इस प्रकार है :—

हे नानाननः—हे अनेक मुखों वाले!

ऊननुन्नः—नीच पुरुषों से पराजित।

ना न—मनुष्य नहीं है।

नुन्नोनः ना अना—नीच पुरुषों को पराजित करने वाला मनुष्य नहीं है।

ननुन्नेनः—न + नुन्नः + इन :—जिसका स्वामी पराजित न हुआ हो।

नुन्नः—पराजित।

अनुन्नः—अपराजित।

नुन्ननुन्ननुत्—नुन्न + नुन्न + नुत् = अति पीड़ित को भी पीड़ा पहुँचाने वाला।

ना अनेनाः न—मनुष्य निर्दोष नहीं।

सरल अर्थ—हे अनेक मुखों वाले प्रमथ गण! जो नीच पुरुषों से पराजित हो जाता है वह मनुष्य नहीं है तथा जो नीचों को पराजित करने वाला है वह भी मनुष्य नहीं है। किन्तु आप लोग तो नीच पुरुष से न केवल पराजित ही हुये हैं, बल्कि डर कर भागे जा रहे हैं अतः आप लोगों को क्या कहा जाय? जिसका

स्वामी पराजित नहीं होता है वह पराजित नहीं समझा जाना चाहिये। अत्यन्त पीड़ित को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष निर्दोष नहीं प्रत्युत नीच है ॥१४॥

टिप्पणी—इस पूरे श्लोक में केवल एक अक्षर नकार का प्रयोग हुआ है। श्लोक का अन्तिम तकार दोषपूर्ण नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में अन्तिम वर्ण के लिए यह नियम नहीं लागू होता।

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः ॥१५॥

अन्वय—कृतध्वस्तगुणात् अत्यन्तम् अगुणः पुमान् वरम्। हि प्रकृत्या अमणिः अलङ्कारः श्रेयान् च्युतोपलः न श्रेयान् ॥१५॥

अर्थ—जो लोग पहले गुणों का अर्जन करते हैं और पीछे उनसे च्युत हो जाते हैं, उनसे तो अत्यन्त निर्गुणी पुरुष भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि स्वभावतः मणि से विहीन वह अलंकार श्रेष्ठ है किन्तु वह अलंकार तो अच्छा नहीं है, जिसकी मणि गिर गयी हो ॥१५॥

टिप्पणी—युद्ध को छोड़कर इस प्रकार भागने से अच्छा तो यही था कि युद्ध किया ही न जाता। दृष्टान्त अलंकार।

स्यन्दना नो चतुरगाः सुरेभा वाविपत्तयः।
स्यन्दना नो च तुरगाः सुरेभा वा विपत्तयः ॥१६॥

[समुद्गक]

अन्वयः—स्यन्दनाः स्यन्दना नो। चतुरगाः तुरगाश्च नो सुरेभाः सुरेभा वा नो। अविपत्तयः विपत्तयः नो ॥१६॥

अर्थ—इस तपस्वी के पास न तो वेगपूर्वक चलने वाले रथ हैं, न अच्छी चाल से चलने वाले सुन्दर घोड़े हैं। न खूब चिग्घाड़ने वाले देवताओं के हाथी हैं, और न विघ्न-बाधाओं एवं विपत्तियों से रहित पैदल सैनिक ही हैं ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् इसके पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, फिर डरना किस

चात से। यमकालकार और यथासख्य अलकार की ससृष्टि। इस पद्य का पूर्व पद ही भगि से उत्तर पद बन गया है।

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषैः ।
ह्रदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्तः पङ्को दुरुत्तरः ॥१७॥

अन्वयः—अधुनारातिपरिहापितपौरुषैः भवद्भिः अर्कनिष्पीतैः ह्रदैरिव दुरुत्तरः पङ्कः प्राप्तः ॥१७॥

अर्थ—सम्प्रति शत्रु द्वारा पौरुष से विहीन किये जाने पर आप लोग सूर्य से सुखाये गए तालाब के समान दुस्तर पक के अपकीर्ति के भागी बन गए हैं ॥१७॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।
यात किं विदिशो जेतु तुजेशो दिवि कितया ॥१८॥

[प्रतिलोमानुलोमपादः]

अन्वयः—वेत्रशाककुजे अलेशैजे अकुकशात्रवे शैले कितया विदिशः जेतु यात किम् दिवि तुजेशः ॥१८॥

अर्थ—बाँस एवं बबूल आदि कँटीले वृक्षों से दुर्गम, अत्यन्त सुदृढ़ जिसमें शत्रुओं को पकड़ा नहीं जा सकता, ऐसे वन से नीच पुरुषों के समान भागकर तुम लोग कौन-सी दिशा या विदिशा जीतने के लिये जा रहे हो। तुम लोगों ने तो स्वर्ग में भयङ्कर दैत्यों को भी मार गिराया था ॥१८॥

टिप्पणी—स्वर्ग में जो भयङ्कर असुरों को मार चुके हैं, उनका इस युद्ध-स्थल पर इस प्रकार से भागना अनुचित है। इस श्लोक का प्रथम पाद उलट कर द्वितीय तथा तृतीय पाद उलटकर चतुर्थ बन गया है। ऐसे विकटबन्ध संस्कृत भाषा में ही बनाए जा सकते हैं।

अयं वः क्लैव्यमापन्नान्दृष्टपृष्टानरातिना ।
इच्छतीशश्च्युताचारान्दारानिव निगोपितुम् ॥१९॥

अन्वयः—अयम् ईशः क्लैव्यम् आपन्नान् अरातिना दृष्टपृष्ठान् वः च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् इच्छति ॥१६॥

अर्थ—यह हमारे स्वामी शंकर जी नपुंसकता को प्राप्त एवं शत्रु को पीठ दिखाने वाले तुम लोगों की उसी प्रकार से रक्षा करना चाहते हैं जैसे पति अपनी आचारभ्रष्टा स्त्री की रक्षा करता है ॥१६॥

टिप्पणी—जब शंकर जी स्वयं तुम लोगों के दोषों को छिपाकर तुम्हारी रक्षा करने के लिये तैयार हैं तो तुम्हें भागना उचित नहीं है।

ननु हो मन्थना राघो घोरा नाथमहो नु न।
तयदातवदा भीमा माभीदा वत दायत ॥२०॥

[प्रतिलोमानुलोमपादः]

अन्वयः—ननु हो मन्थना राघः घोरा नाथमहः तयदातवदा भीमा माभीदाः वत नदायत नु ॥२०॥

अर्थ—अरे भाइयो! सुनो ठहरो तो जरा। आप लोग तो अपने भीषण से भीषण शत्रुओं को भी तहस-नहस कर देने वाले हैं। समर्थ हैं। शत्रुओं के लिए अत्यन्त क्रूर हैं। अपने स्वामी की पूजा करने वाले हैं। रक्षक हैं। शुद्ध आचरण वाले हैं। अच्छे वक्ता हैं। भयङ्कर आकृति वाले हैं। शरणागत को अभयदान करने वाले हैं। क्या आप लोग शुद्ध नहीं हैं, ऐसा नहीं, अति शुद्ध हैं ॥२०॥

टिप्पणी—यह भी प्रतिलोमानुलोमपाद है, जिसका परिचय १८ वें श्लोक में दिया जा चुका है।

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः।
ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि मानिता ॥२१॥

अन्वयः—अपास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः ज्वलितान्यगुणैः गुर्वी तेजसि स्थिता मानिता किं त्यक्ता ॥२१॥

अर्थ—आप लोग देवताओं तथा मनुष्यों को तृण के समान समझने वाले

हैं। सर्वोत्तम गुणों से युक्त हैं। गम्भीरता एवं तेज से युक्त हैं फिर इस प्रकार से अपनी तेजस्विता को क्यों त्याग रहे हैं ॥२१॥

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा ।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥२२॥

अन्वयः—हे अमरणाः निशितासिरतः अभीकः रुचा स्वाभासः उत भरवान् नः विरोधी सारतः न्येजते न ॥२२॥

अर्थ—हे मृत्युरहित प्रमथ गण ! हमारा यह विरोधी तीक्ष्ण खड्गधारी है, निर्भय है, तेजस्वी एव आकृति से रमणीय है। युद्ध का भार उठाने में सहिष्णु है, वह बलवान शत्रु से भी कम्पित नहीं होता ॥२२॥

टिप्पणी—इसलिए तुम लोगों को भी इससे डरना नहीं चाहिये।

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥२३॥

[प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्]

अन्वयः—तनुवारभसः भास्वान् चारुणा अविनतोरसा अधीरः रसिताशिनि, जन्ये अभीतः कः रमते ॥२३॥

अर्थ—कवच से सुशोभित, तेजस्वी, मनोहर एव उन्नत वक्षःस्थल वाले किन्तु फिर भी अधीर इस वीर के समान दूसरा ऐसा कौन है जो इस महाभयङ्कर युद्ध में जिसके घोर नाद से ही विश्व के जीव जन्तुओं के प्राण निकल जायँ, निर्भीक होकर खेलता रहेगा ॥२३॥

टिप्पणी—यह श्लोक बाईसवें श्लोक का ही विलोम है। बाइसवें श्लोक का चतुर्थ चरण इसका प्रथम चरण है, तृतीय चरण इसका द्वितीय चरण है, द्वितीय चरण तृतीय चरण है तथा प्रथम चरण चतुर्थ चरण है। इसका नाम है प्रतिलोमानुलोम।

विभिन्नपातिताश्वीय निरुद्धरथवर्त्मनि ।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले ॥२४॥

अपने—मत डरो, मत भागो आदि निषेध वचन-रूपी शीतल जल से आनन्दित किया ॥३०॥

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

दूनास्तेऽरिबलादूना निरेभा बहु मेनिरे।
भीताः शितशराभीताः शङ्करं तत्र शङ्करम् ॥३१॥

[पादाद्यन्तयमक]

अन्वयः—दूनाः अरिबलात् ऊना निरेभाः भीताः शितशराभीताः ते तत्र शङ्करं शङ्करं मेनिरे ॥३१॥

अर्थ—अर्जुन के बाणों से सन्तप्त, बल में विपक्षी से हीन, निःशब्द, डरे हुये, तीक्ष्ण बाणों से चारों ओर विद्ध उन प्रमथ सैनिकों ने उस रणभूमि में इस प्रकार की सान्त्वनाभरी वाणी से सुख पहुँचाने वाले भगवान शङ्कर को बहुत कुछ समझा ॥३१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पादाद्यन्त यमक है अर्थात् प्रत्येक पद का आदि चरण ही अन्त में भी आवृत्त हुआ है।

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे।
प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी ॥३२॥

अन्वयः—दुरुत्तरे शत्रोः महेषुजलधौ वर्तमाना पताकिनी ईशान पारमिव प्राप्य आशश्वास ॥३२॥

अर्थ—शत्रु के दुस्तर एवं विकट शर-रूपी-समुद्र में पड़ी हुई वह प्रमथों की सेना भगवान् शङ्कर को दूसरे पार के तट की भाँति पाकर जी उठी ॥ ३२ ॥

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम्।
पुरःसूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः ॥३३॥

अन्वयः—स. रणापेता पश्चात् अवस्थिता चमूं पुरःसूर्यात् अपावृत्ता छायां महातरुरिव बभार ॥३३॥

अर्थ—भगवान् शङ्कर ने रणभूमि से भागनेवाली पीछे खड़ी हुई अपनी उस सेना को उसी प्रकार से धारण किया जिस प्रकार से सूर्य के सामने खड़ा हुआ विशाल वृक्ष अपने पीछे पड़ी हुई छाया को धारण करता है ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से विशाल वृक्ष अपनी छाया को नहीं छोड़ता उसी प्रकार से भगवान् शङ्कर ने भी अपनी शरण में आई हुई उस सेना को नहीं छोड़ा।

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः ॥३४॥

अन्वयः—ईशे जिष्णौ शरान् मुञ्चति सति पिनाकस्वनपूरितः धराधरः स्फुटन्निव आशाः ध्वनयन् दध्वानः ॥३४॥

अर्थ—भगवान् शङ्कर ने अर्जुन पर जिस क्षण बाण-सन्धान किया उस क्षण उनके धनुष की टंकार से पूर्ण इन्द्रकील पर्वत मानों विदीर्ण-सा होते हुए तथा दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए भीषण शब्द करने लगा ॥३४॥

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ॥३५॥

[द्विचतुर्थ यमक]

अन्वयः—भीमं तयोः तत् युद्ध गणाः चित्रसंस्था. अचलाः इव चित्रसंस्था- इव अचलाः विस्मयेन ददृशुः ॥३५॥

अर्थ—शङ्कर और अर्जुन के उस भयङ्कर युद्ध को प्रमथगण चित्राकार पहाड़ के समान चित्रलिखित की भाँति आश्चर्य से निश्चल होकर देखने लगे ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—यह द्विचतुर्थ यमक है, अर्थात् इसमें द्वितीय चरण की चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति हुई है।

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना ॥३६॥

अन्वयः—शिक्षालाघवलीलया परिमोहयमाणेन पिनाकिना जैष्णवी विशिखश्रेणीः परिजह्रे ॥३६॥

अर्थ—अपने बाण चलाने के अभ्यास की निपुणता से अर्जुन को विस्मयविमुग्ध करते हुए पिनाकी शङ्कर ने अर्जुन की बाणपक्तियों को काट गिराया ॥३६॥

अवद्यन्पत्रिणः शम्भोः सायकैरवसायकैः।
पांडवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ॥३७॥

[आद्यन्त यमक]

अन्वय.—पाडवः अवसायकैः सायकैः शम्भोः पत्रिणः अवद्यन् शिक्षया रणशिक्षया परिचक्राम ॥३७॥

अर्थ—अर्जुन भी अपने अन्तकारी अर्थात् विनाशकारी बाणों से शङ्कर के बाणों को खण्डित करते हुये अत्यन्त उत्साह और रणचातुरी के साथ पैंतरे बदलने लगे ॥३७॥

टिप्पणी—इसमें आद्यन्त यमक है। द्वितीय और चतुर्थ चरण के आदि पदों की अन्त में आवृत्ति हुई है।

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥३८॥

[द्व्यक्षर]

अन्वय.—चारचुञ्चुः चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः रुचिरः आचारचञ्चुरः चारु चारैः चचार ॥३८॥

अर्थ—चारचञ्चु—गतिविशेष में दक्ष, चिरारेची = अधिक समय में अथवा अधिकमात्रा में शत्रु को रिक्त कर देने वाले, चञ्चच्चीररुचारुच. = चचल वल्कल की कान्ति से सुशोभित, रुचिर = सुन्दर, आचारचंचुरः = युद्ध की कला में निपुण या अभ्यासी, चारु = मनोहर, चारैः = गति से, चचार = सचरण करने लगे ॥३८॥

भावार्थ—विशेष गति में निपुण, अतिमात्रा में शत्रु को रिक्त कर देने वाले, चचल मल्कल की कान्ति से सुशोभित, सुन्दर, युद्ध की कला में निपुण अर्जुन अति मनोहर गति से सचरण कर रहे थे ॥३८॥

टिप्पणी—इस पूरे श्लोक में केवल दो अक्षरों—'च' और 'र' का प्रयोग कवि ने किया है।

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनान. स बृहद्धनु ।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमशुमता बभौ ॥३६॥

अन्वयः—सः स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीक बृहद्धनुः धुनानः धृतोल्कानलयोगेन अशुमता तुल्य बभौ ॥३६॥

अर्थ—तपस्वी अर्जुन अपने पिशग वर्ण की चमकती हुई प्रत्यन्चा से युक्त गाण्डीव नामक विशाल धनुष को कँपाते हुए उल्का-रूपी अग्नि से संयुक्त सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

पार्थबाणाः पशुपतेरावत्रु विशिखावलीम् ।
पयोमुच इवारन्ध्रा. सावित्रीमंशुसंहतिम् ॥४०॥

अन्वयः—पार्थबाणाः पशुपतेः विशिखावलीं सावित्रीं अशुसहतिं रन्ध्रा. पयोमुच इव आवत्रु. ॥४०॥

अर्थ—अर्जुन के बाणों ने पशुपति शकर की बाण की पक्तियों को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से सूर्य की किरणों को मेघ आच्छादित कर लेते हैं ॥४०॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना ।
रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचन. ॥४१॥

अन्वयः—त्रिलोचनः सव्यसाचिना उदस्ता उर्वी शरवृष्टिं मार्गणैः विधूय तपनस्य मार्गम् रुरोध ॥४१॥

अर्थ—तदनन्तर त्रिलोचन शंकर ने सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त भीषण बाणों की वृष्टि को अपने बाणों से निरस्त करके सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥४१॥

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलाननाः ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥४२॥

[शृंखलायमक]

अन्वय—तेन भीमाः भीमार्जनफलाननाः शिखाधरजवाससः विशिखाः अनुकम्प्य न व्यातेनिरे न ॥४२॥

अर्थ—शंकर जी ने अपने उन बाणों को, जो अत्यन्त भयंकर थे, जिनके अग्रभाग अर्थात् तीक्ष्ण फल भय को दूर करने में समर्थ थे और जो मयूर की पुच्छों से विभूषित थे, अनुकम्पा वश होकर नहीं छोड़ा, ऐसा नहीं कहना चाहिये ॥४२॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने अत्यन्त भयभीत सैनिकों पर अनुकम्पा करके शिव जी ने ऐसे बाणों की वृष्टि की। शृंखला यमक।

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥४३॥

[गूढ चतुर्थपाद]

अन्वय—द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः हैमी इषुमाला विद्युतां संहतिः इव शुशुभे ॥४३॥

अर्थ—स्वर्ग एवं अन्तरिक्ष में संचरण करने वाली, अपने उच्च स्वर से कर्ण कुहरों को भेदने वाली, भगवान शंकर की सुवर्णमयी बाणों की पंक्तियाँ बिजली के समूह के समान सुशोभित होने लगीं ॥४३॥

टिप्पणी—इस श्लोक का चतुर्थ पाद "विद्युतामिव संहति" के सभी अक्षर अन्य तीनों पादों में छिपे हुए हैं, इसे गूढ चतुर्थपाद बन्ध कहते हैं।

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥४४॥

अन्वयः—शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पङ्क्तिं विलङ्घ्य भिन्नः कपिध्वजः ज्यायः वीर्यं समाश्रित्य न चकम्पे ॥४४॥

अर्थ—भगवान् शंकर द्वारा चलाये गए बाणों ने अर्जुन के बाणों की पंक्तियों को भिन्न करके विद्ध कर दिया, किन्तु (फिर भी) कपिध्वज अर्जुन अपने प्रशंसनीय पौरुष का सहारा लेकर तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् विद्ध होने पर भी उन्होंने उसे सहन किया।

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥४५॥
[अर्थत्रयवाची]

अन्वयः—जगतीशरणे युक्तः हरिकान्तः सुधासितः दानवर्षी कृताशंसः नागराजः इव आबभौ ॥४५॥

[इस श्लोक के तीन अर्थ हैं। कवि ने अर्जुन की उपमा अगराज (हिमालय), नागराज (हाथियों के राजा, ऐरावत) तथा नागराज (नागों के राजा शेष) से दी है। नीचे क्रमानुसार तीनों अर्थ दिये जा रहे हैं। ये अर्थ कहीं-कहीं तो सहज बोधगम्य हैं और कहीं क्लिष्ट कल्पना द्वारा।]

प्रथम अर्थ—(अगराज हिमालय के पक्ष में-) ईश अर्थात् शिव से युद्ध करने में तत्पर, सिंह के समान सुन्दर, सम्यक रीति से प्रजा पालन करने वाले, कृष्णवर्ण, बहुदानी, युद्ध में विजय के अभिलाषी अर्जुन विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा में नियुक्त, निवासस्थानादि के दान से सिंहों के प्रिय, (बरफ से ढके रहने के कारण) सुधा अर्थात् चूना के समान श्वेत, दानवों, ऋषियों तथा कामदेव से प्रशंसित अगराज हिमालय के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१॥

द्वितीय अर्थ—(नागराज ऐरावत के पक्ष में) पृथ्वी को अपनी शरण में रखने के लिए नियुक्त, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान शील सदाचार से स्वच्छ शरीर वाले, दान की वर्षा करने वाले, युद्ध में विजय के अभिलाषी, अर्जुन जगती अर्थात् पृथ्वी को क्षीण करने वाले राक्षसों के साथ युद्ध करने में

तत्पर, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान श्वेत वर्ण वाले, मद वर्षा करने वाले एव विजयाभिलाषी नागराज ऐरावत की भाँति शोभा पा रहे थे ॥२॥

तृतीय अर्थ—(नागराज शेष के पक्ष में) विधावा द्वार पृथ्वी की रक्षा करने में नियुक्त, कृष्ण के प्रिय, वसुधा अर्थात् पृथ्वी में निबद्ध अथवा अमृत-वत स्वच्छ शरीर, दानवों, ऋषियों तथा लक्ष्मी द्वारा प्रशसित अर्जुन विधाता द्वारा ससार की रक्षा में नियुक्त, विष्णु के प्रिय, अमृत के प्रेमी, दानवों ऋषियों तथा लक्ष्मी से प्रशसित नागराज शेष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३॥

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना ।
गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चक्राम हुताशनः ॥४६॥

अन्वय.—शम्भुना क्षतबाणस्य विफलीकृतयत्नस्य गाडीवधन्वनः खेभ्यः हुताशनः निश्चक्राम ॥४६॥

अर्थ—भगवान शकर द्वारा बाणों के काट देने तथा इस प्रकार अ... प्रयत्नों के विफल हो जाने से गाण्डीवधारी अर्जुन की इन्द्रियों से (क्रोध के मारे) आग निकलने लगी ॥४६॥

स पिशङ्गजटावलिः किरन्नुरुतेजः परमेण मन्युना ।
ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ॥४७॥

अन्वय.—पिशङ्गजटावलिः परमेण मन्युना उरुतेजः किरन् स ज्वलितौषधि जातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ॥४७॥

अर्थ—पीले वर्ण की जटाओं से विभूषित एव अत्यन्त क्रोध से महान तेज का विस्तार करते हुए अर्जुन उस क्षण देदीप्यमान औषधियों तथा जलते हुए दावानल से व्याप्त हिमालय के समान प्रकाशपुंज से परिपूर्ण दिखाई पड़े ॥४७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रजिघायेषुमघातुकं शिवः ॥४८॥

अन्वयः—शिवः शतशः विशिखान् अवद्यते रणवेगशालिने अस्मै भृशम् अनिवार्यवीर्यताम् प्रथयन् अघातुकम् इषुम् प्रजिघाय ॥४८॥

अर्थ—शिव जी ने अपने सैकड़ों वाणों को काट डालने वाले, रण के वेग से युक्त अर्जुन को अपने अमोघ पराक्रम का अत्यन्त परिचय कराते हुए उन पर ऐसा वाण छोड़ा, जो उन्हें घायल तो कर देता था, किंतु उनका प्राण नहीं हरण करता था ॥४८॥

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः ।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम् ॥४९॥

अन्वयः—सिताश्वः शम्भोः धनुः मडलतः प्रवृत्त तम् अंशुमर्तुः मंडलात् अंशुम् इव निवारयिष्यन् धरित्रीं शिलीमुखच्छायवृता विदधे ॥४९॥

अर्थ—अर्जुन ने भगवान् शकर के धनुर्मण्डल से निकले हुए उस वाण को, जो सूर्य मंडल से निकली एक किरण के समान था, निवारित करते हुए धरती को अपने वाण की छाया से आवृत कर दिया ॥४९॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारबाणोऽयुगलोचनस्य ।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥५०॥

[महायमक]

अन्वयः—अयुगलोचनस्य ससारबाणः घनम् अर्जुनबाणपूग विदार्य घनम् विदार्य अर्जुनबाणपूगम् युगलोचनस्यबाण. ससार ॥५०॥

अर्थ—तदनन्तर अचाक्षुष ज्ञान के विषय अर्थात् एक मात्र दिव्य दृष्टि से ही गम्य भगवान् शंकर जी ने बड़े वेग के साथ एक वाण छोड़ा, जो अत्यन्त हृदय विदारक शब्द करता हुआ उनके धनुष से बाहर निकला। उस वाण ने अर्जुन के असंख्य वाणों के समूह को काट कर फेंक दिया और फिर उसी तथा विदारी, ककुभ, शरपुंखा एवं सोपारी आदि की घनी लताओं को चीरता हुआ वह आगे चला गया ॥५०॥

टिप्पणी—महायमक। इसमें प्रथम और द्वितीय के समान ही तृतीय तथा चतुर्थ चरण भी हैं।

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः ।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसंघैर्बुबुधे धनञ्जयः ॥५१॥

अन्वयः—बहुधाशुपातिनः महेषून् मुहुः शरौघैः रुजन् दिशः अपवारयन् क्रियावशात् चलाचलः धनञ्जयः महर्षिसङ्घैः अनेक. इव बुबुधे ॥५१॥

अर्थ—अनेक दिशाओं मे शीघ्रता के साथ बरसते हुए शङ्कर जी के भयङ्कर बाणों को अपने बाणों के समूह से रोकते हुए तथा दिशाओं को आच्छादित करते हुए अपनी विशेष गति के कारण अत्यन्त चचल मुद्रा में खड़े हुए अर्जुन को महर्षियों ने अनेक अर्जुन के समान देखा ॥५१॥

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा ॥५२॥

[महायमक]

अन्वयः—जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः जगति ईशमार्गणा· विकाशम् ईयुः जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयु ॥५२॥

अर्थ—पृथ्वीपति अर्जुन के बाण विस्तार को प्राप्त होने लगे तथा शिव जी के बाण भग होने लगे। राक्षसों के हन्ता प्रमथ गण (अर्जुन के इस भीषण पराक्रम को देख कर कि अरे ! यह तो भगवान् शकर के बाणों को भी व्यर्थ बना रहा है—) विस्मित होने लगे तथा शिव का ध्यान करने वाले देवता तथा ऋषिगण पक्षियों के मार्ग आकाश-मण्डल में (यह भयकर युद्ध देखने के लिए) एकत्र होने लगे ॥५२॥

टिप्पणी—यह भी महायमक है। इसमें भी प्रथम तथा द्वितीय चरण की तृतीय एवं चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति हुई है।

सम्पश्यतामिति शिवेन वितायमानं
लक्ष्मीवत. क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम् ।

अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां
रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभराम्बभूवुः ॥५३॥

अन्वयः—इति शिवेन वितायमानम् लक्ष्मीवतः क्षितिपतेः तनयस्य वीर्यम् सम्पश्यताम् तत्वविदाम् अपि मुनीनाम् अङ्गानि अभिन्नम् अञ्चिततरम् रोमाञ्चम् बिभराम्बभूवुः ॥५३॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान शंकर द्वारा विस्तारित किए गए, विजय श्री से विभूषित राजपुत्र अर्जुन के पराक्रम को देखने वाले, तत्वज्ञानी मुनियों के भी अंग सघन सुन्दर रोमांच से युक्त हो गए।

टिप्पणी—तत्वज्ञानी विशेषण देने का तात्पर्य यह कि वे यह जानते थे कि अर्जुन नारायण के अंशभूत अवतार हैं।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

सोलहवाँ सर्ग

ततः किराताधिपतेरलघ्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि ॥१॥

अन्वयः—ततः किराताधिपतेः अलघ्वीम् आजिक्रियाम् वीक्ष्य विवृद्धमन्युः विविक्ततर्कः सः चिरं कारणानि विचिन्वन् इति तर्कयामास ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर किरात सेनापति (वेषधारी भगवान् शंकर) की असाधारण रणनिपुणता देखकर अर्जुन अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और अपने विशुद्ध अनुमान के बल पर वह बड़ी देर तक कारणों का अन्वेषण करते हुये इस प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे ॥१॥

[तेईस श्लोकों में अर्जुन के तर्क-वितर्क का वर्णन किया गया है—]

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः ॥२॥

अन्वयः—मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः विक्रान्तनराधिरूढाः सहिष्णवः, युधाम् अभिज्ञाः नगोच्छ्रायम् आक्षिपन्तः इव नागाः इह न क्रामन्ति ॥२॥

अर्थ—इस युद्ध में निरन्तर मदवर्षा से श्यामल गण्डस्थल वाले, पराक्रमी शूरवीरों से अधिष्ठित, युद्ध का कष्ट उठाने में समर्थ, रणकुशल, ऊँचाई में पर्वतों को भी तिरस्कृत करने वाले गजराज (भी) नहीं घूम रहे हैं ॥२॥

टिप्पणी—अर्थात् इस युद्ध में तो ऐसे गजराज भी नहीं हैं, तब फिर मेरी शक्ति का इस प्रकार से सर्वत्र क्यों ह्रास दिखाई पड़ रहा है ।

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नभासा ।
महारथौघेन न सन्निरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥३॥

अन्वयः—विचित्रया केतनरत्नभासा भिन्ना रवेः रुचं चित्रयता इव पयोद-मन्द्रध्वनिना महारथौघेन धरित्री न सन्निरुद्धा ॥३॥

अर्थ—अपनी ऊँची-ऊँची पताकाओं की अनेक वर्णों वाली रत्नप्रभा से सूर्य की किरणों को रंग बिरंग बनाने वाली, बादलों के समान गभीर गर्जन करने वाली, बड़े-बड़े रथों की पंक्तियों से धरती भी संकुल नहीं दिखाई पड़ रही है ॥३॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति ।
विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः ॥४॥

अन्वयः—इह समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमाल परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति अश्वीय जलधेः अम्भः इव विभिन्नमर्यादम् आशा. न आतनोति ॥४॥

अर्थ—इस युद्ध में चमकते हुए भालों-रूपी महान तरंगों से युक्त, फरफराते हुए चमर-रूपी फेन पंक्तियों से सुशोभित, अश्वारोही जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान दिशाओं को अमर्यादित करते हुए आच्छादित नहीं कर रहे हैं ॥४॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतयः प्राप्ततडित्त्विषः खे विवस्वदंशुज्वलिताः पतन्ति ॥५॥

अन्वय.—हत आहत इति उद्धतभीमघोषैः योद्धृभिः अभ्यमित्रं समुज्झिता विवस्वदंशुज्वलिताः प्राप्ततडित्त्विषः हेतयः खे न पतन्ति ॥५॥

अर्थ—इस युद्ध में 'मारो' 'काटो'—की भयंकर ध्वनि करने वाले योद्धाओं के द्वारा शत्रुओं पर छोड़े गए शस्त्रास्त्र समूह, सूर्य की किरणों से प्रतिफलित होकर बिजली के समान चमकते हुए आकाश में नहीं गिर रहे हैं ॥५॥

अभ्यायतः सन्ततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥६॥

अन्वयः—अभ्यायतः अन्तकस्य सन्ततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालम् इव प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं रजः मातरिश्वा व्योमनि न तनोति ॥६॥

सोलहवाँ सर्ग

ततः किराताधिपतेरलघ्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि ॥१॥

अन्वयः—ततः किराताधिपतेः अलघ्वीम् आजिक्रियाम् वीक्ष्य विवृद्धमन्युः विविक्ततर्कः सः चिरं कारणानि विचिन्वन् इति तर्कयामास ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर किरात सेनापति (वेषधारी भगवान् शंकर) की असाधारण रणनिपुणता देखकर अर्जुन अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और अपने विशुद्ध अनुमान के बल पर वह बड़ी देर तक कारणों का अन्वेषण करते हुये इस प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे ॥१॥

[तेईस श्लोकों में अर्जुन के तर्क-वितर्क का वर्णन किया गया है—]

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः ॥२॥

अन्वयः—मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः विक्रान्तनराधिरूढाः सहिष्णवः, युधाम् अभिज्ञाः नगोच्छ्रायम् आक्षिपन्तः इव नागाः इह न क्रामन्ति ॥२॥

अर्थ—इस युद्ध में निरन्तर मदवर्षा से श्यामल गण्डस्थल वाले, पराक्रमी शूरवीरों से अधिष्ठित, युद्ध का कष्ट उठाने में समर्थ, रणकुशल, ऊँचाई में पर्वतों को भी तिरस्कृत करने वाले गजराज (भी) नहीं घूम रहे हैं ॥२॥

टिप्पणी—अर्थात् इस युद्ध में तो ऐसे गजराज भी नहीं हैं, तब फिर मेरी शक्ति का इस प्रकार से सर्वत्र क्यों ह्रास दिखाई पड़ रहा है ।

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नभासा ।
महारथौघेन न सन्निरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥३॥

अन्वयः—विचित्रया केतनरत्नभासा भिन्ना रवेः रुच चित्रयता इव पयोद-मन्द्रध्वनिना महारथौघेन धरित्री न सन्निरुद्धा ॥३॥

अर्थ—अपनी ऊँची-ऊँची पताकाओं की अनेक वर्णों वाली रत्नप्रभा से सूर्य की किरणों को रंग बिरंग बनाने वाली, बादलों के समान गंभीर गर्जन करने वाली, बड़े-बड़े रथों की पंक्तियों से धरती भी सकुल नहीं दिखाई पड़ रही है ॥३॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपक्ति ।
विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः ॥४॥

अन्वयः—इह समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमाल परिस्फुरच्चामरफेनपक्ति अश्वीय जलधेः अम्भः इव विभिन्नमर्यादम् आशाः न आतनोति ॥४॥

अर्थ—इस युद्ध में चमकते हुए भालों-रूपी महान तरंगों से युक्त, फर-फराते हुए चमर-रूपी फेन पंक्तियों से सुशोभित, अश्वारोही जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान दिशाओं को अमर्यादित करते हुए आच्छादित नहीं कर रहे हैं ॥४॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतयः प्राप्ततडित्त्विषः खे विवस्वदंशुज्वलिता. पतन्ति ॥५॥

अन्वयः—हत आहत इति उद्धतभीमघोषैः योद्धृभिः अभ्यमित्र समुज्झिता विवस्वदंशुज्वलिताः प्राप्ततडित्त्विषः हेतय. खे न पतन्ति ॥५॥

अर्थ—इस युद्ध में 'मारो' 'काटो'—की भयकर ध्वनि करने वाले योद्धाओं के द्वारा शत्रुओं पर छोड़े गए शस्त्रास्त्र समूह, सूर्य की किरणों से प्रतिफलित होकर बिजली के समाम चमकते हुए आकाश में नहीं गिर रहे हैं ॥५॥

अभ्यायत' सन्ततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥६॥

अन्वयः—अभ्यायतः अन्तकस्य सन्ततधूमधूम्र व्यापि प्रभाजालम् इव प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं रज मातरिश्वा व्योमनि न तनोति ॥६॥

अर्थ—इस रणभूमि में वीरों को मारने के लिए समागत यमराज के निरन्तर धूम की तरह सर्वत्र व्याप्त प्रभा-जाल के समान, वेगवान घोड़ों तथा रथ के चक्कों से उठी हुई धूल को पवन आकाश में नहीं फैला रहा है ॥ ६ ॥

भूरेणुना रासभधूसरेण विरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम् ॥७॥

अन्वयः—अत्र रासभधूसरेण भूरेणुना लोचनाना वर्त्मनि तिरोहिते तेजस्विभिः उत्सुकाना सुरसुन्दरीणाम् अह्नि प्रदोषः नास्ति ॥७॥

अर्थ—इस युद्ध में गधे के समान धूसरित वर्ण की पृथ्वी की धूल से आँखों के मार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर, तेजस्वी वीरों को वरण करने के लिए आई हुई उत्कठित देवागनाओं को दिन में ही रात्रि काल का भ्रम नहीं हो रहा है ।

टिप्पणी—अर्थात् अन्य युद्धों में तो धूल से जो अन्धकार व्याप्त था, उससे देवांगनाओं को दिन में ही रात्रि का भ्रम हो जाता था, इसमें तो यह भी नहीं हो रहा है ।

रथाङ्गसंक्रीडितमश्वहेषा वृहन्ति मत्तद्विपवृंहितानि ।
संघर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्रादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ॥८॥

अन्वयः—रथाङ्गसङ्क्रीडितम् अश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि, सघर्षयोगात् इव मूर्छितानि दुन्दुभीना ह्राद न निगृह्णन्ति ॥८॥

अर्थ—(इस युद्ध मे) रथों के चक्कों की घरघराहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, भीषण रूप से मतवाले हाथियों की चिग्घाड़—ये सब ध्वनियाँ मानों परस्पर स्पर्धा करते हुए एक होकर ऐसे भयकर नहीं बन रही हैं कि जिससे दुन्दुभियों की आवाज भी तिरस्कृत हो जाती हो ॥८॥

अस्मिन्यशःपौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।
मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः ॥९॥

अन्वयः—अस्मिन् यश.पौरुषलोलुपानाम् अरातिभि. प्रत्युरस क्षताना मूर्च्छान्तरायम् आसारशीत करिशीकराम्भः मुहुः न उच्छिनत्ति ॥९॥

अर्थ—इस युद्ध मे यश और पुरुषार्थ के लोभी एव शत्रुओं द्वारा हृदय-स्थल में आहत वीरो के मूर्च्छारूपी सग्राम-विघ्न को वर्षा की धारा के समान शीतल हाथियों के (शुण्डादण्ड से फेंका गया) जल-शीकर बारम्बार नष्ट नहीं कर रहे हैं ॥९॥

टिप्पणी—अर्थात् अन्य युद्धों मे जब पुरुषार्थी वीर आहत होकर मूर्च्छित हो जाते थे और इस प्रकार उनके सग्राम में विघ्न पड़ जाता था तब हाथियों के सूँड़ों (शुण्डादण्ड) से फेंके गए जलबिन्दु बारम्बार उनकी मूर्च्छा भग कर दिया करते थे।

असृङ्नदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भि॰ पदवी ध्वजिन्याः।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥१०॥

अन्वयः—असृङ्नदीना तटानि उपचीयमानैः ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिः आश्यानघनै. शोणितौघैः पकैः इव उच्छ्रायम् न आयान्ति ॥१०॥

अर्थ—इस युद्ध में रक्त की नदियों के तट उत्तरोत्तर बढ़ते हुए, सेना के मार्ग को कठिन बनाने वाले, कुछ सूखे कीचड़ के सदृश रक्त के लोथड़ों से ऊँचे नहीं हो रहे हैं ॥१०॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तै प्रियाङ्कशीता नभस॰ पतन्ती।
नेह प्रमोहं प्रियसाहसाना मन्दारमाला विरलीकरोति ॥११॥

अन्वय.—इह दन्तिदन्तै. परिक्षते वक्षसि नभस. पतन्ती प्रियाङ्कशीता मन्दारमाला प्रियसाहसाना प्रमोह न विरलीकरोति ॥११॥

अर्थ—इस युद्ध में हाथियों के दाँतों से वक्षस्थल में अत्यन्त आहत होकर गिरे हुये साहसी वीरों की मूर्च्छा को आकाश से गिरती हुई प्रियतमा की गोद के समान शीतल मन्दारमाला नहीं शान्त कर रही है ॥११॥

टिप्पणी—अन्य युद्धों में हाथी से युद्ध करने वाले साहसी वीर का आश्चर्य

जनक पराक्रम देखकर देवता लोग आकाश से मन्दार की माला बरसाते थे, किंतु इस में तो यह भी नहीं हो रहा है।

निषादिसंनाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण।
अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥१२॥

अन्वयः—करिशीकरेण परीयमाणे निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे अर्कत्विषोन्मीलितम् आखण्डलकार्मुकस्य खण्ड न अभ्युदेति ॥१२॥

अर्थ—इस युद्ध में हाथियों के सूँड़ों से छोड़े गये जल बिन्दुओं से व्याप्त गजारोहियों के कवचों में लगी मणियों की प्रभा सूर्य की किरणों से मिलकर इन्द्रधनुष का-सा खंड नहीं बना रही है ॥१२॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन।
नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः ॥१३॥

अन्वयः—पक्षवता महीभृता इव परवारणेन मध्य विगाह्य भिन्नाः ध्वजिन्यः अपां निधेः आपः इव आवर्तमानाः भीम न निनदन्ति ॥१३॥

अर्थ—पक्ष युक्त मैनाक पर्वत के समान शत्रु के गजराज के मध्यभाग में घुस आने पर इधर-उधर भागती हुई सेना जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान तरंगायमान होती हुई भयंकर कोलाहल नहीं कर रही है ॥१३॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम्।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः ॥१४॥

अन्वयः—प्रतिदन्ति अनीकम् अधिस्यदस्यन्दनम् उत्थितानां महारथानां पन्थाः आमूललूनैः मातंगहस्तैः अतिमन्युना इव न व्रियते ॥१४॥

अर्थ—हाथियों की सेना पर आक्रमण करने वाले वेगवान् रथों पर आरूढ़ महारथियों का मार्ग (इस युद्ध में) समूल कटे हुए गजराजों के सूँड़ों से मानो अतिक्रोध के कारण नहीं रोका जा रहा है ॥१४॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः।
न बर्हभारः पतितस्य शार्ङ्गोर्निषादिवक्षःस्थलमातनोति ॥१५॥

अन्वयः—पतितस्य शङ्कोः बर्हभारः धृतोत्पलापीडः प्रियायाः शिथिलः शिरोरुहाणां कलापः इव निषादिवक्षःस्थलं न आतनोति ॥१५॥

अर्थ—(वक्षस्थल में) धँसे हुए बरछों का मयूर पिन्छ (अन्य युद्धों की भाँति इस युद्ध में) कमल की माला से सुशोभित प्रियतमा के शिथिल केशकलापों के समान गजारोहियों के वक्षस्थल को आवृत नहीं कर रहा है ॥१५॥

टिप्पणी—बरछों के पिछले भाग में पहचान के लिए मयूर के पिन्छ लगे रहते थे।

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥१६॥

अन्वयः—अत्र संहारे इव तेजस्विषु अस्तसंख्याम् अह्नाय जीवितानि उज्झत्सु मृत्युः लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वम् आननं न व्याददाति ॥१६॥

अर्थ—इस युद्ध में प्रलय काल की तरह तेजस्वी वीरों के अपार संख्या में कट-कट कर तुरन्त ही प्राण छोड़ देने पर मृत्यु तीनों लोकों के भक्षण के लिए अपनी जीभ लपलपाती हुई अपना मुँह नहीं बाए हुए है ॥१६॥

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम्।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥१७॥

अन्वयः—इयं मम शक्तिः च दुर्वारमहारथानां महतां बलानां वीर्यम् आक्षिप्य ताराधिपधाम्नि सौरी दीप्तिः इव हीनयुद्धे आवस्यति ॥१७॥

अर्थ—यह मेरी शक्ति, जो कभी परम पराक्रमी महारथियों के महान् पराक्रम को भी ध्वस्त करने वाली थी, वही इस तुच्छ युद्ध में चन्द्रमा के तेज में सूर्य की प्रभा की तरह लुप्त हो रही है ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् यह बिल्कुल उल्टा हो रहा है।

माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः।
गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥१८॥

अन्वयः—एषा माया स्वित् मतिविभ्रमः वा मे वीर्यं ध्वस्त नु उत अहम् अन्यः हि गाण्डीवमुक्ता मे शराः यथापुरा किराते न पराक्रमन्ते ॥१८॥

अर्थ—यह कोई माया है या मेरा ही बुद्धिभ्रम है या मेरा पराक्रम ही तो नहीं ध्वस्त हो गया है, या मैं ही तो नहीं कुछ दूसरा हो गया हूँ, क्योंकि गाण्डीव से छूटे हुए मेरे बाण जैसे पहले अपना पराक्रम दिखाते थे वैसे इस किरात में नहीं दिखला रहे हैं ॥१८॥

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुषः प्रणादैः ।
नूनं तथा नैष यथास्य वेषः प्रच्छन्नमप्यूह्यते हि चेष्टा ॥१९॥

अन्वयः—उत्तमस्य पुंसः मध्यमम् पदम् धनुषः प्रणादैः द्विधाकुर्वन् इव एषः नूनं न अस्य यथा वेषः हि चेष्टा प्रच्छन्नम् अपि ऊह्यते ॥१९॥

अर्थ—पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् वामन के मध्यम पद आकाश को अपने धनुष की टङ्कार से दो भागों में विदीर्ण करते हुए की तरह यह किरात निश्चय ही वैसा नहीं है जैसी कि इसकी वेश-भूषा है। क्योंकि चेष्टाओं से मनुष्य का छिपा हुआ रूप भी प्रकट हो जाता है ॥१९॥

धनुः प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।
सन्धानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसम्भेद इवापवर्गे ॥२०॥

अन्वयः—धनु रुषा इव प्रबन्धध्वनित मौर्वी सकृत् विकृष्टा वितता इव सन्धानम् उत्कर्षं व्युदस्य इव अपवर्गे मुष्टेः असम्भेदः इव ॥२०॥

अर्थ—इसका धनुष मानो क्रुद्ध होकर निरन्तर टङ्कार करता रहता है। प्रत्यञ्चा एक बार खींचने पर बराबर खिंची हुई सी रहती है। बाणों का सन्धान तरकस से निकालने के बिना ही जैसा होता है एवं बाणों का छोड़ना तो जैसे मुट्ठी के बिना बाँधे ही होता जा रहा है ॥२०॥

टिप्पणी—इन सब बातों से इस किरात के असाधारण हस्तलाघव की सूचना मिलती है।

अंसाववष्टब्धनतौ समाधिः शिरोधराया रहितप्रयासः।
धृता विकारांस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मी: शशलाञ्छनस्य ॥२१॥

अन्वयः—अंसाववष्टब्धनतौ शिरोधराया समाधिः रहितप्रयासः विकारान् त्यजता मुखेन शशलाञ्छनस्य प्रसादलक्ष्मी: धृता ॥२१॥

अर्थ—इसके दोनों कंधे अविचल हैं तथा नीचे की ओर झुके हुए हैं। और गरदन तनिक भी इधर-उधर नहीं हिलती और उससे यह नहीं ज्ञात होता कि यह तनिक भी प्रयास कर रहा है। मुख पर विकार की मात्रा भी नहीं है जिससे वह चन्द्रमा की सी कान्ति से युक्त दिखाई पड़ता है ॥२१॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम् ॥२२॥

अन्वयः—कार्यवशागतेषु स्थानेषु देहः विष्टब्धतया न प्रहीयते ससौष्ठवः शराणां पातः च स्थितप्रयातेषु लक्ष्येषु सदृशः ॥२२॥

अर्थ—युद्ध में कार्य वश इधर-उधर का पैंतरा बदलने पर भी इसका शरीर अपने में अविचल रहता है, हिलता-डुलता या ढीला ढाला नहीं होता तथा अत्यन्त लाघव के साथ इसके बाणों का संधान तो चञ्चल और अचल—दोनों प्रकार के लक्ष्यों में एक जैसा हो रहा है ॥२२॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे।
भीष्मेऽप्यसम्भाव्यमिदं गुरौ वा न सम्भवत्येव वनेचरेषु ॥२३॥

अन्वयः—परस्य विवरे भूयान् अभियोगः आत्मरन्ध्रे प्रसह्य संरक्षणम् इदं भीष्मे अपि गुरौ वा असम्भाव्यं वनेचरेषु न सम्भवत्येव ॥२३॥

अर्थ—यह शत्रु की छोटी-सी त्रुटि की भी विशेष जानकारी रखता है और अपनी विशेष त्रुटियों की भी तुरन्त रक्षा कर लेता है। इसकी ये दोनों विशेषताएँ

तो भीष्म-पितामह तथा आचार्य द्रोण में भी असम्भव हैं, और किरातों में तो नितान्त ही असम्भव हैं ॥२३॥

टिप्पणी—इसलिए यह किरात नहीं है, किरात वेशधारी कोई अमानव पुरुष है।

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम्।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः ॥२४॥

अन्वयः—अप्राकृतस्य आहवदुर्मदस्य अस्य वीर्यम् अस्त्रबलेन निवार्यम् अल्पीयसः अपि आमयतुल्यवृत्तेः रिपोः विवृद्धिः महोपकाराय ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त रीति से असाधारण पराक्रमशाली एवं रणके मद से उन्मत्त इस किरात के तेज को किसी दिव्यास्त्र के द्वारा निवारित करना चाहिए क्योंकि छोटे से छोटे शत्रु की भी वृद्धि रोग की भाँति महान् अपकारिणी सिद्ध होती है ॥२४॥

टिप्पणी—जब छोटे से शत्रु की वृद्धि महान् अपकारिणी होती है तो यह तो महान पराक्रमी तथा तेजस्वी शत्रु है, इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

स सम्प्रधार्यैवमहार्यसारः सारं विनेष्यन्सगणस्य शत्रोः।
प्रस्वापनास्त्रं द्रुतमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्रः ॥२५॥

अन्वयः—अहार्यसारः सः एवं सम्प्रधार्य सगणस्य शत्रोः सारं विनेष्यन् प्रस्वापनास्त्रं घनानद्धः अर्धरात्रः ध्वान्तम् इव द्रुतम् आजहार ॥२५॥

अर्थ—असहनीय पराक्रमशाली अर्जुन ने इस प्रकार का निश्चय करके प्रमथगणों समेत अपने मुख्य शत्रु के पुरुषार्थ को दूर करने के लिए अपने प्रस्वापन नामक अस्त्र को इस प्रकार से तुरन्त खींचा, जिस प्रकार से निविड घनों से व्याप्त अर्धरात्रि का समय अन्धकार को धारण करता है ॥२५॥

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्ररश्मेः।
महावनानीव महातमिस्रा छाया ततानेशबलानि काली ॥२६॥

अन्वयः—प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा सहस्ररश्मेः धाम निरुन्धती काली छाया ईशबलानि महातमिस्रा महावनानि इव ततान ॥२६॥

अर्थ—निरन्तर जलने वाली दावाग्नि के धुएँ के सदृश धूसर वर्ण की, सूर्य के तेज को आवृत करने वाली काली छाया ने शंकर जी की समस्त सेना को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से निविड़ अन्धकार घने जङ्गलों को व्याप्त कर लेता है ॥२६॥

आसादिता तत्प्रथम प्रसह्य प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती ।
सभेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ॥२७॥

अन्वयः—तत् प्रथम प्रसह्य आसादिता प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती भीमा निद्रा सभा इव गणानाम् प्रतिभागुणस्य निरासम् विदधे ॥२७॥

अर्थ—उस घोर भयंकर मोहिनी निद्रा ने पहली बार ही में हठ पूर्वक प्राप्त होकर प्रमथ गणों की व्यवहार धृष्टता को दूर कर प्रतिभा रूपी गुणों का इस प्रकार से लोप कर दिया जिस प्रकार से विद्वानों की सभा में प्रथम बार जाने से साधारण व्यक्ति की वाक्पटुता दूर हो जाती है ॥२७॥

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।
केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ॥२८॥

अन्वयः—केचित् उत्तमवंशजत्वात् गुरुस्थिराणि अनुशीलनेन विज्ञातसाराणि गुणान्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि इव समाश्रित्य तस्थुः ॥२८॥

अर्थ—कुछ प्रमथ सैनिक उत्तम वंश में उत्पन्न होने के कारण महान् एवं सुदृढ़ तथा पुराने परिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा से युक्त अपने धनुषों का, उत्तम कुलोत्पन्न, महान, सुदृढ़ एवं चिरपरिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले मित्रों के समूह की भाँति, सहारा लेकर खड़े रह गए ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य विपत्ति के समय अपने योग्य मित्रों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार से कुछ प्रमथों ने अपनी-अपनी धनुषों का सहारा लिया । उसी पर टेक लगाकर वे खड़े हो गये ।

कृतान्त दुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे।
अतर्कितं पाणितलान्निपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥२६॥

अन्वयः—कृतान्तदुर्वृत्ते इव पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि तदा अपरेषाम् आयुधानि क्रियाफलानि इव अतर्कितम् पाणितलात् निपेतुः ॥२६॥

अर्थ—देव की प्रतिकूलता की भाँति पाण्डुपुत्र अर्जुन के उस प्रस्वापन अस्त्र के विपक्षी रूप में सम्मुखवर्ती होने पर अन्य वीरों के अस्त्र-समूह बिना विचार किए ही इस प्रकार से उनके हाथों से नीचे गिर पड़े जिस प्रकार से देव की प्रतिकूलता में कृषि आदि नष्ट हो जाती है ।।२६॥

अंसस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवतां तरूणाम्।
मदेन मीलन्नयनाः सलीलं नागा इव स्रस्तकरा निषेदुः ॥३०॥

अन्वयः—अभिन्नधैर्याः केचित् अंसस्थलैः संश्लेषवता तरूणां स्कन्धेषु मदेन मीलन्नयनाः नागाः इव स्रस्तकरा सलीलम् निषेदुः ॥३०॥

अर्थ—इस विषम परिस्थिति में भी धैर्य न छोड़ने वाले कुछ प्रमथ गण अपने कंधों से लगे हुए वृक्षों के तनों पर मद के कारण आँखें मूँदे हुए गजों की तरह लीलापूर्वक अपने हाथों (सूँड़ों) को ढीला किए हुए बैठे रहे ॥३०॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥३१॥

अन्वयः—अथ तिरोहितेन्दोः शम्भुमूर्ध्नः सुमेरुशृङ्गात् आर्कं बिम्बम् इव तपसां निवासैः प्रणम्यमानं पिशङ्गं तेजः उच्चैः उदियाय ॥३१॥

अर्थ—तदन्तर किरात वेश के कारण छिपे हुए चन्द्रमा वाले भगवान शंकर के भालप्रदेश से तपस्वियों द्वारा प्रणाम किया जाता हुआ पीले वर्ण का तेज इस प्रकार से ऊपर की ओर उदित हुआ जिस प्रकार से (चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर) सुमेरु के शिखर से (तपस्वियों द्वारा प्रणम्य) सूर्य का मण्डल उदित होता है।

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्यः ॥३२॥

अन्वय:—इन्दुमौलेः द्युतिः तत्त्वस्य संवित्तिः अपविद्याम इव तां तमोमयीं छाया विनिर्धूय गणेभ्यः आलोकम् अभ्यादिशती विकास ययौ ॥३२॥

अर्थ—चन्द्रमौलि शंकर की वह प्रभा उस अन्धकारमयी निद्रा को दूर कर प्रमथगणों को आलोक प्रदान करती हुई इस प्रकार से विकसित हुई जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान का उदय अविद्या के अन्धकार को नाश करके विकसित होता है ॥३२॥

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव सन्ध्या ।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥३३॥

अन्वय:—सर्वतः पाटलिताम्बुवाहा त्विषा ततिः सर्वतः पूर्वसरी सन्ध्या इव उल्लसन्ती तेषां लोचनपङ्कजानि द्रुत विनिद्रता निनाय ॥३३॥

अर्थ—चारों ओर से मेघ मण्डल को रक्त वर्ण का बनाती हुई वह ज्योति माला प्रातःकाल की सन्ध्या अर्थात् उषा की तरह फैलती हुई उन प्रमथ गणों के नेत्र-कमलों को शीघ्र ही प्रफुल्लित करने लगी ॥३३॥

पृथग्विधान्यस्त्रविरामबुद्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ॥३४॥

अन्वय.—अस्त्रविरामबुद्धाः ते बलाहकानां वितानेन मुक्ता रम्या दिग्विभागाः ज्योतींषि इव पृथग्विधानि शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ॥३४॥

अर्थ—अर्जुन के प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवों के शान्त हो जाने पर चेतना को पाते वे प्रमथगण, बादलों की घटाओं से मुक्त होने के कारण मनोहर दिशाओं के भाग जिस तरह से नक्षत्रों से सुशोभित हो जाते हैं उसी तरह वे विविध प्रकार के शस्त्रों को पुनः धारण करके सुशोभित होने लगे ॥३४॥

द्यौरुन्नतामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः ।
क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ॥३५॥

अन्वयः—यामवत्यां त्यय गतायाम् इव द्यौः उन्ननाम इव दिशः प्रसे
सवितुः मयूखैः स्फुट विसस्ते दिनश्रीः पुनः दिनं समीयाय ॥३५॥

अर्थ—उस समय रात्रि के व्यतीत हो जाने के समान अन्तरिक्ष मानों ऊ उठ आया, दिशाएँ सुप्रसन्न हो गयीं, सूर्य की किरणें स्पष्ट होकर विस्तृत गयीं, और दिन की शोभा ने पुनः दिन का आश्रय लिया ॥३५॥

टिप्पणी—समुच्चय अलंकार और उत्प्रेक्षा अलंकार का संकर।

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ॥३६॥

अन्वयः—भुजवीर्यशाली जिष्णुः महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेन इव परेण शिथि प्रयत्न रुग्णे प्रबन्धनाय भुजङ्गपाशान् प्रजिघाय ॥३६॥

अर्थ—तदनन्तर परम बाहुबलशाली अर्जुन ने महान् दुर्ग की भाँति दु अपने प्रस्वापन अस्त्र के दिग्गजों के समान शत्रु द्वारा थोड़े ही प्रयास व्यर्थ बना देने पर, सम्पूर्ण प्रमथ सैनिकों को बाँधने के लिए सर्प-रूपी पाशों (सर्पास्त्र का) प्रहार किया ॥३६॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ॥३७॥

अन्वय.—लसत्तडिल्लोलविषानलानि जिह्वाशतानि अजस्रम् उल्लसय भुजगेन्द्रसेना त्रासात् नभश्चरैः निरस्ता तत्पदवीं विवव्रे ॥३७॥

अर्थ—चमकती हुई बिजली के समान चंचल विषाग्नि से युक्त, सैर जिह्वा को निरन्तर लपलपाती हुई सर्पराजों की सेना ने अपने भय से आका चारियों को दूर भगाकर उनके समूचे मार्ग अर्थात् सम्पूर्ण आकाश मण्डल आच्छादित कर लिया ॥३७॥

दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्भोगैः प्रशस्तासितरत्ननीलैः ।
रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ॥३८॥

अन्वय.—दिङ्नागहस्ताकृतिम् उद्वहद्भिः प्रशस्तासितरत्ननीलैः भोग. पावलिः उल्लसन्ती नभोर्णवस्य तरङ्गमाला इव रगज ॥३८॥

अर्थ—दिग्गजों की सूँड़ों के सदृश आकार को धारण करने वाली एव न्दर इन्द्रनील मणि के समान नीले शरीर से युक्त वह सर्प पंक्ति आकाश र्ग में चमकती हुई आकाश-रूपी समुद्र की तरङ्ग-माला के समान सुशोभित ई ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—रूपकोत्थापित उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं फणावतामुत्फणमण्डलानाम्।
गच्छन्निवास्त वपुरभ्युवाह विलोचनाना सुखमुष्णरश्मिः ॥३६॥

अन्वयः—उष्णरश्मिः अस्त गच्छन् इव उत्फणमण्डलानां फणावता नि.श्वा-धूमैः स्थगितांशुजालं विलोचनाना सुख वपु. अभ्युवाह ॥३६॥

अर्थ—भगवान भास्कर मानों अस्तगत होते हुए के समान, ऊपर फण ठाये हुए उन सर्पों के फूत्कारों के धुँए से अपनी किरण-माला के छिपाने के कारण (उस समय) आँखों से सुखपूर्वक देखने योग्य शरीर (मण्डल) ारण करने लगे ॥३६॥

प्रतप्तचामीकरभासुरेण दिश. प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः।
निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥४०॥

अन्वयः—प्राणहरेक्षणानां लोचनेभ्यः प्रतप्तचामीकरभासुरेण प्रकाशेन दिश' पिशङ्गयन्त्यः ज्वाला महोल्का इव निश्चक्रमु. ॥४०॥

अर्थ—आँख के विष से ही प्राण हरण करने वाले उन दृष्टिविष नामक र्पों के नेत्रों से, तपाए हुये सुवर्ण की तरह प्रदीप्त अपने प्रकाश से दिशाओं को पीले वर्ण की बनाती हुई ज्वालाएँ महान् उल्काओं के समान बाहर निकलीं ॥४०॥

आक्षिप्तसम्पातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम्।
वृत नभो भोगिकुलैरवस्था परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥४१॥

अन्वयः—आत्तिप्तसम्पातम् अपेतशोभम् उद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभाग भोगिकुलैः वृत नभः परोपरुद्धस्य पुरस्य अवस्था भेजे ॥४१॥

अर्थ—सिद्धों एव पक्षियों आदि के मार्गों के रुक जाने से सचार रहित, शोभा विहीन, चारों ओर से जलती हुई अग्नि से युक्त सभी दिशाओं में धुए से व्याप्त उन सर्पों से आच्छादित आकाश-मंडल शत्रुओं द्वारा घेरे हुए नगर का अवस्था को प्राप्त हो गया ॥४१॥

टिप्पणी—शत्रुओं द्वारा नगर पर घेरा डाल देने से भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निदर्शना अलकार।

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण तार्क्ष्योदयकारणेन ।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥४२॥

अन्वयः—पशूना पतिः त चक्षुःश्रवसा समूह तार्क्ष्योदयकारणेन मन्त्रेण नेता नयेन परोपजापम् इव आशु निवारयामास ॥४२॥

अर्थ—तदनन्तर पशुपति भगवान् शङ्कर ने उन सर्पों के समूह को गरुड़ को उत्पन्न करने वाले अपने मन्त्र के प्रभाव से इस प्रकार शीघ्र ही दूर कर दिया जिस प्रकार से जन-नेता अपने न्याययुक्त शासन द्वारा शत्रु के षड्यन्त्र को शीघ्र ही विफल कर देता है ॥४२॥

प्रतिघ्नतीभिः कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि ।
गरुत्मतां संहतिभिर्विहायः क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने ॥४३॥

अन्वय.—द्युलोकभाजाम् अपि कृतमीलितानि लोचनानि प्रतिघ्नतीभि. गरुत्मता सहतिभि' क्षणप्रकाशाभिः इव विहायः अवतेने ॥४३॥

अर्थ—स्वर्गलोक के निवासी अर्थात् निर्निमेष नेत्रों वाले देवताओं के भी मुँदे हुए नेत्रों को चौंधियाते हुए उन गरुड़ों के समूहों ने बिजली के प्रकाश की भाँति समूचे आकाश मडल को (तुरन्त) व्याप्त कर लिया ॥४३॥

ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डलयञ्जवेन ।
जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीनां गहनानि वायुः ॥४४॥

अन्वयः—ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिः वायुः वनस्पतीनां गहनानि जरत्तृणानि इव जवेन मण्डलयन् वियत् निनाय ॥४४॥

अर्थ—तदनन्तर उन गरुड़ों के पक्षों से निकली हुई विविध प्रकार की गतियों से युक्त वायु ने बड़े-बड़े वृक्षों को भी पुराने तिनकों के समान वेगपूर्वक मण्डलाकार बनाते हुए आकाश मण्डल में पहुँचा दिया ॥४४॥

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।
व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ॥४५॥

अन्वयः—मनःशिलाभङ्गनिभेन भासां निकरेण पश्चात् निरुध्यमानं व्यूढैः उरोभिः च विनुद्यमानं नभः खगानां पुरः ससर्प इव ॥४५॥

अर्थ—मनःशिला (मैनसिल) के खंड के समान कांति पुंज से पिछले भाग में आवृत्त एवं विशाल वक्षस्थलों से तैरा जाता हुआ आकाश मंडल उन गरुड़ों के आगे मानों स्वयं भागने-सा लगा ॥४५॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीब इवाचकम्पे ॥४६॥

अन्वयः—जवानिलाघूर्णितसानुजालः हिमाचलः आसवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम दरीमुखैः इव पीत्वा क्षीबः आचकम्पे ॥४६॥

अर्थ—वेग-वायु से हिलते हुए शिखर-समूहों वाला हिमालय मदिरा जैसी लालरङ्ग की एवं चमकती हुई उन सुवर्ण पंखी गरुड़ों के पक्षों की कान्ति को मानों अपने गुफा-रूपी मुखों से पीकर मतवाले के समान डगमग करने लगा ॥४६॥

टिप्पणी—उपमा से व्यापित उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः ।
अन्तर्हितार्कैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिच्छिदिरे वनानाम् ॥४७॥

अन्वयः—प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तैः नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः अन्तर्हितार्कैः पतद्भिः परितः वनानां छायाः समाचिच्छिदिरे ॥४७॥

अर्थ—दिन और रात्रि की सन्धिवेला के समान सुशोभित, आकाश मडल एव पृथ्वी को पीले वर्ण में रॅगने वाले एव सूर्य को आच्छादित करनेवाले उन गरुड़ पक्षियों ने चारों ओर से वन की छाया को विलुप्त-सा कर दिया ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—गरुड़ों के पङ्खों की स्वर्णिम आभा से भीतर-बाहर एक जैसा प्रकाश होने के कारण वन की छाया भी लुप्त हो गई।

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्ना सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।
महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन ॥४८॥

अन्वय'—सः भोगिसङ्घः उग्रधाम्ना विनतासुताना सैन्येन महाध्वरे विध्यपचारदोषः महोदयेन कर्मान्तरेण इव शम निन्ये ॥४८॥

अर्थ—वह सर्प समूह उन परम तेजस्वी गरुड़ों की सेना द्वारा इस प्रकार से शान्त हो गया जिस प्रकार से किसी बहुत बड़े यज्ञ में कोई कर्मस्खलन रूपी दोष किसी महा सामर्थ्यशाली प्रायश्चित्त के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् अर्जुन का वह सर्पास्त्र शिवजी के गारुड़ास्त्र के द्वारा शान्त हो गया।

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥४९॥

अन्वय.—अस्त्रे भाग्ये इव रिपुपौरुषस्य साफल्य कृत्वा अपवर्ग गते समन्युः जिष्णुः अनिन्धनस्य ज्वलनस्य अस्त्रं प्रसभं समाददे ॥४९॥

अर्थ—पूर्वजन्मार्जित पुण्य धर्म के समान शत्रु के पराक्रम को सफल बनाकर अपने सर्पास्त्र के (प्रभाव के) समाप्त हो जाने पर क्रोधयुक्त अर्जुन ने इन्धनादि सामग्री के बिना ही प्रज्वलित होने वाले अग्निबाण को तुरन्त ही ग्रहण किया ॥४९॥

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः ।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ॥५०॥

अन्वयः—ऊर्ध्वं तिरश्चीनम् अधश्च कीर्णैः ज्वालासटैः लङ्घितमेघपङ्क्तिः आयस्तसिंहाकृतिः जातवेदाः प्राण्यन्तम् इच्छन् इव उत्पात ॥५०॥

अर्थ—ऊपर, नीचे और इधर-उधर फैली हुई विकराल ज्वाला रूपी केसर से मेघ पङ्क्तियों को लाँघने वाला अपने शिकार के ऊपर छलाँग मारने के लिए उद्यत सिंह के समान आकृति वाला अग्नि मानों प्राणियों के संहार की इच्छा से ऊपर को प्रज्वलित हो उठा ॥५०॥

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।
विदीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः ॥५१॥

अन्वयः—भाभिः सवितुः मयूखान् भित्त्वा इव विष्वक् विसृतस्फुलिङ्गः अकृशः कृशानुः विदीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन् जज्वाल ॥५१॥

अर्थ—अपने तेज से मानों सूर्य की किरणों को भेद कर चारों ओर प्रचण्ड चिनगारी की वर्षा करते हुए वह विकराल अग्नि बड़ी-बड़ी चट्टानों के विदीर्ण होने के समान भयङ्कर ध्वनि करता हुआ धुआँधार जलने लगा ॥५१॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृंगान्क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥५२॥

अन्वयः—वह्निः पवनानुवृत्त्या चयान् इव तुङ्गशृंगान् अद्रीन् इव क्वचित् हिरण्मयानि पुराणि इव किंशुकानां महावनानि इव ततान ॥५२॥

अर्थ—अग्नि अनुकूल पवन के कारण कहीं तो सुवर्णमय प्राकार की भाँति, कहीं ऊँचे शिखरों वाले पर्वत के समान, कहीं सुवर्णमय नगर की भाँति और कहीं फूले हुए पलाश के महावन के समान आकार धारण कर जलने लगा ॥ ५२ ॥

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥५३॥

अन्वयः—सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः मुहुः चलत्पल्लवलोहिनीभिः शिखिनः उच्चैः शिखाभिः अवलीढाः तलेषु मुक्ताविशदाः बभूवुः ॥५३॥

अर्थ—सघन काजल के समान काले बादल बारम्बार चञ्चल पल्लवों के समान लोहित वर्णवाली अग्नि की ऊँची ज्वालाओं से जल-जलकर (जलरहित होने के कारण) निचले भाग मे मुक्ता के समान शुभ्र बन गये ॥५३॥

लिलिक्षतीव क्षयकाल रौद्रे लोक विलोलार्चिषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्र पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥५४॥

अन्वयः—क्षयकालरौद्रे विलोलार्चिषि रोहिताश्वे लोक लिलिक्षति इव पिनाकिना पुनः हूतमहाम्बुवाह पाशभृतः अस्त्रं प्रणिन्ये ॥५४॥

अर्थ—प्रलय काल के समान अत्यन्त भयकर एवं अपनी लपलपाती हुई ज्वालाओं से मानों सम्पूर्ण लोक को चाट जाने के लिए इच्छुक अग्नि के चारों ओर फैल जाने पर पिनाकधारी शकर जी ने पुनः बड़े-बड़े मेघों को बुलाने वाले वरुण अस्त्र का प्रयोग किया ॥५४॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः ।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्त मुमुचुः पयोमुचः ॥५५॥

अन्वयः—ततः धरित्रीधरतुल्यरोधसः तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः पयोमुचः अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः अपः प्रसक्त मुमुचुः ॥५५॥

अर्थ—उस वरुणास्त्र का प्रयोग करने के अनन्तर बड़े-बड़े पर्वतों के समान आकार युक्त बिजली की रेखाओं से चमकते हुए काले-काले बादल नीचे मुख कर के गिरने वाली आकाश-नदी के समान अविच्छिन्न जलधारा गिराने लगे ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—अत्र यहाँ से वशस्थ वृत्त छन्द है।

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनि पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥५६॥

अन्वयः—पराहतध्वस्तशिखे अधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि शिखावतः वपुषि तप्ते अयसि इव कृतास्पदाः प्रथमे पयोनिपाताः ध्वनि वितेनिरे ॥५६॥

अर्थ—जल वृष्टि से ज्वालाओं के शान्त हो जाने एवं प्रचंड तेज के नष्ट हो जाने पर अग्नि के शरीर पर, तपाये हुए लाल लोहे पर गिरने के समान पहली बार में गिरने वाली जलधारा छनछन की ध्वनि करने लगी ॥५६॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः क्वथनेन फेनताम् ।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसन्ततिः ॥५७॥

अन्वयः—महानले भिन्नसिताभ्रपातिभि. सद्यः क्वथनेन फेनता समेत्य, परिक्षय व्रजद्भि. जलैः आर्द्रेन्धनवत् दिवि धूमसन्तति. वितेने ॥५७॥

अर्थ—उस प्रचंड अग्नि में मानों खंड-खंड होकर गिरने वाले श्वेत मेघ के समान उस जल की धारा, तुरन्त ही खौल कर फेन बनकर विनष्ट होती हुई गीले इन्धन के समान आकाश में धुएँ की माला विस्तारित करने लगी ॥५७॥

स्वकेतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुःप्रभाभिदः ।
असस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुता त्विषः ॥५८॥

अन्वयः—पाण्डुरनीलपाटलैः स्वकेतुभि' समागताः शक्रधनु. प्रभाभिद. विभा-वसो. त्विष. असस्थिता विचित्रचीनांशुकचारुताम् आदधिरे ॥५८॥

अर्थ—अपने कपिश, काले और लाल रङ्ग के विचित्र धूम रूपी-केतु से इन्द्र धनुष की कान्ति को तिरस्कृत करनेवाली अग्नि की कान्ति ने झिलमिलाते हुए चीन देश के धूप-छाँही रेशमी वस्त्र के समान अस्थिर (क्षणिक) सुन्दरता धारण की ॥ ५८ ॥

जलौघसम्मूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः ।
प्रशान्तिमेष्यन्धुतधूममंडलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ॥५९॥

अन्वयः—जलौघसम्मूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युति. धुतधूममंडलः पावक प्रशान्तिम् एष्यन् तत्र भूयान् इव बभूव ॥५९॥

अर्थ—बादलों से अविच्छिन्न रूप में गिरने वाले जल-प्रवाह के आघात से अग्नि के जलने का शब्द और अधिक गंभीर हो गया एवं बादलों में चमकती हुई बिजली की चमक के मिश्रण से उसकी दीप्ति भी अधिक बढ़ गयी—

इस प्रकार से विपुल धूम मण्डल से शोभित वह अग्नि शान्त होते हुए भी उस प्रदेश में पहले से भी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ने लगा ॥५६॥

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसां प्रपेदिरे ।
उपात्तसन्ध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥६०॥

अन्वयः—प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां पयसां चयैः विभिन्नाः कृशानवः उपात्तसन्ध्यारुचिभिः पयोदविच्छेदलवैः सरूपतां प्रपेदिरे ॥६०॥

अर्थ—ऊपर उठती हुई समुद्र की लहरों के समान ढेर के ढेर उस जलराशि से जगह-जगह विभाजित अग्नि के अङ्गारे सायकालीन मेघों के छोटे-छोटे अरुण वर्ण टुकड़ों के समान दिखाई पड़ रहे थे ॥६०॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार ।

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम् ।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥६१॥

अन्वयः—अनन्तद्युतिः अपि विभिन्नमूलः असंशयम् अनुदयाय संक्षयं उपैति तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः सः हव्यवाहः पराभवम् प्रययौ ॥६१॥

अर्थ—महान तेजस्वी भी हो यदि उसका मूल नष्ट हो जाता है तो वह निश्चय ही नष्ट हो जाता है और उसका फिर से उदय नहीं हो सकता जलराशि से विशीर्ण हो जाने पर वह प्रचण्ड अग्नि भी पराभूत हो ही गया ॥६१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानै-
रसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।
विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां
श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः ॥६२॥

अन्वयः—अथ विहितविधेयैः असितनगनितम्बश्यामभासां घनानां वितानैः मुक्ता द्यौः वह्निदाहात् इव विकसदमलधाम्नां नीलोत्पलानाम् अधिकविशुद्धाम् श्रियं आशु प्राप ॥६२॥

अर्थ—तदनन्तर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने वाले कज्जलगिरि के तट प्रदेश की भाँति काले वर्णवाले मेघों की घटाओं से मुक्त आकाश मानों अग्नि दाह के कारण विकसित एवं निर्मल कान्ति से युक्त नीले कमल की अत्यन्त स्वच्छ शोभा को तुरन्त ही प्राप्त हुआ ॥६२॥

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार। मालिनी छन्द।

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं
बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम्।
विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः
सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः ॥६३॥

अन्वयः—बहुसमरनयज्ञः सव्यसाची अरातिं सादयिष्यन् इति विविधं यत् अस्त्रम् उदासे विपरीतः विधिः न्यायवृत्तेः पौरुषम् इव नीलकण्ठः सपदि तत् रिक्तताम् उपनिन्ये ॥६३॥

अर्थ—युद्ध के अनेक कौशलों के जानने वाले सव्यसाची अर्जुन ने अपने शत्रु किरातपति को पराजित करने के इरादे से जिन-जिन अस्त्रों का प्रयोग किया उन-उन को नीलकंठ शंकर ने शीघ्र ही इस प्रकार से व्यर्थ बना दिया जिस प्रकार से न्यायनिष्ठ पुरुष के पराक्रम को प्रतिकूल दैव नष्ट कर देता है ॥६३॥

वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः
प्रत्याचकांक्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम्।
अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णु-
र्वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः ॥६४॥

अन्वयः—भूतपतिना अस्त्रेषु अपहृतेषु वर्षिष्यता दिनकृता जलेषु लोकः इव वीतप्रभावतनुः अपि अतनुप्रभावः जिष्णुः जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीं प्रति आचकांक्ष ॥६४॥

अर्थ—भविष्य में अनुग्रह करने वाले भगवान् शकर के द्वारा अपने अस्त्रों के निष्फल कर दिये जाने पर क्षीणशक्ति होकर भी अर्जुन ने स्वभावतः अपने अत्यधिक तेज से अपनी भुजाओं की पराक्रम-रूपी सम्पदा को इस-प्रकार से पुनः लाने की चेष्टा की जिस प्रकार से भविष्यत् में हजार-गुना अधिक कर देने की इच्छा रखने वाले सूर्य के द्वारा नदी-तड़ाग आदि का जल हरण कर लेने पर लोग अपने भुजबल का (कुँआ आदि खोद कर उसका) सहारा लेते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—वसन्ततिलका छन्द ।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥१६॥

— ० —

सत्रहवाँ सर्ग

[नीचे के छः श्लोकों द्वारा अर्जुन की चेष्टाओं का वर्णन है—]

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन्स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥१॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्मश्च तदीयवृद्ध्या ।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥२॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।
आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥३॥

वंशोचितत्वादभिमानवत्या सम्प्राप्तया सम्प्रियतामसुभ्यः ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥४॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥५॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥६॥

अन्वयः—अथ आपदाम् उद्धरणक्षमेषु अस्त्रेषु मित्रेषु इव तिरोहितेषु गुरुणा स्वपौरुषेण इव शरासनेन धृतिम् अभिपुष्यन् गुरुश्रीः, भूरिप्रभावेण रणाभियोगात् प्रीतः तदीयवृद्ध्या विजिह्मः च स्पष्टः अपि अविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन् महाधूमः अद्रिवह्निः इव, परैः अहार्यं निजं महत् तेजः मित्रम् इव समाश्रित्य भीमे अरि-दुर्गे अस्खलितस्वभावम् उरुधैर्यं भुजालम्बम् इव आसादयन्, अभिमानवत्या वंशोचितत्वाद् असुभ्यः सम्प्रियतां सम्प्राप्तया परेण समक्षम् आदित्सितया वध्वा इव कीर्त्या परितप्यमानः, नगानां पतिम् इव बद्धमूलं विपक्षं तरसा उन्मूलयिष्यन् त्रिमार्ग-गावेगः इव ईश्वरेण लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यः, पार्थः संस्कारवत्त्वात् चेतः रमयत्सु

प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु यथार्थेषु शरेषु जय शब्देषु भावार्थ इव आशशंसे ॥१-६॥

अर्थ—तदनन्तर आपत्तियों से बचाने में समर्थ प्रस्वापन आदि अस्त्रों के मित्रादि के समान निष्फल हो जाने पर अपने महान् पौरुष की भाँति अपने गाण्डीव नामक धनुष के द्वारा धैर्य को बढ़ाते हुए अर्जुन की शोभा बहुत बढ़ गई। महान् पराक्रमी शत्रु के साथ युद्ध करने का अवसर उपस्थित होने के कारण वह प्रसन्न थे किन्तु उसकी वृद्धि से उनका चित्त बहुत खिन्न था। अपने तेज से वह विभासमान थे तथापि पर्वत पर जलते हुए उस अग्नि समूह के समान वे दिखाई दे रहे थे, जिसमें से बहुत धूँआ निकल रहा हो और जिसका अस्तित्व साफ-साफ प्रकट होने पर भी प्रकाश साफ-साफ न दिखाई पड़ रहा हो। शत्रुओं द्वारा अतिरस्करणीय अपने महान् तेजस्वी मित्र के समान अपने तेज का सहारा लेकर अर्जुन ने उस भयानक शत्रु रूपी दुर्ग में अर्थात् शत्रु सकट में अविचल रहने वाले अपने महान् धैर्य का ही करावलम्ब-सा किया। अपने कुल शीलादि की अभिमानशालिनी एवं सर्वथा अनुकूल होने के कारण प्राणों से भी प्यारी वधू रूपी कीर्ति का अपने ही आँखों के सामने शत्रु द्वारा अपहरण करते देख वह अत्यन्त परिताप कर रह थे। नगपति हिमवान् के सदृश बद्धमूल शत्रु को अपने बल वेग से उन्मूलित करने के इच्छुक गगा के प्रवाह की भाँति अर्जुन का पराक्रम भी शकर जी के अल्प प्रयास से ही निष्फल हो गया था। इस प्रकार से विचार करते हुए अर्जुन ने फिर भी विजय-प्राप्ति के लिए अपने शरों का आश्रय लिया। अर्जुन के शर-प्रयोग अभ्यास और तत्सम्बन्धी अनेक गुणों के कारण चित्त को प्रसन्न करने वाले थे, सुप्रयोग शिक्षाभ्यास और गुणों के कारण हृदयानन्ददायी शब्दों के समान थे। [तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सुन्दर शब्दों से जिस प्रकार वैयाकरण लोग शब्दार्थ साधन करते हैं उसी प्रकार से अर्जुन ने भी धनुर्वेद शिक्षा और शर-प्रयोग विधि के अभ्यास आदि के बल पर अपने सब प्रकार के गुणों से भरे बाणों के द्वारा विजय प्राप्त करने की कामना की] ॥१-६॥

टिप्पणी—पाँचवें श्लोक में एक पौराणिक कथा से उपमा दी गयी है। गगा जी जिस समय आकाश से गिरीं, वह चाहती थीं कि हिमालय को तोड़-

फोड़कर निकल जायँ किन्तु शंकर जी ने अपनी जटाओं में उनके वेग को ऐसा निरुद्ध कर लिया कि उनके मनोरथ सफल नहीं हो सके। अर्जुन की इच्छा भी कुछ ऐसी ही थी किन्तु भगवान शंकर ने उसे भी पूरी नहीं होने दी।

भूयः समाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान्।
स निर्ववामास्त्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥७॥

अन्वयः—भूयः समाधानविवृद्धतेजाः पुरा युद्धम् एवं न इति व्यथावान् सः ईक्षणाभ्याम् महानागः विषम् इव अमर्षं नुन्नम् अस्रं निर्ववाम ॥७॥

अर्थ—इस प्रकार फिर से शंकर जी के साथ युद्धार्थ तैयार होने पर अर्जुन का तेज बहुत बढ़ गया किन्तु यह सोचकर उन्हें अत्यधिक व्यथा हुई कि पहले किसी युद्ध में ऐसी पराजय उनकी नहीं हुई थी। इस कारण से अपने दोनों नेत्रों से वे उसी तरह क्रोध जनित आँसू बरसाने लगे जैसे बहुत बड़ा सर्प अपनी आँखों से विष बरसाता है ॥७॥

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः ॥८॥

अन्वयः—आहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य तस्य रोषतप्तं मुखं निदाघः निर्वापयिष्यन् इव प्रस्नापयामास ॥८॥

अर्थ—युद्ध के परिश्रम के कारण बिखरे हुए केश पाश से युक्त एवं क्रोध के कारण तपाये हुए ताम्बे के सदृश लाल नेत्रों वाले अर्जुन के क्रोध से तमतमाते हुए मुखमण्डल को मानो धूप ने पसीना उत्पन्न करते हुए धो दिया था ॥८॥

टिप्पणी—अर्थात् उनके मुख पर पसीने की बूँद छहर उठीं थीं।

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः ॥९॥

अन्वयः—क्रोधान्धकारान्तरितः सः घनोपरुद्धः तिग्मरश्मिः वृष्टेः प्रभवाय तिस्रः ऊर्ध्वांशुराजीः इव रणाय भ्रूभेदरेखाः बभार ॥९॥

अर्थ—क्रोधान्धकार से आच्छन्न अर्जुन ने मेघमण्डल में आच्छन्न सूर्य की भाँति भावी वृष्टि की सूचना देने वाली किरणमाला की तीन ऊर्ध्वगामि- रेखाओं के समान रण में फिर से शीघ्र ही प्रवृत्त होने की सूचना देने वाली अपने भ्रूभग (भ्रुकुटि) की तीन टेढ़ी रेखाएँ धारण कर ली थीं ॥६॥

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम् ।
बलानि शम्भोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः ॥१०॥

अन्वयः—सः अम्बुदनादि चाप दिङ्नागः अद्रिशृङ्गम् इव हस्तेन प्रध्वनय्य शम्भोः बलानि अशरीरः चेतांसि चिन्ताभिः इव इषुभिः तताप ॥१०॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन ने मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करने वाले अपने गाण्डीव नामक धनुष को, जैसे कोई दिग्गज पर्वत शिखर को अपनी सूँड़ से उठा लेता है, वैसे ही हाथों से टंकार कर शकर जी की सेना को अपने बाणों से इस प्रकार सन्तप्त किया जैसे कामदेव युवकों के मन को अपने विषय-चिन्तन-रूप बाणों से व्यथित करता है ॥१०॥

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते ।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शराणां शितिकण्ठकाये ॥११॥

अन्वयः—अभिनिविष्टबुद्धौ सद्वादिता इव विपक्षपाते गुणाभ्यसूया इव च अगोचरे वाक् इव शराणा शक्तिः शितिकण्ठकाये उपरेमे ॥११॥

अर्थ—जिस प्रकार से शास्त्र ज्ञान से परिपुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य में प्रामाणिक वाणी व्यर्थ हो जाती है, अथवा दुराग्रही व्यक्ति में हितोपदेश व्यर्थ हो जाता है, पक्षपात विहीन मनुष्य में गुणों के प्रति ईर्ष्या व्यर्थ हो जाती है, तथा अगोचर ब्रह्म के विषय में वाणी व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार से भगवान शकर के शरीर में अर्जुन के बाणों की शक्ति व्यर्थ हो गयी ॥११॥

टिप्पणी—मालोपमा अलङ्कार ।

उमापतिं पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखा न व्यथयाम्बभूवुः ।
अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥१२॥

अन्वयः—पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखाः उमापतिम् अभ्युत्थितस्य अद्रिपतेः ...मनस्य अर्कस्य पादाः इव न व्यथयाम्बभूवुः ॥१२॥

अर्थ—पाण्डुपुत्र अर्जुन द्वारा चलाए गये बाणसमूह उमापति शंकर जी उसी प्रकार से व्यथित नहीं कर सके जिस प्रकार से हेमन्त काल के सूर्य की ...णें अत्युन्नत हिमालय के तट-प्रदेश को नहीं पिघला सकतीं ॥१२॥

सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम् ।
विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥१३॥

अन्वयः—गणानां पतिः तस्य पराक्रमं वप्रानतस्य सुरद्विपस्य असह्यं विषाण... हिमवान् इव संप्रीयमाणः अनुबभूव ॥१३॥

अर्थ—प्रमथों के स्वामी भगवान् शंकर ने अर्जुन के उस तीव्र पराक्रम को ...प्रकार से प्रसन्न होते हुए सहन किया जिस प्रकार से तट प्रहारकारी ऐरा...त के असह्य दन्त प्रहारों को हिमालय सहन करता है ॥१३॥

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।
चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ॥१४॥

अन्वयः—हि तस्मै भारोद्धरणे समर्थं प्रतापं बाहुम् इव प्रदास्यता कारणा...म् अपि कारणेन सः अभिभवः तदानीं चिरं विषेहे ॥१४॥

अर्थ—पृथ्वी का भार उतारने में समर्थ अपने प्रसाद रूपी प्रताप को भुजाव...न के समान अर्जुन को वितरण करते हुए कारणों के भी कारण-ब्रह्मादि देव...ओं के भी उत्पादक—शिव जी ने उस समय अर्जुन द्वारा किए गए अपने ...स पराभव (अपमान) को चिरकाल तक सहन किया ॥१४॥

[नीचे के चार श्लोकों में भगवान् शंकर के अभिप्राय को प्रकट किया ...या है—]

प्रत्याहृतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति ।
तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥१५॥

प्रकार से बरसते हुए रात्रि कालीन मेघों के गभीर गर्जन को डरी हुई, एवं शी से काँपती हुई गौएँ सुनती हैं ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रमथ-सेना केवल बाण-वृष्टि का शब्द ही सुनती र कुछ भी देखने या करने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी।

स सायकान्साध्वसविप्लुतानां क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन।
शशीव दोषावृतलोचनानां विभिद्यमानः पृथगावभासे ॥२१॥

अन्वय.—अतिसौष्ठवेन सायकान् क्षिपन् स.साध्वसविप्लुताना परे दोषावृतलोचनाना शशी इव पृथग् विभिद्यमान. आवभासे ॥२१॥

अर्थ—अत्यन्त हस्त लाघव के साथ बाणों को चलाते हुए अर्जुन उन भ त्रस्त शत्रुओं को इस प्रकार से एक होकर भी अनेक दिखाई पड़ने लगे वि प्रकार से काच कामला आदि रोगों से पीड़ित मनुष्य एक चन्द्रमा को भी अने देखता हे ॥२१॥

क्षोभेण तेनाथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य।
तरङ्गकम्पेन महाह्रदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः ॥२२॥

अन्वयः—अथ गणाधिपाना तेन क्षोभेण ईश्वरस्य आकृतिः महाह्रदा तरङ्गकम्पेन छायामयस्य दिनस्य कर्तुः इव भेदं ययौ ॥२२॥

अर्थ—तदनन्तर प्रमथ गणों के उस क्षोभ से भगवान् शंकर की मूर्ति

[यदि भगवान् शंकर भी विकृत हो गये तो उन्होंने क्रोध क्यों नहीं किया उसका कारण बताते हुए कहते हैं—]

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥२३॥

अन्वयः—प्रसेदिवांसं तं कोपः न आप, परस्मिन् पुरुषे विकारः कुतः। इदं आकारवैषम्यं च भेजे, महतां वृत्तिः दुर्लक्ष्यचिह्ना हि ॥२३॥

अर्थ—अर्जुन के प्रति प्रसन्न चित्त भगवान् शंकर को क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ। वे परमात्मा स्वरूप थे फिर उनमें विकार आता ही कैसे? उनकी केवल आकृति में ही विषमता आयी थी। बड़े लोगों की चित्त वृत्ति को कोई पहचान नहीं सकता ॥२३॥

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥२४॥

अन्वयः—ततः भूतानि भर्त्रा भुजाभ्यां विस्फार्यमाणस्य धनुरन्तकस्य स्फुरन्तीं भिन्नाकृतिं ज्यां क्रुद्धस्य तक्षकस्य जिह्वाम् इव ददृशुः ॥२४॥

अर्थ—तदनन्तर भूतपति शंकर जी की भुजाओं से खींचे गये कृतान्त के समान उनके धनुष की काँपती हुई एवं दो के रूप में दिखाई पड़ती हुई प्रत्यञ्चा को लोगों ने क्रुद्ध तक्षक की जिह्वा के समान देखा ॥२४॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किरातधिपमाशशङ्के।
पर्यायसम्पादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥२५॥

अन्वयः—पार्थः सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं किरातधिपम् अपराद्धः यन्ता पर्यायसम्पादितकर्णतालं व्यालं गजम् इव आशशङ्के ॥२५॥

अर्थ—अर्जुन वाम और दक्षिण गति से—दोनों प्रकार से अपने धनुष का टंकार करते हुए किरात सेनापति को देखकर इस प्रकार से आशंकित हो उठे जिस प्रकार से कभी बाएँ और कभी दाहिने कान को फटफटाने वाले दुष्ट हाथी को देखकर उसका उन्मत्त महावत आशंकित हो उठता है ॥२५॥

निजघ्निरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥२६॥

अन्वयः—हरेषुजालैः तस्य पतन्ति शिलीमुखाना वृन्दानि ऊर्जस्विभिः अम्बुराशेः यादोभिः सिन्धुमुखागतानि यादासि इव निजघ्निरे ॥२६॥

अर्थ—शंकर जी के शर समूहों ने अर्जुन द्वारा छोड़े गये वाणों के समूहों को इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से समुद्र के भीषण जल जन्तु नदियों के मुहानों द्वारा आये हुए छोटे जल जन्तुओं को सफाचट कर देते हैं ॥२६॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वसनं चाविदितप्रयोगः ।
नेतारिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरेषु शम्भुः ॥२७॥

अन्वय.—अन्तः विभेद पदवीनिरोध विध्वसन च यत् यत् नेता अविदितप्रयोगः अरिलोकेषु करोति तत् तत् शम्भुः अस्य शरेषु चकार ॥२७॥

अर्थ—शकर जी के वाणों ने अलक्षित रूप से अर्जुन के वाणों को अन्तर्विभेद (बीच में ही खण्डित कर देना), मार्गावरोध, तथा विनाश—इन तीनों ही उपायों के द्वारा इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से विजेता अपन शत्रुओं के लिए अलक्षित रह कर भेदनीति का प्रयोग करता है, यातायात मार्ग का अवरोध करता है और दुर्ग को तोड़-ताड़ कर उसमें आग लगा देता है ॥२७॥

टिप्पणी—श्लेष अलकार ।

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।
छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥२८॥

अन्वयः—सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितै. वेगितया पतद्भिः छिन्नैः अपि त्रासितवाहिनीकैः कृतार्थः इव तस्य बाणैः पेते ॥२८॥

अर्थ—शत्रु द्वारा अपने पहले के छोड़े गये वाणों के व्यर्थ हो जाने पर उनकी अपकीर्ति को सहन करने वाले अर्जुन ने पुनः अत्यन्त क्रोध से निन

बाणों को छोड़ा, वे वेग के साथ चल पड़े। यद्यपि शत्रु ने उन्हें भी छिन्न-भिन्न कर दिया तथापि उन्होंने प्रमथों की सेना को अत्यन्त संत्रस्त कर दिया और इतने ही से उनको सफलता मिल गयी ॥२८॥

टिप्पणी—किन्तु वस्तुतः वे भी तो असफल ही रह गये।

अलङ्कृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम्।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥२६॥

अन्वयः—ऋजुतागुणेन अलङ्कृताना गुरूपदिष्टा गतिं आस्थिताना मार्गणाना सताम् इव अपर्वणि सः भङ्गः जिष्णो धृतिम् उन्ममाथ ॥२६॥

अर्थ—सरलता रूप गुण से अलङ्कृत अर्थात् बिल्कुल सीधे धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण द्वारा बताई गई गति से चलने वाले अपने बाणों को बिना गाँठ के ही शिव बाणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाने से अर्जुन का धैर्य उसी प्रकार से लुप्त हो गया जिस प्रकार से सरलता से अलङ्कृत और धर्मशास्त्रों के द्वारा निश्चित सदाचार का अनुसरण करने वाले सज्जनों का धैर्य विपत्ति आने पर छूट जाता है ॥२६॥

बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥३०॥

अन्वयः—बाणच्छिदः ते स्मरारेः विशिखाः अवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः पाडवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः अखण्डितं प्रतिकारम् आपुः ॥३०॥

अर्थ—अर्जुन के बाणों को काट गिराने वाले भगवान शंकर के उन बाणों ने, जिनके अग्रभाग नीचे हो गये थे, गिरते हुए अर्जुन के बाणों को विफल बनाने वाले अपने कर्म का तुरन्त ही अखण्डित प्रतीकार प्राप्त किया ॥३१॥

[अब अर्जुन के विजय का प्रसङ्ग उपस्थित होता है—]

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम्।
समाकुलाया निचखान दूरं बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ॥३१॥

अन्वयः—अराति. अतिलाघवेन चित्रीयमाणान् भवमार्गणाना प्रमाथिनः तान् बाणान् समाकुलायाः ध्वजिन्याः हृदयेषु दूर निचखान ।।३१।।

अर्थ—अर्जुन ने अत्यन्त हस्त लाघव के साथ आश्चर्य उपस्थित करने वाले, शिव के बाणों को खण्डित करने वाले अपने उन बाणों को व्याकुल प्रमथों की सेना के हृदयों में बड़ी गहराई तक गाड़ दिया ।।३१।।

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।
हन्ता पुरा भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ।।३२।।

अन्वय.—तस्य पराक्रमे अतियत्नात् अन्योन्यविशेषणेन अतिरिच्यमाने पुरा हन्ता भूरि पृषत्कवर्षं नैदाघः मेघः अम्बु इव निरास ।।३२।।

अर्थ—अर्जुन के उस अति प्रयत्नपूर्ण पराक्रम को, देखकर जो कि शिव जी के पराक्रम का भी अतिक्रमण करने वाला था, त्रिपुर विजयी भगवान शंकर ने निदाघ कालीन मेघवर्षा की भाँति घनघोर बाणवृष्टि आरम्भ कर दी ।।३२।।

अनामृशन्त. क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणानुग्रहिता. शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ।।३३।।

अन्वयः—प्रियैषिणा शिवेन अनुग्रहिताः क्वचित् एव मर्म अनामृशन्तः शराः सुहृत्प्रयुक्ता नर्मवादाः इव मुनेः प्रीतिकरा. बभूवुः ।।३३।।

अर्थ—अर्जुन के कल्याण की इच्छा रखने वाले भगवान् शंकर के बाणों ने कहीं पर भी मर्म स्थल का स्पर्श न करते हुये, मित्र के द्वारा कहे गए परिहास पूर्ण वचनों की तरह, दुःख न देकर तपस्वी अर्जुन को केवल आनन्द ही प्रदान किया ।।३३।।

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निपूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबल. प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलिः ।।३४।।

अन्वयः—अस्त्रैः समानाम् अतिरेकिणीं वा तस्य इषूणाम् अपि शक्ति पश्यन् विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी इन्दुमौलिः स्व बलम् आललम्ब ।।३४।।

अर्थ—कहीं पर अपने बाणों के समान और कहीं पर उससे भी अधिक अर्जुन के बाणों की शक्ति को देखकर विषाद के कारण निन्दा को प्राप्त होने वाली सेना से युक्त कामरिपु शङ्कर जी ने पुनः अपने पराक्रम का आश्रय लिया ॥३४॥

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ॥३५॥

अन्वय.—ततः तपोवीर्यसमुद्धतस्य समरार्णवस्य पारं यियासोः जिष्णोः अखिलानि महेषुजालानि अर्कः पयांसि इव समाचचाम् ॥३५॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान शङ्कर ने तपस्या एवं पराक्रम दोनों से समृद्ध, युद्धरूपी समुद्र के पार जाने के इच्छुक अर्जुन के सम्पूर्ण बाणसमूहों को इसप्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से सूर्य जल को सुखा देता है ॥३५॥

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥३६॥

अन्वयः—अथ अर्जुनस्य पाणिः रिक्ते निषङ्गवक्त्रे अन्यद्विपापीतजले नगाश्मरन्ध्रे सतर्षं मतङ्गजस्य इव सविस्रम्भं निपपात ॥३६॥

अर्थ—शंकर जी द्वारा बाणों के समाप्त कर दिए जाने के अनन्तर अर्जुन का हाथ अपने बाणशून्य तरकस के मुख पर इस प्रकार से विश्वासपूर्वक दूसरा बाण निकालने के लिए गिरा जिस प्रकार से दूसरे हाथी द्वारा सम्पूर्ण जल पी लेने पर चिरपरिचित पर्वतीय दरार के मुख पर किसी प्यासे गजराज की सूँड इधर-उधर फिर रही हो ॥३६॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन समझते थे कि उनके तरकस में बाण भरे हुये हैं, किन्तु शंकर जी ने उन्हें पहले ही समाप्त कर दिया था, अतः जब वे इस विश्वास से कि तरकस में बाण तो भरे ही हुये हैं, उसके मुख पर हाथ रखा तो उनकी वही दशा हुई जो उस गजराज की होती है, जो अपनी

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ॥४५॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ॥४६॥

अन्वयः—सः तनुत्रेण विना विकोशनिर्धौततनोः महासेः त्वचि विच्युतायां फणावतः च प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षम् आक्षिप्तमुखच्छदस्य नागस्य च घनानां ध्वनिना विबोधितस्य शैलरन्ध्रात् अपेतस्य हरेः च निरस्तधूमस्य रात्रिवह्नेः च रुचिं भेजे ॥४५-४६॥

अर्थ—उस समय कवचविहीन अर्जुन की छटा म्यान से निकली हुई सान रखी चमकती तलवार की तरह, केंचुल के दूर हो जाने पर चमकते हुए सर्प की तरह, प्रतिद्वन्द्वी गज को सम्मुख देख क्रोध से मुख का आवरण हटाने वाले बिगड़ैल हाथी की तरह, बादलों की गरज से जगे हुए पर्वत की गुफा से निकलते सिंह की तरह, एवं रात्रि में चमकती हुई निर्धूम अग्नि की तरह दिखाई पड़ी ॥४५-४६॥

टिप्पणी—मालोपमा तथा निदर्शना अलंकार की संसृष्टि ।

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
मही गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥४७॥

अन्वयः—तदानीं महीं गतौ तौ इषुधी अचित्ततायाम् अपि तदीयकृच्छ्रे युक्तां नाम अनूर्ध्वतां प्राप्य चेतनया इव योगं विवव्रतु ॥४७॥

अर्थ—कवच के गिर जाने के अवसर पर भूमि पर पड़े हुए अर्जुन के दोनों तरकसों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की कठिनाइयों में मानों अपने को कुछ कर सकने में असमर्थ पाकर नीचे की ओर मुख करके चेतनों की भाँति आचरण किया ॥ ४७॥

टिप्पणी—स्वामी की विपत्ति में सहायता न कर पाना इसी लज्जा की

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव।
सम्भावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥४२॥

अन्वयः—तदानीं भर्तुः पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य उपकारिणी इव जज्ञे। पत्युः पुरः सम्भावनायाम् अधरीकृतायां आसितव्य साहस ॥४२॥

अर्थ—उस समय स्वामी अर्जुन द्वारा उन दोनों तरकशों को पीछे रखना मानो उपकार जैसा ही हुआ क्योंकि स्वामी के सम्मुख अपनी योग्यता को निष्फल बना देने वाले सेवक का उपस्थित रहना उसका अनुचित साहस ही है ॥४२॥

तं शम्भुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥४३॥

अन्वयः—शम्भुः आक्षिप्तमहेषुजाल त तत्वविचारमध्ये हृतोत्तर विपक्ष वक्ता गुरुभिः दोषैः इव लोहैः शरैः मर्मसु निस्तुतोद ॥४३॥

अर्थ—शंकर जी ने अर्जुन के बड़े-बड़े बाणों के नष्ट हो जाने पर अपने लोहे के बाणों से उनके मर्मस्थलों पर इस प्रकार से आघात किया जिस प्रकार से तत्वविचार सम्बन्धी वाद विवाद में प्रतिवादी के निरुत्तर हो जाने पर, विजेता वादी उसके बड़े-बड़े दोषों को दिखलाकर उसे व्यथित करता है ॥४३॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम्।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ॥४४॥

अन्वयः—अस्मात् अचिरेण ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखं वर्म चंडः मरुत् पतङ्गात् एकनीलं तडित्वतः अम्बुदस्य खण्डम् इव जहार ॥४४॥

अर्थ—(शंकर जी के बाणों ने) तुरन्त ही तपस्वी अर्जुन के शरीर से, चमकती हुई मणियों से विभासित सुवर्ण रेखाओं से युक्त कवच को भी इस प्रकार से वियुक्त कर दिया जिस प्रकार से प्रचंड वायु विद्युत रेखाओं से युक्त बादलों के काले-काले टुकड़ों को सूर्य से अलग कर देता है ॥४४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उस समय भगवान् शंकर की माया से कवच

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ॥४५॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ॥४६॥

अन्वयः—स॰ तनुत्रेण विना विकोशनिर्धौततनोः महासेः त्वचि विच्युतायां फणावतः च प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षम् आक्षिप्तमुखच्छदस्य नागस्य च घनानां ध्वनिना विबोधितस्य शैलरन्ध्रात् अपेतस्य हरेः च निरस्तधूमस्य रात्रिवह्नेः च रुचिं भेजे ॥४५-४६॥

अर्थ—उस समय कवचविहीन अर्जुन की छटा म्यान से निकली हुई सान रखी चमकती तलवार की तरह, केंचुल के दूर हो जाने पर चमकते हुए सर्प की तरह, प्रतिद्वन्द्वी गज को सम्मुख देख क्रोध से मुख का आवरण हटाने वाले त्रिगड़ैल हाथी की तरह, बादलों की गरज से जगे हुए पर्वत की गुफा से निकलते सिंह की तरह, एवं रात्रि में चमकती हुई निर्धूम अग्नि की तरह दिखाई पड़ी ॥४५-४६॥

टिप्पणी—मालोपमा तथा निदर्शना अलंकार की संसृष्टि ।

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
मही गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥४७॥

अन्वयः—तदानीं महीं गतौ तौ इषुधी अचित्ततायाम् अपि तदीयकृच्छ्रे युक्तां नाम अनूर्ध्वतां प्राप्य चेतनया इव योगं विवव्रतुः ॥४७॥

अर्थ—कवच के गिर जाने के अवसर पर भूमि पर पड़े हुए अर्जुन के दोनों तरकसों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की कठिनाइयों में मानों अपने को कुछ कर सकने में असमर्थ पाकर नीचे की ओर मुख करके चेतनों की भाँति आचरण किया ॥ ४७॥

टिप्पणी—स्वामी की विपत्ति में सहायता न कर पाना बड़ी लज्जा की

मात है, चेतन, प्राणियों के इस आचरण का पालन मानों उन तूणीरों ने भी किया। उत्प्रेक्षा अलंकार।

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम्।
शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ॥४८॥

अन्वयः—विशुद्धे नभसि इव सत्त्वे स्थित तपोवीर्यमयेन धाम्ना युक्तं तम् ईशः त्वष्टा विवस्वन्तम् इव अजस्र शस्त्राभिघातैः उल्लिलेख ॥४८॥

अर्थ—विशुद्ध नीले आकाश के समान सत्त्वगुण में स्थित तपोबलमय सात्विक तेज से युक्त अर्जुन को भगवान् शंकर अपने निरन्तर शस्त्र प्रहारों से इस प्रकार छेदने लगे जिस प्रकार तथोक्त आकाश में अवस्थित सूर्य को विश्वकर्मा ने अपनी सान पर चढ़ा कर छीला था ॥४८॥

टिप्पणी—एक पौराणिक कथा के अनुसार विश्वकर्मा की पुत्री सज्ञा सूर्य की पत्नी थी। सूर्य के अत्यन्त तेज को न सहन कर सकने के कारण वह भाग कर एक दिन विश्वकर्मा के घर पहुँची और शिकायत की कि आपने ऐसे प्रचण्ड तेजस्वी के सग मुझे व्याह दिया है, जिसके समीप रहने से मैं अत्यन्त जलने लगती हूँ। फिर तो विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री के लिए सूर्य के शरीर को अपनी सान पर चढ़ाकर छील दिया था, जिससे उनका तेज कुछ मन्द होने के कारण सह्य हो गया।

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु वाधिर्यमुपागतेषु।
मुनेर्बभूवागणितेपुराशेर्लोहस्तिरस्कार इवात्ममन्यु. ॥४६॥

अन्वयः—सरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यम् उपागतेषु अगणितेपुराशेः मुनेः आत्ममन्यु लोह. तिरस्कारः इव बभूव ॥ ४६ ॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध के आवेग के कारण अर्जुन का शरीर वेदना का अनुभव नहीं कर रहा था, और वह बिल्कुल जड़-सा हो गया था, इस कारण से शंकर जी द्वारा छोड़ गए बाण-समूहों वह कुछ नहीं गिन रहे थे, उनका अपना क्रोध ही मानों उस समय लोहे के बने हुए कवच के समान बन गया था ॥४६॥

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान्क्षरल्लोहितदिग्धदेहः ।
आस्कन्द्य वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ॥५०॥
साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।
शम्भुं विभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्बं विषाणेन महानिवेभः ॥५१॥

अन्वयः—ततः अनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान् क्षरल्लोहितदिग्धदेहः पार्ष्णिघातैः क्षितिं विधुन्वन् इव वेगेन आस्कन्द्य विमुक्तनादः मघोनः अशनिना साम्यं गतेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा शम्भुं विभित्सुः महान् इभः विषाणेन स्तम्बम् इव जघान ॥५०-५१॥

अर्थ—तदनन्तर गाय की पूँछ के समान लम्बी और गोल भुजाओं वाले श्रीसम्पन्न अर्जुन ने, जिनका शरीर बहते हुए रक्त से लथपथ हो रहा था, अपने चरण तलों के आघात से धरती को विकम्पित सा करते हुए, वेग के साथ दौड़कर गम्भीर गर्जन करते हुए, इन्द्र के वज्र की समानता करने वाले, चन्द्रमा के खण्ड के समान पाण्डुर वर्ण के अपने धनुष से शंकर जी को आहत करने की इस प्रकार से चेष्टा की जिस प्रकार से कोई महान् गजराज अपने दाँतों के प्रहार से किसी खम्भे को गिरा देना चाहता है ॥५०॥

रयेण सा सन्निदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टिः ।
समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जह्नुनेव ॥५२॥

अन्वयः—रयेण पतन्ती सा चापयष्टिः भवोद्भवेन परे ओजसि स्थितेन जह्नुना समुद्धता अनेकमार्गा सिन्धुः इव आत्मनि सन्निदधे ॥ ५२ ॥

अर्थ—वेग के साथ ऊपर गिरती हुई उस धनुष-यष्टि को भगवान् शंकर ने अपने शरीर में इस प्रकार से अन्तर्हित कर लिया जिस प्रकार से परम तेजस्वी राजा जह्नु ने अनेक मार्गों से आनेवाली त्रिपथगा गंगा की धारा को अन्तर्हित कर लिया था ॥ ५२ ॥

विकार्मुकः कर्मसु शोचनीयः परिच्युतौदार्य इवोपचारः ।
विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातैः ॥५३॥

अन्वयः—विकार्मुकः परिच्युतौदार्यः उपचारः इव कर्मसु शोचनीयः सः शूलभृता सलीलम् अदूरपातैः पत्रिभिः दूरं विचिक्षिपे ॥५३॥

अर्थ—धनुष से विहीन अर्जुन उस समय दान-विहीन सत्कार के समान रण-क्रिया में सर्वथा अयोग्य बन गये। तदनन्तर शंकर जी ने अपने अत्यन्त गाढ़ प्रहार करनेवाले बाणों से उन्हें लीलापूर्वक दूर फेंक दिया ॥५३॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन्वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः।
जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य ॥५४॥

अन्वयः—उपोढकल्याणफलः वीरव्रतम् अभिरक्षन् पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा मुनिः तैः शिवस्य इषुभिः जपोपवासैः इव तेपे ॥ ५४ ॥

अर्थ—आसन्न कल्याण फल की कामना से युक्त, वीरव्रत की रक्षा करते हुए, उस पुण्य युद्ध-क्षेत्र में स्थित संयतात्मा तपस्वी अर्जुन ने शिव जी के उन कठोर बाणों को मानों जप एवं उपवासादि के समान सहन करते हुए तपस्या की ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से किसी पुण्य आश्रम में निवास करने वाला जितेन्द्रिय तपस्वी नियमों की रक्षा करते हुए उपवासादि के द्वारा तपस्या करते हुए उसके परिणाम के समीप होने पर सब प्रकार का कष्ट सहन करता है उसी प्रकार अस्त्र-लाभ-रूपी कल्याण के समीपवर्ती होने पर उस युद्ध-क्षेत्र-रूपी आश्रम में वीरव्रत का पालन करते हुए अर्जुन ने धैर्य के साथ शिव जी के बाणों की यातना सहन की।

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानमन्यैरतिदुस्तरं सः।
तेजःश्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहङ्कारमिवाललम्बे ॥५५॥

अन्वयः—ततः अग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानम् अन्यैः अतिदुस्तरं तेजःश्रियाम् आश्रयम् उत्तमासिं साक्षात् अहङ्कारम् इव सः आललम्बे ॥ ५५ ॥

अर्थ—तब अपने धनुष के लुप्त हो जाने के अनन्तर अन्तिम शरण युद्ध में विजय की अन्तिम सीमा के समान, दूसरों से अत्यन्त असहनीय, तेज एवं

शोभा की आधार स्थली अपनी उत्तम एवं विशाल तलवार का, अर्जुन ने अपने साक्षात् अहंकार की भाँति, आश्रय लिया ॥ ५५ ॥

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः।
हस्तेन निस्त्रिंशभृता स दीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ॥५६॥

अन्वयः—अनवद्यकर्मा शरान् अवद्यन् निस्त्रिंशभृता हस्तेन सार्कांशुना ऊर्मिणा वारिधिः इव दीप्तः सः प्रविचारमार्गैः चित्रं चचार ॥ ५६ ॥

अर्थ— प्रशंसनीय कर्म करने वाले अर्जुन उस क्षण (अपनी उस तलवार से) शिव के बाणों को काटते हुए हाथ में तलवार लिए हुए इस प्रकार से सुशोभित हुए जिस प्रकार से सूर्य की किरणों से उद्दीप्त तरंगों से समुद्र सुशोभित होता है ॥५६॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः।
तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स भूतैः ॥५७॥

अन्वयः—भाभिः सहस्ररश्मिः यथा निजे वर्त्मनि छायामयः अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिः भाति तथा सः नभसि रणस्थलीषु भूतैः आशु ददृशे ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अपनी कान्तियों से युक्त सहस्ररश्मि सूर्य अपने मार्ग आकाश में अवस्थित होते हुए, जल के मध्य में प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से दो के रूप में दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार से मानों शीघ्र गति के कारण अर्जुन को भी आकाश में तथा रण-स्थली में दो के रूप में अवस्थित उन प्रमथ गणों ने देखा ॥५७॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥५८॥

अन्वयः—शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् अपवर्जिताङ्गः असिः तस्य पाणेः घनस्य वप्रात् वैद्युतः अग्निः इव ज्वलन् पपात ॥५८॥

अर्थ—भगवान् शंकर द्वारा छोड़े गए बाण द्वारा अपने मुष्टिप्रदेश से १८

कर गिरी हुई अर्जुन की वह तलवार चमकती हुई इस प्रकार से नीचे गिर पड़ी जिस प्रकार से मेघ मण्डल से बिजली की अग्नि गिरती है ॥५८॥

आच्छिन्नचापावरणेषुजालश्छिन्नोत्तमासिः स मृधेऽवधूतः ।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ॥५९॥

अन्वयः—आच्छिन्नचापावरणेषुजालः छिन्नोत्तमासिः मृधे अवधूतः सः उत्सादितोद्यानः भूमेः प्रदेशः इव रिक्तः प्रकाशः च बभूव ॥५९॥

अर्थ—अपने धनुष, कवच एवं बाणों के नष्ट हो जाने तथा उत्तम तलवार के टूट कर गिर जाने पर रण भूमि में अभिभूत अर्जुन इस प्रकार से शून्य होकर।प्रकाश युक्त हो गए जिस प्रकार से उद्यान के वृक्षों के काट देने पर उसकी भूमि का प्रदेश सूना तथा अवरोधरहित बन जाता है ॥५९॥

स खण्डनं प्राप्य परादमर्षवान्भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।
ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां द्रवेतरेषां पयसामिवाश्मनाम् ॥६०॥

अन्वयः—परात् खण्डनं प्राप्य अमर्षवान् सः भुजद्वितीयः अपि विजेतुम् इच्छया द्रवेतरेषां पयसाम् इव अश्मनां परिरुग्णपादपां वृष्टिं ससर्ज ॥६०॥

अर्थ—शत्रु से इस प्रकार की पराजय प्राप्त कर क्रोध से भरे हुए अर्जुन की यद्यपि भुजाएँ ही सहायक रह गई थीं तथापि वे अपने शत्रु के जीतने की इच्छा से ओलों की वृष्टि के समान पत्थरों की इस प्रकार से बौछार करने लगे जिससे समीप के वृक्षों की शाखाएँ भग्न होने लगीं ॥६०॥

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानै ।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥६१॥

अन्वयः—शिलावितानै भूतानाम् अधिपतिना पृषत्कैः क्षयं परिगमिते इन्द्रसूनुः उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं नीरन्ध्रं क्षितिरुहजालं चिक्षेप ॥६१॥

अर्थ—भगवान् शंकर के बाणों से जब(अर्जुन के) पत्थरों की बौछार भी बंद कर दी गई तब इन्द्रपुत्र अर्जुन ऊँचाई से आकाश एवं दिगन्तों को ढँकने वाले अत्यन्त सघन वृक्षों को (उपार कर) फेंकने लगे ॥६१॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम् ।
ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तैरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥६२॥

अन्वयः—ईशानः निशेष शकलितवल्कलाङ्गसारैः भुवम् कषायचित्राम् कुर्वद्भिः सकुसुमपल्लवैः तै. नगैः रङ्गदेवताभ्यः बलिम् इव आतेने ॥६२॥

अर्थ—भगवान् शंकर ने उन वृक्षों को सम्पूर्ण रूप से टुकड़े-टुकड़े कर उनके वल्कलों, शाखाओं तथा पत्तों को छिन्न-भिन्न कर उनके रंगों से पृथ्वी को चारों ओर से चित्र-विचित्र रँग कर मानों उन कुसुम और पल्लवों से युक्त वृक्षों के द्वारा रणचण्डी की बलि-पूजा कर दी ॥६२॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥६३

अन्वयः—गाण्डीवी उन्मज्जन् मकरः अमरापगायाः इव बाणनद्या. वेगेन प्रतिमुखम् एत्य कनकशिलानिभ विषमविलोचनस्य वक्षः भुजाभ्याम् आजघ्ने ॥६३॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन ने गंगा के प्रवाह पर तैरते हुए मकर के समान शंकर जी की बाण पंक्ति-रूपी नदी के वेग के सम्मुख उपस्थित होकर सुवर्ण की चट्टान के समान त्रिलोचन शंकर जी के वक्षस्थल पर अपनी भुजाओं से कठोर आघात किया ॥६३॥

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्यो-
रसुगममरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो
रविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥६४॥

अन्वयः—कीर्तिलक्ष्म्यो. उपायम् अरिसैन्यैः असुगमं विक्रमम् अभिलषतः अङ्कम् अभ्यागतस्य पाण्डवस्य अविनय अपि स्मरारिः शिशुत्वे सुप्रियस्य एकसूनोः जनक. इव सेहे ॥६४॥

अर्थ—यश और लक्ष्मी के साधन भूत एव शत्रु-सेना द्वारा दुष्प्राप्य पराक्रम के अभिलाषी, अपनी गोद में आए हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन के उस प्रहार रूपी अविनय को भी शकर जी ने इस प्रकार से सहन किया जिस प्रकार से बचपन में अत्यन्त प्यारे, गोद में बैठे हुए एव किसी अच्छी वस्तु की प्राप्ति की जिद करने वाले अपने एकलौते बेटे के अविनय को उसका पिता सहन करता है ॥६४॥

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१७॥

—: ० :—

अठारहवाँ सर्ग

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभि. ॥ १ ॥

अन्वय'—ततः उदग्रे द्विरदे इव भीमभुजायुधे रणम् उपयेषि मुनौ शङ्करः सबाणधि धनु. अपास्य मुष्टिभिः घनैः इव प्रतिजघान ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर विशाल हाथी के समान भयकर भुजा रूपी अस्त्र धारण करने वाले तपस्वी अर्जुन के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भगवान् शकर बाणों समेत धनुष को फेंक कर लोह के मुद्‌गरों के समान अपने मुक्कों से अर्जुन पर प्रहार करने लगे ।

टिप्पणी—द्रुतविलम्बित छन्द ॥१॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलितांगुलिपाणिजः ।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

अन्वयः—हरपृथासुतयोः अमृदु सवलिताङ्गुलिपाणिजः स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः ध्वनिः उत्पतन् दरीभृतः दरीषु प्रतिननाद ॥२॥

अर्थ—भगवान् शकर और अर्जुन के उग्र प्रचण्ड एव कर्कश अगुलियों वाले मुष्टिक युद्ध की, विशाल चट्टानों के टूटने जैसी भयंकर ध्वनि ऊपर उठकर पर्वतों की कन्दराओं मे प्रतिध्वनित होने लगी ॥२॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षती' सुखमिवानुबभूव कपिध्वज. ।
क इव नाम बृहन्मनसा भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥३॥

अन्वयः—कपिध्वज. शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखम् इव अनुबभूव । क इव नाम सत्त्ववताम् बृहन्मनसा अनुकृतेः अपि क्षमः भवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—कपिध्वज अर्जुन ने भगवान शंकर की भुजाओं के प्रहार से होने वाले बड़े-बड़े घावों को भी सुख के समान ही अनुभव किया। सच है, पराक्रमशाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण भी कौन कर सकता है ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि शिव जी के प्रहार से अर्जुन के शरीर में जो बड़े-बड़े घाव हो रहे थे, वे बड़े दुःखदाई थे, तथापि अर्जुन ने उन्हें सुख जैसा ही अनुभव किया। मनस्वियों के चरित्र का अनुकरण भी करना बड़ा कठिन है, उसका पालन तो दूर रहा। जिस मनस्वी के चित्त में रौद्र रस का आवेश हो जाता है वह सुख-दुःख की गणना करता ही कहाँ है ?

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।
अभिनवौपसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः उमापतिः अभिनवौपसरागभृता जलधरेण समानं बभौ ॥ ४ ॥

अर्थ—शंकर का पर्वत के तट प्रान्त जैसा विशाल वक्षस्थल अर्जुन के प्रहार से उत्पन्न घावों के मुखों से बहने वाले रक्त की फुहारों से व्याप्त था। उस समय वह नूतन सन्ध्या काल की लालिमा को धारण करने वाले बादल के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥ ५ ॥

अन्वयः—शूलभृतः उरसि प्रहिताः अर्जुनमुष्टयः पृथुनि सह्यमहीभृतः रोधसि भृशरयाः सिन्धुमहोर्मयः इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

अर्थ—भगवान् शंकर के वक्षस्थल पर किया गया अर्जुन का मुष्टि-प्रहार इस प्रकार से बारम्बार प्रतिहत हो रहा था (टकरा रहा था) जिस प्रकार से विस्तृत सह्यगिरि के तट पर वेगवती समुद्र की लम्बी लहरें आकर टकराती हैं और पुनः वहीं से प्रतिहत हो जाती हैं ॥ ५ ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः ।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥ ६ ॥

अन्वयः—अयुगचक्षुषः आयते अरत्नियुगे अधिशिरोधर सम निपतिते किरीटिना मदात् इव त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि चस्खले ॥ ६ ॥

अर्थ—भगवान् त्रिलोचन शंकर ने अपनी दोनों बंधी हुई मुट्ठियों से जब एक साथ ही अर्जुन के दोनों कन्धों पर जोर से प्रहार किया तब अर्जुन मद-विह्वल की भाँति तीन चार पग तक लड़खड़ाते हुए दूर हट गए और उनकी आँखें चकाचौंध हो गयीं ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपित. समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।
भुजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अभिभवोदितमन्युविदीपित. भृशं जवं समभिसृत्य ओजसा शशिकलाभरणस्य भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य समाददे ॥ ७ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपनी पराजय से उत्पन्न क्रोध के कारण जलते हुए अर्जुन बड़े वेग के साथ दौड़कर बलपूर्वक अपनी दोनों भुजाओं से चन्द्रशेखर भगवान शंकर की दोनों भुजाओं को अलग अलग करके उन्हें पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसञ्चलनाहरणो रण. ।
करणशृङ्खलसङ्कलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः ॥ ८ ॥

अन्वय.—अथ महाहवमल्लयो. गुरुभुजायुधगर्वितयोः तयोः करणशृङ्खलसङ्कलनागुरु. अचलसञ्चलनाहरणः रणः प्रववृते ॥ ८ ॥

अर्थ.—तदनन्तर उन दोनों महान् बलशालियों के बीच, जिन्हें अपनी विशाल भुजाओं के बल पर अभिमान था, ऐसा भीषण रण होने लगा, जिसमें उनके हाथ और पैर के बन्धन ही कठिन शृंखला बन गये तथा जिसके कारण हिमालय काँपने लगा ॥ ८ ॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना ।
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणै. ॥ ९ ॥

अन्वयः—अयम् असौ भगवान् उत पाण्डवः मुनिना अवाक् स्थितम्, शशिमौलिना अजेन नु समधिरूढं जिष्णुना स्वित् इति गणै. वेगवशात् मुमुहे ॥ ९ ॥

अर्थः—दोनों के रण-वेग को देखकर प्रमथ गण इस प्रकार के विस्मय में पड़ गये कि यह भगवान शकर जी हैं अथवा पाण्डुपुत्र अर्जुन हैं। यह तपस्वी अर्जुन नीचे की ओर हैं अथवा हमारे भगवान चन्द्रशेखर हैं। यह अजन्मा शकर जी ऊपर हैं या अर्जुन हैं—ऐसा वितर्क वे लोग करने लगे ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अर्थात् उन दोनों का युद्ध इतने वेग से हो रहा था कि कोई पहचाने नहीं जा सकते थे कि कौन ऊपर जा रहा है और कौन नीचे जा रहा है। भ्रान्तिमान् अलकार।

प्रचलिते चलित स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ॥ १० ॥

अन्वयः—असहिष्णुना भूभृता अभावभयात् इव मुहु. वृषकपिध्वजयोः प्रचलिते चलितम् आस्थिते स्थित विनमिते नतम् उन्नतौ उन्नतम् ॥ १० ॥

अर्थ—भगवान शङ्कर और कपिध्वज अर्जुन के भार को सहन करने मे असमर्थ हिमालय मानो बारम्बार अपने विनाश के भय से उनके चलने पर चचल हो उठता था, चुपचाप स्थित रहने पर स्थित हो जाता था और आक्रमण करने के समय नम्र हो जाता था और ऊपर उठने पर स्वयम् ऊपर उठ जाता था ॥ १० ॥

करणशृङ्खलनिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतो. ।
चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुः सरितः परितः स्थली. ॥ ११ ॥

अन्वयः—करणशृङ्खलनिःसृतयो· कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः तयो· चरणपातनिपातितरोधसः सरितः स्थलीः परितः प्रससृपुः ॥ ११ ॥

अर्थ—हाथों और पैरों की श्रृंखलाओं से बारम्बार छूटे हुए एवं भुजाओं के मूल भाग पर ताल ठोंक कर ध्वनि करने वाले उन दोनों के पैरों की चोट से जिन नदियों के तट टूट-फूट गए थे, वे अपने स्थल भाग को चारों ओर से निमज्जित करने लगीं ॥ ११ ॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वज. ।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ॥ १२ ॥

अन्वय —वियति वेगपरिप्लुतं तिसृणां पुराम् जयिनं कपिध्वज. चरणानमितक्षितिः रयेण समभिसृत्य अन्तरा चरणयो. निजगृहे ॥ १२ ॥

अर्थ—आकाश में वेगपूर्वक छलाँग मार कर त्रिपुर विजयी शिवजी जैसे ही ऊपर की ओर उछले थे कि तैसे ही कपिध्वज अर्जुन ने अपने चरणों के भार से पृथ्वी को नम्र करते हुए बड़े वेग के साथ उछल कर बीच ही में उनके दोनों पैरों को पकड़ लिया ॥ १२ ॥

विस्मित. सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकर. पर. पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ॥ १३ ॥

अन्वय.—तेन कर्मणा सपदि विस्मितः कर्मणां क्षयकरः पर. पुमान् अवनौ क्षेप्तुकामम् अक्लमं तं वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष ॥ १३ ॥

अर्थ—(अर्जुन के) इस उत्कट पराक्रम पूर्ण कार्य से तुरन्त ही विस्मित होकर मोक्षदाता परम पुरुष शंकर जी ने अपने को धरती पर खींचने के लिए इच्छुक अश्रान्त अर्जुन को छाती से लगा कर गाढ आलिंगन किया ॥ १३ ॥

टिप्पणी—रथोद्धता छन्द ।

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥१४॥

अन्वय —भगवान् अस्य विपुलसत्त्वतया यथा मुदं ययौ तथा तपसा न । अहो सतां गुणसंहते समम् अतिरिक्तम् निजं सत्त्वम् एव उपकारि ॥ १४ ॥

अर्थ—भगवान् शंकर अर्जुन के इस परम पराक्रम पूर्ण कार्य से जितने

प्रसन्न हुए उनने उनकी तपस्या से नहीं प्रसन्न हुए थे। सच है, सत्पुरुषो तपस्या एवं सेवा आदि गुणों से बढ़कर उनका निजी पराक्रम ही उपक होता है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—प्रमिताक्षरा छन्द ।

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजतमिन्दुलेखया ।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः ॥१५॥

अन्वयः—अथ हिमशुचिभस्मभूषितम् शिरसि इन्दुलेखया विराजि अतिमनोहरम् स्ववपुः दधतम् हरम् उद्वीक्ष्य पाण्डवः ननाम ॥ १५ ॥

अर्थ—तदनन्तर हिम के समान उज्ज्वल भस्म से विभूषित मस्तक चन्द्रमा से सुशोभित अतिमनोहर अपने असली स्वरूप को धारण करने शिवजी को देखकर अर्जुन ने उन्हें प्रणाम किया ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अपरवक्त्र वृत्त ।

सहशरधि निज तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥१६॥

अन्वयः—वृषभगतिः सहशरधि निज कार्मुकम् तथैव संवर्तिम् अतनु व तथैव निहित असिम् अपि पश्यन् विस्मयम् उपाययौ ॥ १६ ॥

अर्थ—वृषभ की गति के समान गतिशील अर्जुन उस क्षण तूणीर स अपने गाण्डीव नामक धनुष से युक्त हो गए थे, उनका कवच भी पहले की तरह उनके शरीर सेआ लगा था, शरीर भी पूर्ववत् स्थूल तथा बलशाली गया था, और वह उनकी तलवार भी पहले ही की भाँति उनके हाथ में थ इस प्रकार अपने को देखकर वह स्वयम् विस्मय में पड़ गये ॥ १६ ॥

टिप्पणी—प्रमुदितवदना वृत्त ।

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः ।

अन्वयः—अम्बुवाहाः शनैः अवनिं सिषिचुः दिवः चित्रं सुरकुसुमम् इयाय अनाहतस्य दुन्दुभेः ध्वनिः विमलरुचि अखिलं नभः भृशम् आनशे ॥१७॥

अर्थ—बादल धीरे-धीरे बूँदें बरसा कर धरती सींचने लगे, आकाश से रंग-बिरङ्गे पारिजात के पुष्प गिरने लगे, बिना बजाये हुए ही दुन्दुभि की मनोहर ध्वनि सम्पूर्ण निर्मल आकाश में अत्यन्त व्याप्त होने लगी ॥१७॥

टिप्पणी—ये मंगल सूचनाएँ अर्जुन के लोकोपकारी कार्य की पूर्ति के लिए थीं।

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ॥१८॥

अन्वयः—गोत्रभिदः अनुवृत्त्या आसेदुषां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रोचिष्णुरत्नावलिभिः विमानैः आचिता द्यौः तारकिता इव रेजे ॥१८

अर्थ—इन्द्र के पीछे पीछे आने वाले तीनों लोकों के रक्षक लोकपालों आदि के चमकते हुए रत्नों से सुशोभित विमानों से व्याप्त आकाश मण्डल उस समय इस प्रकार से सुशोभित हो रहा था मानों उसमें ताराएँ उगी हुई हों ॥१८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

हंसा बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः॥१९॥

अन्वयः—बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैः अग्रपक्षैः व्योम्नः परिष्वङ्गं चक्रुः इव ॥१९॥

अर्थ—देवताओं के विमानों को ढोने वाले बड़े-बड़े हँसों के कण्ठों में जो किंकिणी आदि आभूषण बँधे थे, वे ध्वनि कर रहे थे। उस समय आकाश में दौड़ते हुए वे हंस प्रयत्नपूर्वक फैलाए गए अपने अगले पंखों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वे आकाश का आलिंगन कर रहे हों ॥१९॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य सान्तानिकीः ।
जलद इव निपेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयाम्बभूवेश्वरम् ॥२०॥

अन्वयः—मरुत् जलदे इव वृषे निपेदिवासम् ईश्वरम् मुदितमधुलिहः वितानीकृताः सान्तानिकीः स्रजः उपरि वितत्य उपसुखयाम्बभूव ॥२०॥

अर्थ—उस अवसर पर मेघ के समान वृषभ पर बैठे हुए भगवान शकर को वायु देवता ने भ्रमर पक्तियों को प्रसन्न करने वाली मन्दार के पुष्पों की माला को ऊपर चदोवे के समान फैलाकर खूब सुख पहुँचाया ॥२०॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना ॥२१॥

अन्वय'—अभिन्नरोमोद्गमैः गणपतिभिः उच्चकैः परिवन्दितेन इति हरे. सुनुना तपसि कृतफले कृतधृति फलज्यायसी स्तुतिः जगदे ॥२१॥

अर्थ—अर्जुन की यह सफलता देखकर प्रमथ गणों को सघन रोमाच हो गया और वे उच्च स्वर में अर्जुन को बधाई देने लगे। तब इस प्रकार अपनी कठोर तपस्ता के परिणाम स्वरूप साक्षात् भगवान् शकर के दर्शन से सन्तुष्ट होकर अर्जुन शकर जी की स्तुति करने लगे ॥२१॥

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः ।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम् ॥२२॥

अन्वयः—हे अजित ! हे भव ! अतिकारुणिक भक्तिगम्य भवन्तम् शरणम् अधिगम्य जितमृत्यव. जनाः ससुरासुरस्य जगतः भये शरणं भवन्ति ॥२२॥

अर्थ—हे अपराजित ! हे भव ! अत्यन्त कारुणिक, भक्ति सुलभ, शरण दायक आप को प्राप्त करके लोग मृत्यु को जीत लेते हैं, और देवताओं तथा दानवों समेत इस निखिल ससार की, विपत्ति के अवसर पर, वे स्वयमेव शरण बन जाते हैं ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् वे देवताओं एवं दानवों की भी रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं, अपनी और अपने परिवार की रक्षा की तो बात ही क्या। प्रमिताक्षरा छन्द ।

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसम्पदभिकामयते ।
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते ॥२३॥

अन्वयः—हे ईश ! यावत् तव नतिः न क्रियते तावत् एकपुरुषम् अवसादकरी विपत् एति कामसम्पद् च न अभिकामयते पुरुषाः न नमन्ति ॥२३॥

अर्थ—हे भगवन् ! जब तक मनुष्य आप के सम्मुख प्रणत नहीं होता तब तक उस अकेले मनुष्य को अवसाद में डालने वाली विपत्ति घेरती है, उसकी अभिलाषाएँ सफल नहीं होतीं तथा दूसरे लोग उसको प्रणत नहीं होते ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् जब तक मनुष्य आप को प्रणाम नहीं करता तब तक उसको न तो अनिष्ट निवृत्ति ही होती है और न इष्टि प्राप्ति ही होती है । और जब वह आप को प्रणाम कर लेता है तब उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है ।

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै सम्पश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः ।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् ॥२४॥

अन्वयः—दानशीलाः जन्मदुःखम् सम्पश्यन्तः पुमांसः विमुक्त्यै संसेवन्ते आनतेभ्यः निःसङ्गः त्वं यत् फलसि तत् केवलं कारुण्यं न स्वकार्यम् ॥२४॥

अर्थ—आपके उद्देश्य से दानादि पुण्यकर्म करने वाले लोग जन्म एवं मृत्यु के कष्टों को देखकर उनसे मुक्ति पाने के लिए जो आपकी आराधना करते हैं, उसमें कोई विचित्रता नहीं है । किन्तु आप जो अपने को प्रणाम करने वालों के प्रति निःस्पृह होकर भी उन्हें फल देते हैं, वह आप की केवल करुणा है, उसमें आप का कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यही विचित्रता है ॥२४॥

टिप्पणी— शालिनी छन्द ।

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय ।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ॥२५॥

अन्वयः—यत् इह दूरम् अगत्वा प्राप्यते यत् अपरलोकगताय फलति भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकम् तत् तीर्थं भवतः ऋते न अस्ति ॥२५॥

अर्थ—जो तीर्थ इस लोक में बिना दूर की यात्रा किए ही प्राप्त होता है,

जो विना परलोक गए ही फल देता है, जो भवसागर से अतीत है एवं सभी प्रकार की कामनाओं को जो पूरा करने वाला है, वह तीर्थ आप को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं है ॥२५॥

टिप्पणी—औपच्छन्दसिक वृत्त।

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम्।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् ॥२६॥

अन्वयः—हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् शुचि पद व्रजति प्रतिहतमतिः घोरा गतिम् एति। हे अनघ ! इय परा निमित्तशक्तिः तव क्वचित् चित्तभेदः न ॥२६॥

अर्थ—हे वरदानी ! तुममें प्रीति रखने वाला मनुष्य कैवल्य पद की प्राप्ति करता है, और जो मन्दबुद्धि हैं वे आप से विमुख होकर घोर नारकीय यातना भोगते हैं। हे निष्कलङ्क ! यह तो अत्यन्त दुस्तर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने वाली शक्ति की महिमा है, आप के चित्त में (भक्त और अभक्त के प्रति) किसी प्रकार का भेद-भाव नही है ॥२६॥

टिप्पणी—अर्थात् आप से प्रेम करने वाले अपने इस पुण्यकर्म से ही कैवल्य पद प्राप्त करते हैं, और द्वेष बुद्धि रखने वाले अपने कर्म से ही घोर नारकीय यातना भोगते हैं। आप तो केवल साक्षीमात्र हैं, आप की दृष्टि में तो सब समान हैं।

दक्षिणां प्रणतदक्षिणमूर्त्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥२७॥

अन्वयः—हे भव ! हे प्रणतदक्षिण ! शिवकरीं तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतः अविदित्वा अपि रागिणा भक्त्या विहिता संस्मृतिः अभवाय भवति ॥२७॥

अर्थ—हे भव ! हे भक्तों पर दयालु ! आपकी कल्याणकारिणी भक्तवशानुवर्तिनी मूर्ति को यथार्थ रूप में न जान कर भी राग-द्वेष युक्त प्राणी केवल भक्ति के साथ आपका स्मरण मात्र करके संसार सागर से पार उतर जाते हैं ॥२७॥

टिप्पणी—स्वागता वृत्त।

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय
प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः ।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां
यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥२८॥

अन्वयः—प्रेक्षाकारी दृश्यानि दृष्ट्वा आचरणीयानि विधाय अपायैः मुक्तं पदं याति यः परं त्वा पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः यश्च उपास्ते स. साधु विधेयं विधत्ते ॥२८॥

अर्थ—विचारशील लोग ज्ञान दृष्टि से तत्त्व को देखकर और अपने योग्य कर्त्तव्यों का अनुष्ठान कर विघ्न-बाधाओं से रहित मोक्ष पद को प्राप्ति करते हैं। (अर्थात् अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, क्योंकि ज्ञान और कर्म से ही मुक्ति मिलती है और वे ज्ञान तथा कर्म आप के द्वारा ही प्राप्य हैं, किसी अन्य साधन से नहीं, क्योंकि) जो पुरुष परम पुरुष के रूप में आप को देखता है, उसी की दृष्टि सम्यक् है और जो आप की उपासना करता है, वही अच्छी तरह से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है ॥२८॥

टिप्पणी— मत्तमयूर छन्द ।

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥२९॥

अन्वयः—मुनयः स्वशक्त्या युक्ताः हितोपदेशैः प्रजानाम् उपकारवन्तः । अचिन्त्यधामा त्वम् उपेतस्य दुरुत्तराणि कर्म्माणि समुच्छिनत्सि ॥२९॥

अर्थ—व्यास वाल्मीकि आदि मुनिजनों ने अपने योग की महिमा से स्मृति इतिहास पुराणादि के द्वारा विधि निषेधमय उपदेशों से लोगों का उपकार किया है। आपकी महिमा अचिन्तनीय है, आप तो अपनी शरण में आने वालों के अत्यन्त दुस्तर पाप-पुण्य कर्मों का नाश कर देने वाले हैं ॥२९॥

टिप्पणी—अर्थात् व्यास वाल्मीकि आदि लोगों के पाप-पुण्य कर्मों का नाश करने में असमर्थ हैं, वे तो केवल उपदेष्टा हैं।

सन्निबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम्।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं विभर्षि करुणामय मायाम् ॥२०॥

अन्वयः—अतिमायः हे करुणामय! सन्निबद्धम् अहार्यं भूरि भुवनानां दुर्गतिभयम् अपहर्तुम् अद्भुताकृतिम् इमाम् माया बिभर्षि ॥२०॥

अर्थ—हे दयालु! आप माया को जीतकर भी अपने पाप-पुण्य कर्मों से बँधे, दूसरों द्वारा दूर करने में अशक्य एव भयंकर नरक यातना को दूर करने के लिए अत्यन्त अद्भुत दिखाई पड़ने वाली इस लीलामयी माया (विचित्र शरीर) को धारण करते हैं ॥२०॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥२१॥

अन्वयः—चेतः रागि न परमा विलासिता शरीरे वधूः अस्ति मन्मथः च न अस्ति उषसि धातुः नमस्क्रिया इति इद तव ईहितम् अहो निसर्गदुर्बोधम् ॥२१॥

अर्थ—हे देव! यद्यपि आप का चित्त राग से विहीन है तथापि आपके शरीर में परम विलासिता दृष्टिगोचर होती है। और क्या कहूं, आप के तो शरीर ही में वधू है, किन्तु फिर भी कामदेव नहीं है। (यद्यपि आप की वन्दना समस्त जगत् करता है, तथापि) आप उषाकाल में ब्रह्मा को नमस्कार करते हैं, इस प्रकार आप की यह चेष्टा सचमुच बड़ी जटिल है। सहज दुर्बोध है ॥२१॥

टिप्पणी—वंशस्थ वृत्त।

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्गजं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः।
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥२२॥

अन्वयः—तव साङ्गज करिचर्म उत्तरीयं ज्वलन्मणिः महान् अहिः सारसनम् आस्य पंक्तिः स्रक् शवभस्म चन्दन हिमांशोः कला च समं चकासति ॥२२॥

अर्थ—हे देव! रोम युक्त गजचर्म तुम्हारा परिधान है। तुम्हारी ...

मणि से विभूषित महान सर्प तुम्हारी करधनी है। तुम कपालों की माला धारण करते हो, चिता का भस्म चन्दन के स्थान पर लगाते हो, (किन्तु फिर भी) तुम्हारे अंग के ये सारे आभूषण चन्द्रमा की कला के समान ही शोभा पाते हैं ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारे शरीर पर आश्रय पाकर ये अशुभ अमांगलिक एव बीभत्स वस्तुएँ भी रम्य बन गई हैं। तुम्हारे लिए कुछ भी अशुद्ध एव अमांगलिक नहीं है।

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥२३॥

अन्वयः—अविग्रहस्य अपि अतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः तव एव जगत्सु विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता दृश्यते अन्यस्य न ॥२३॥

अर्थ—वस्तुतः आप तो अशरीरी हैं, तथापि किन्हीं असाधारण कारणों से स्त्री और पुरुष दोनों की (अर्धनारीश्वर) मूर्ति आप ने धारण की है। संसार में इस प्रकार के परस्पर विरोधी स्वरूप और आभूषण के होते हुए भी आप के ही शरीर में मनोहरता है वह किसी दूसरे के शरीर में नहीं दिखायी पड़ती ॥२३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जो अशरीरी है उसका शरीर धारण करना एक विचित्र बात है, उस पर भी यह और भी विचित्रता है कि नर और नारी दोनों का शरीर एकत्र हो। इससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक और क्या बात होगी? किन्तु यहाँ तक भी नहीं है, ऐसी विरुद्ध वेश-भूषा होने पर भी आप के शरीर की जो मनोहरता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ती। निश्चय ही आप की महिमा अवर्णनीय है।

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसङ्घ इव न त्वमुपेतः।
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥२४॥

अन्वयः—त्वं भूतसङ्घः इव आत्मलाभपरिणामनिरोधैः उपेतः न असि तेन हे सर्वभुवनातिग! लोके न उपमानम् नापि उपमेयः ॥२४॥

अर्थ—हे देव ! आप अन्य सामान्य प्राणियों की भाँति जन्म, जरा और मृत्यु के बंधनों से बंधे हुए नहीं हैं, इसीलिए इस संसार में न तो सम्पूर्ण भुवनों का अतिक्रमण करने वाले आप की तुलना किसी अन्य से की जा सकती है और न कोई आप की तुलना कर सकता है ॥३४॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥३५॥

अन्वयः—हे देव ! त्वं स्थावरजङ्गमानाम् अन्तकः त्वया विश्वम् जगत्प्राणिति, त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणकारणानां कारणम् ॥३५॥

अर्थ—हे देव ! इस चराचर जगत के तुम ही संहार करने वाले हो। तुम्हारे ही कारण से यह सम्पूर्ण विश्व जीवन धारण करता है, तुम्हीं योगियों को उनके कर्मों का फल देने वाले हो, और तुम्हीं समस्त जगत के कारणों के भी परम कारण हो ॥३५॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा
यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।
पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे त-
न्माहात्म्यं भवते नमस्क्रियायाः ॥३६॥

अन्वयः—रक्षोभिः सुरमनुजैः दितेः सुतैः वा लोकेषु यत् अविकलम् आधिपत्यम् आप्तम् तत् हे भव शरणागतार्तिहारिणे भवते नमस्क्रियायाः पाविन्याः माहात्म्यम् ॥३६॥

अर्थ—हे देव ! इस संसार में राक्षसों ने, देवताओं ने, मनुष्यों ने, अथवा दैत्यों ने जो-जो साम्राज्य प्राप्त किए हैं, हे भव ! उन सब का श्रेय शरणागतों की विपदा को दूर करने वाली आप के प्रति की गयी प्रणति की पावन महिमा को ही दिया जा सकता है ॥३६॥

टिप्पणी—प्रहर्षिणी छन्द ॥ ३६ ॥

[शंकर की आठ मूर्तियाँ कही जाती हैं, उनमें से नीचे वायु मूर्ति की स्तुति की गयी है—]

तरसा भुवनानि यो विभर्ति ध्वनति ब्रह्म यतः परं पवित्रम् ।
परितो दुरितानि यः पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥३७॥

अन्वयः—यः तरसा भुवनानि बिभर्ति यतः पवित्रं परम् ब्रह्म ध्वनति यः परितः दुरितानि पुनीते हे शिव ! तस्मै पवनात्मने ते नमः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो वायु अपने वेग से भुवनों का प्राण संचार करने वाला है, जिसकी प्रेरणा से परम पवित्र वर्णात्मक ब्रह्म उच्चरित होता है, जो सब ओर से पापों का शोधन करने वाला है, हे शिव ! आप के उस वायु स्वरूप को मेरा नमस्कार है ॥ ३७ ॥

[अब अग्नि स्वरूप का वर्णन है—]

भवतः स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।
दहते भवबीजसन्तति शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥३८॥

अन्वयः—जयिनि ब्रह्ममये सदासने निषेदुषां भवतः स्मरतां भवबीजसन्तति दहते अनेकशिखाय शिखिने ते नमः ॥ ३८ ॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट, विजयी, ब्रह्म प्राप्ति के साधक योगासन पर विराजमान आप को स्मरण करने वाले योगी जनों के संसार में जन्ममरणादि दुःखों के जनक कर्म-जालों का जो दहन कर देता है, आपके उस अनेक ज्वालाओं से प्रज्वल्यमान अग्नि स्वरूप को मेरा नमस्कार है ॥ ३८ ॥

[अब जल स्वरूप का वर्णन है—]

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय
प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते
बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥३९॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः
प्रणतिशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं
धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ॥ ४४ ॥

अन्वयः—इति उच्चैः निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोनः सुनुम् ईशः सादरं सान्त्वयित्वा अस्मै ज्वलदनलपरीत रौद्रम् अस्त्र दधानं धनुः उपपद वेदम् अभ्यादिदेश ॥ ४४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उच्चस्वर से निवेदन करते हुए पैरों पर पड़े इन्द्र पुत्र अर्जुन को भगवान शंकर ने आदर पूर्वक सान्त्वना देकर जलती हुई अग्नि की लपटों से चारों ओर व्याप्त शरीर धारी पाशुपत नामक अस्त्र को धारण करने वाले धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् शंकर जी ने अपने भयंकर पाशुपत नामक अस्त्र को प्रदान कर उसके चलाने की शिक्षा भी अर्जुन को दे दी। मालिनीछन्द।

स पिङ्गाक्षः श्रीमान्भुवनमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः।
परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ॥४५॥

अन्वयः—पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा भीमां तनु बिभ्रत् त्रिगुणपरिवारप्रहरणः सः सुरगणैः स्तुतिभिः उपगीतः ईशान त्रिः परीत्य वीरं पाण्डोः सुत भास्वान् जलदम् इव अभिययौ ॥४५॥

अर्थ—पिंगल नेत्र धारी, अत्यन्त शोभायुक्त, समस्त लोक द्वारा पूजनीय तेज से जाज्वल्यमान एवं भयंकर शरीर धारण किए हुए त्रिमूर्तिधारी सूर्य जिस प्रकार से मेघमण्डल में प्रवेश करता है उसी प्रकार से पीत वर्ण, शोभासम्पन्न, परम तेजस्विता के कारण भयंकर, तीन फॉक वाले त्रिशूल से सम्बन्ध रखने वाला

वह धनुर्विद्या, (पाशुपतास्त्र के प्रयोग की विद्या) देवगणों द्वारा स्तुतियों से गायन किये जाते हुए, भगवान शंकर की तीन बार परिक्रमा कर वीरवर अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गई ॥४५॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार। शिखरिणी छन्द।

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य
त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो
विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ॥४६॥

अन्वयः—अथ त्रिदशपतिपुरोगाः लोकपालाः शशधरमौलेः अभ्यनुज्ञाम् अवाप्य पूर्णकामाय तस्मै अवितथफलम् आशीर्वादम् आरोपयन्तः विजयि विविधम् अस्त्रं वितेरुः ॥४६॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र प्रभृति लोकपालों ने चन्द्रशेखर शङ्कर की आज्ञा प्राप्त कर पूर्ण काम अर्जुन को अमोघ फलदायी आशीर्वाद देते हुए विजय प्रदान करानेवाले अनेकानेक अस्त्र प्रदान किए ॥४६॥

टिप्पणी—मालिनी छन्द।

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वीं वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्या दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ॥४७॥

अन्वयः—तरसा जयिनम् उदयम् प्राप्य असंहार्योत्साहं जगतः अनवसादाय गुर्वीं धुरम् वोढुं स्थितं स्वधाम्ना लोकानाम् उपरि कृतस्थानम् दिनकृतम् इव तपोलक्ष्म्या दीप्तं तम् अमराः उच्चैः उपजगुः ॥४७॥

अर्थ—अपने बल एवं वेग से विजयशील, उदयाचल को प्राप्त, दूसरों द्वारा समाप्त न होने वाले उत्साह से युक्त, संसार के कल्याण के लिए अन्धकार रूपी गम्भीर भार को उतारने के लिए उद्यत, अपने तेज से सम्पूर्ण लोकों के ऊपर विराजमान सूर्य के समान अपने बल से विजयशील, पाशुपत नामक अस्त्र

अर्धभ्रमकः । (२७ वाँ श्लोक)

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्यं
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

किरातार्जुनीय महाकाव्य के श्लोकों की अकारादि-

क्रमानुसार सूची

	सर्ग	श्लोक संख्या
अकृत्रिमप्रेमरसाभिराम	२	३७
अखण्डमाखण्डल	१	२९
अखिलमिदममुष्य	५	२१
अगूढहासस्फुटदन्त	८	३६
अग्रसानुषु नितान्त	९	७
अचकमत सपल्लवा	१०	४९
अचित्ततायामपि	१७	४७
अचिरेण परस्य	२	९
अजन्मा पुरुषस्तावत्	११	७०
अजिह्ममोजिह्ममोघ	१४	५७
अणीयसे विश्वविधा	१८	४१
अणुरप्युपहन्ति	२	५१
अविपातितकाल	२	४२
अतिशयितवनान्तर	१०	८
अतीतसंख्या विहिता	१४	१०
अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य	७	९
अथ कृतकविलोभन	१०	१७
अथ क्षमामेव	१	४४
अथ चेदवधिः	२	१९
अथ जयाय नु मेरुमहो	५	१

	सर्ग	श्लोक सख्या
अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा	१३	२०
अथ दीर्घतमं तमः	१२	३०
अथ परिमलजामवाप्य	१०	१
अथ भूतभव्यभवदीश	१२	१६
अथ भूतानि वार्त्रघ्न	१५	१
अथ वासवस्य वचनेन	१२	१
अथ विहितविधेयै	१६	६२
अथवैष कृतज्ञयेव पूर्व	१३	५
अथ शशधरमौलेरभ्य	१८	४६
अथस्फुरन्मीनविधूत	८	२७
अथ स्वमायाकृतमन्दिरो	८	८
अथ हिमशुचिभस्म	१८	१५
अथाग्रे हसता साचि	१५	७
अथापदामुद्धरणक्षमेषु	१७	१
अथाभिपश्यन्निव	३	५६
अथामर्षान्निसर्गाच्च	११	१
अथोच्चकैरासनतः	२	५७
अथो शरस्तेन मदर्थ	१४	१७
अथोष्णभासेव सुमेरु	३	३२
अदीपित वैद्युतजातवेदसा	४	२६
अद्य क्रियाः कामदुघाः	३	६
अधरीचकार च विवेक	६	२१
अधिगम्य गुह्यकगणादिति	६	३८
अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः	६	१७
अनादरोपात्तधृतैक	१४	३६
अनाप्तपुण्योपचये	३	५

	सर्ग	श्लोक संख्या
अनामृशन्वः क्वचिदेव	१७	३२
अनायुधे सत्त्वजिघांसिते	१४	१०
अनारत तेन पदेषु	१	१५
अनारत यौ मणिपीठ	१	४०
अनिर्जयेन द्विषता	११	७१
अनुकूलपातिनमचण्ड	६	२५
अनुकूलमस्य च विचिन्त्य	१२	४३
अनुचरेण धनाधिपतेरथो	५	१६
अनुजगुरथ दिव्य	३	६०
अनुजानुमध्यमवसक्त	१२	२२
अनुद्धताकारतया	३	३
अनुपालयता मुदे	२	१०
अनुभाववता गुरु स्थिर	१३	१५
अनुशासतमित्यना	२	५४
अनुसानुपुष्पितलता०	६	१
अनुहेमवप्रमरुणैः समता	६	८
अनेकराजन्यरथाश्व	१	१६
अनेन योगेन विवृद्ध	३	२८
अन्तक. पर्यवस्थाता	११	१३
अन्तिकान्तिकगतेन्दु	९	२१
अन्यदीयविशिखेन	१३	४६
अन्यदोषमिव च स्वक	१३	४८
अन्योन्यरक्तमनसा	९	७४
अपनेयमुदेतुमिच्छता	२	३६
अपवर्जितविप्लवे शिवे	२	३३
अपरागसमीरणे	२	५०

	सर्ग	श्लोक संख्या
	२	२६
अपवर्जितविप्लवे	११	५६
अपवादादभीतस्य	१५	२
अपश्यद्भिरिवेशान	११	६८
अपहस्त्येऽथवा सद्भिः	१६	२४
अप्राकृतस्याहव	११	८
अभितस्त पृथासूनुः	११	२१
अभिद्रोहेण भूतानाम्	१०	४२
अभिनयमनसः	१०	२३
अभिभवति मनः कदम्ब	१८	७
अभिभवोदितमन्यु	२	१९
अभिमानधनस्य	२	१३
अभिमानवतो	१०	४५
अभिमुनि सहसा	२	४६
अभियोग इमान्	१२	२
अभिरश्मिमालि विमलस्य	१७	३४
अभिलषत उपाय	२	३१
अभिवर्षति योऽनु	१४	१९
अभूतमासज्य विरुद्ध	१३	६३
अभ्यथानि मुनिचापलात्	१६	६
अभ्यायतः सन्ततधूम	१४	६३
अमर्षिणा कृत्यमिव	४	२६
अमी पृथुस्तम्बभृतः	४	३५
अमी समुद्भूतसरोज	११	५२
अयथार्थक्रियारम्भैः	१२	३५
अयमच्युतश्च वचनेन	१८	९
अयमसौ भगवानुत		

	सर्ग	श्लोक संख्या
अनेनैव मृगव्यसक्तकाम	१३	१६
अथ व: क्लैव्यमापन्नान्	१५	१६
अलकाधिपभृत्यदर्शितं	३	५६
अलङ्कृतानामृजुना	१७	२६
अलङ्घ्य तत्तदुदीक्ष्य	११	६०
अलङ्घ्यत्वाज्जनैः	११	४०
अलमेष विलोकितः	५	१७
अलसपदमनोरमं प्रकृत्या	१०	६०
अवचयपरिभोगवन्ति	१०	५
अवद्यन्पत्रिणः शम्भोः	१५	३७
अवधूतपङ्कजपराग	६	३
अवधूयारिभिर्नीता	११	५८
अवन्ध्यकोपस्य	१	३३
अवरुग्णतुङ्गसुरदारु	६	५
अवलीढसनाभिरश्वसेन.	१३	११
अवहितहृदयो विधाय	२	५८
अविग्रहस्याप्यतुलेन	१८	३३
अविज्ञातप्रबन्धस्य	११	४३
अवितृप्ततया तथापि	२	२६
अविभावितनिष्क्रम	१३	२७
अविनाश्यमेतदभिलष्यति	६	४४
अविरतोज्झितवारि	५	६
अविरलफलिनीवन	१०	२८
अविरलमलसेषु	१०	४३
अविलङ्घ्यविकर्षणम्	३	५७
अविषेनृपाश्रमा	१३	२६

	सर्ग	श्लोक संख्या
४		५६
"	१०	११
असकलनयनेक्षितानि	१	४८
असक्तमाराधयतो	२	३४
असमापितकृत्य	४	२०
असावनास्थापरया	१४	१०
असिः शरा वर्म धनुश्च	१६	४२
असृङ्नदीनामुपचीय	१८	३८
असंविदानस्य ममेश	८	३३
असंशयं न्यस्तमुपान्त	३	४७
असंशयालोचितकार्य	१८	६२
असहार्योत्साह जयिन	१३	६७
अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः	१३	३४
अस्त्रवेदविदयं मही	१७	३३
अस्त्रैः समानामति	५	६
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक	१६	३
अस्मिन्यशः पौरुष	९	३०
अशुपाणिभिरतीव	१६	२१
अंसस्थलैः केचिद	१६	२७
असावष्टम्भनतो	३	३६
आकारमाशंसितभूरि	७	१८
आकीर्णं बलरजसा	७	४३
आकीर्णा मुखनलिनै	१३	८
आकुमारमुपदेष्टु	९	५९
आकुलश्चलपतत्रि	१७	४१
आक्षिप्तचापावरणेषु	१६	५०
आक्षिप्तसम्पातमपेत	३	
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः		

	सर्ग	श्लोक संख्या
आघट्टयामास गता	१७	३८
आघ्राय चणमतितृष्य	७	३४
आतपे धृतिमता	६	३०
आतिथेयीमथासाद्य	११	६
आत्मनीनमुपतिष्ठते	१३	६६
आत्मलाभपरिणाम	१८	३४
आहता नखपदैः	६	४६
आबाधामरणभया	१८	३६
आमत्तभ्रमरकुला	७	१०
आमोदवासितचला	६	७७
आयस्तः सुरसरिदोघ	७	३२
आरोढुः समवनतस्य	७	३३
आशसितापचिति	६	४६
आशु कान्तमभिसारित	६	३८
आसक्तभरनीकाशे	११	५
आसक्ता धूरिय	११	७०
आसन्नद्विपपद्वीमदा	७	२४
आसादिता तत्प्रथम	१६	२७
आसुरे लोकविस्रास	१५	२८
आसेदुषा गोत्रभिदो	१८	१८
आस्तिक्यशुद्धमवतः	१८	४३
आस्थामालम्ब्य नीतेषु	१५	४
आस्थिनः...थगिव	६	६
आहिते नु मधुना	६	६६
इच्छ्या सह वधूभि	६	१३
इतरेतरानभिभवेन	६	३४

	सर्ग	श्लोक संख्या
असकलनयनेक्षितानि	१०	५६
असक्तमाराधयतो	१	११
असमापितकृत्य	२	४८
असावनास्थापरया	४	३४
असिः शरा वर्म धनुश्च	१४	२०
असृङ्नदीनामुपचीय	१६	१०
असंविदानस्य ममेश	१८	४२
असंशयं न्यस्तमुपान्त	८	३८
असंशयालोचितकार्य	३	३३
असहायोत्साह जयिन	१८	४७
अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः	१२	६२
अस्त्रवेदविदयं मही	१३	६७
अस्त्रैः समानामति	१७	३४
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक	५	३२
अस्मिन्यशः पौरुष	१६	६
अंशुपाणिभिरतीव	६	३
अंसस्थले केचिद	१६	३०
अंसाववष्टब्धनतौ	१६	२१
आकारमाशंसितभूरि	३	२७
आकीर्णा बलरजसा	७	३६
आकीर्णा मुखनलिनै	७	१८
आकुमारमुपदेष्टु	१२	४३
आकुलश्चलपतत्रि	९	८
आक्षिप्तचापावरणेषु	१७	५६
आक्षिप्तसम्पातमपेत	१६	४१
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः	३	५०

	सर्ग	श्लोक संख्या
आघट्टयामास गता	१७	३८
आघ्राय सुरणमतितृप्य	७	३४
आतपे धृतिमता	९	३०
आतिथेयीमथासाद्य	११	९
आत्मनीनमुपतिष्ठते	१३	६९
आत्मलाभपरिणाम	१८	३४
आदृता नखपदैः	९	४९
आबाधामरणभया	१८	३९
आमत्तभ्रमरकुला	७	१०
आमोदवासितचला	९	७७
आयस्तः सुरसरिदोघ	७	३२
आरोढुः समवनतस्य	७	३३
आशंकितापचिति	९	४६
आशु कान्तमभिसारित	९	३८
आसक्तभरनीकाशे	११	५
आसक्ता धूरियं	११	३०
आसन्नद्विपपदवीमदा	७	२४
आसादिता तत्प्रथम	१६	२७
आसुरे लोकविध्वास	१५	२८
आसेदुषा गोत्रभिदो	१८	१८
आस्तिकनगुद्धमवतः	१८	४३
आस्थामालम्ब्य नीतेषु	१५	६
आस्थितः स्थगित	९	९
आहिते नु मधुना	९	६९
इच्छता सह वधूभि	९	१३
इतरेतरानभिभवेन	९	२४

	सर्ग	श्लोक संख्या
इति कथयति तत्र	४	३७
इति गा विधाय विरतेषु	१२	३२
इति चालयन्नचलसानु	१२	५२
इति तानुदारमनुनीय	१२	४०
इति तेन विचिन्त्य चाप	१३	१४
इति दर्शितविक्रिय	२	२५
इति निगदितवन्त	१८	४४
इति ब्रुवाणेन महेन्द्र	३	३०
इति विविधमुदासे	१६	६३
इति विषमितचक्षुषा	१०	५६
इति शासति सेनान्या	१५	२६
इतीरयित्वा गिरमात्त	१	२[illegible]
इतीरिताकूतमनील	१४	२[illegible]
इत्थ विहृत्य वनिताभि	८	५[illegible]
इत्युक्तवन्त परिरभ्य	११	८
इत्युक्तवन्त व्रज साधये	३	२
इत्युक्तवानुक्तिविशेष	३	[illegible]
इत्युक्त्वा सपदि हित	५	५

किरातार्जुनीय महाकाव्य के श्लोकों की सूची

	सर्ग	श्लोक संख्या
इह सनियमयोः सुराप	५	४०
ईशार्थमम्भसि चिराय	५	२९
उच्यतां स वचनीय	९	३९
उज्झती शुचमिवाशु	९	१८
उज्झन्तु सहार इवा	१६	१६
उत्फुल्लस्थलनलिनी	५	३९
उत्सङ्गे समविषमे सम	७	२१
उत्क्षुष्टध्वजकुथकङ्कटा	७	३०
उदस्य धैर्यं दयितेन	८	५०
उदारकीर्तेरुदय	१	१८
उदाहरणमाशीःषु	११	६५
उटितोपलस्खलन	६	४
उदीरितां तामिति	३	५५
उद्वृत्तःस्थकितैक	१४	३१
उन्नतेन्दुमविभिन्न	९	२४
उन्मज्जन्मकर इवा	१७	६३
उपकार इवासति	१२	३३
उपकारकमायते	२	४२
उपजापसहान्विल	२	४७
उपपत्तिरुदाहृता	२	२८
उपलभ्य चञ्चलतरङ्ग	६	२४
उपलाहतोद्धततरङ्ग	६	२०
उपाहित नपत्नेषु	११	५०
उपारता पश्चिमरात्रि	४	२०
उपेयुषीणां शरतीरधि	८	२२
उपेयुषि भिन्ननन्लक	१४	

	सर्ग	श्लोक संख्या
उपैति सस्य परिणाम	४	२२
उपैत्यनन्तद्युतिरप्य	१६	६१
उपोढकल्याणफलो	१७	५४
उमापति पाण्डुसुत	१७	१२
उरसि शूलभृतः प्रहिता	१८	५
उरु सत्त्वमाह विपरि	६	३५
ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च	१६	५०
ऋषिवंशज. स यदि	६	३६
एकतामिव गतस्य	६	१२
एव प्रतिद्वन्द्विषु तस्य	१७	१८
ओजसापि खलु नून	६	३३
ओष्ठपल्लवविदश	६	५७
औपघातपभयादप	६	११
ककुदे वृषस्य कृत	१२	२०
कच्छान्ते सुरसरितो	१२	५४
कतिपयसहकारपुष्प	१०	३०
कथमिव तव सम्मति	१०	३६
कथ वादीयतामर्वाड्	११	७६
कथाप्रसङ्गेन जनैः	१	२४
कपोलसश्लेषि विलो	४	६
करुणश्रृङ्खलनिःसृतयोः	१८	११
करिष्यसे यत्र सुदुश्च	३	२६
कल्पामभिहित त्रपा	१०	५८
करोति योऽशेषजनाति	३	५१
करौ धुनाना नवपल्लवाकृति पयस्यगाधे	८	४८
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा	८	७

	सर्ग	श्लोक संख्या
कलत्रभारेण विलोल	८	१७
कवच स बिभ्रदुपवीत	१२	६
कवणकम्पनिरस्तमहा	५	४७
कान्तदूत्य इव कुंकुम	९	६
कान्तवेश्म बहु सन्दिशती	६	३७
कान्तसङ्गमपराजित	६	५२
कान्ताजन सुरतखेद	६	७६
कान्ताना कृतपुलक.	७	५
किं गतेन नहि युक्त	६	४०
किं त्यक्तापास्तदेवत्व	१५	२१
किमपेक्ष्य फल	२	२१
किमसामयिक वित	२	४०
किमुपेक्षसे कथय	१२	३१
किरातसैन्यादुरुचाप	१४	४५
काम्यताशु भवतानत	६	५३
कुरंगिणः कृतरवस्तरव.	५	२५
कुरु तन्मतिमेव	२	२२
कुरु तात तपास्यमार्ग	१३	१३
कुसुमनगवनान्युपैतु	१०	३१
कुतुतिममवलम्ब्य	१०	५३
कृतधृति परिवन्दिते	१८	२१
कृतप्रणामस्य महीं	१	२
कृत पुष्पराज्ञेन	११	७२
कृतवानन्यदेहेषु	११	३३
कृतवति विसृष्टिवशा	२	३१
कृतान्तदुर्वृत्त इवा	१६	२६

	सर्ग	श्लोक संख्या
कृतारिषड्वर्गजयेन	१	६
कृतावधानं जितबर्हि	४	३२
कृतोर्मिरेख शिथिलत्व	४	६
कृष्णद्वैपायनादेशात्	११	४६
कोन्विम हरितुरङ्ग	१३	५०
कोऽपवादः स्तुतिपदे	११	२५
क्रान्ताना ग्रहचरितात्	७	१२
क्रमद्भिर्वनपदवीमनेक	५	३४
क्रियासु युक्तैर्नृप	१	४
क्रोधान्धकारान्तरितो	१७	६
क्लान्तोऽपि त्रिदशवधू	७	२६
क्व चिराय परिग्रहः	२	३६
क्षत्रियस्तनयः पाण्डोः	११	४५
क्षययुक्तमपि स्वभावज	२	११
क्षितिनभःसुरलोक	५	३
क्षिपति योऽनुवन	५	४५
क्षीणयावकरसोऽप्यति	६	६२
क्षुभिताभिनिःसृत	१२	४५
क्षोभेण तेनाथ गणा	१७	२२
खण्डिताशंसया तेषा	१५	३
गणाधिपानामविधाय	१४	५४
गतवति नखलेखा	६	७८
गतान्पशूना सहजन्म	४	१२
गतैः परेषानविभाग	१४	५२
गतैः सहावैः कलहंस	८	२६
गन्धमुद्धतरजः कण	६	३१

	सर्ग	श्लोक संख्या
गभीररन्ध्रेषु भृशं महा	१४	४६
गम्यतामुपगते नयनानां	९	४
गुणसम्पदा समधिगम्य	५	२४
गुणानुरक्तामनुरक्त	१	३१
गुणापवादेन तदन्य	१४	१२
गुरुक्रियारम्भफलैं	१४	४२
गुरुस्थिराण्युत्तम	१६	२८
गुरून्कुर्वन्ति ते वश्यान्	११	६४
गूढोऽपि वपुषा राजन्	११	६
ग्रसमानमिवौजांसि	११	७३
ग्रहविमानगणानभितो	५	१४
घनपोत्रविदीर्णशाल	१३	३
घन विदार्यार्जुन	१५	५०
घनानि कामं कुसुमानि	८	४
चञ्चलं वसु नितान्त	१३	५३
चतसृष्वपि ते विवेकिनी	२	६
चमरीगणैर्गणबलस्य	१२	४७
चयानिवाद्रीनिव	१६	५२
चलनेऽवनिश्चलति	१२	२८
चारुचुञ्चुश्चिरारेची	१५	३८
चिचीषतां जन्मवतां	२	५१
चित्तनिवृत्तिविधायि	९	७२
चित्रवानसि कल्याणी	११	१४
चित्रीयमाणानति	१७	२१
चिरनियमकृशोऽपि	१०	१५
चिरमपि कलितान्य	१०	४८

	सर्ग	श्लोक स
दनुजः स्विदय क्षमा	१३	८
दरीमुखैरासवराग	१६	४६
दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिः	१६	३८
दिवः पृथिव्याःककुभा	१४	५३
दिव्यस्त्रीणां सचरण	५	२
दिशः समूहन्निव	१४	५
दीपयन्नथ नभः	९	२
दीपितस्त्वमनुभाव	१३	३
दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा	११	४
दुरासदवनज्याया	११	६
दुरासदानरीनुग्रान्	११	२
दुर्वच तदथ मा स्म	१३	४
दुःशासनामर्षरजो	३	४
दूनास्तेऽरिबलादूना	१५	३
दृश्यतामयमनोकहा	१३	७
दृष्टावदानाद्व्यथतेऽरि	१७	१
दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि	१८	
देवाकानिनि कावादे	१५	
द्यां निरुन्धदतिनील	९	
द्युतिं वहन्ती वनिता	८	
द्युवियद्गामिनी तार	१५	
द्यौरुन्ननामेव दिशः	१६	
द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां	१०	
द्वारि चक्षुरधिपाणि	९	
द्विरदानिव दिग्वि	२	
द्विषतः पराभिसिषु	१२	

	सर्ग	श्लोक संख्या
द्विषतामुदय:	२	८
द्विषता विहित	२	१७
द्विषन्निमित्ता यदिय	१	४१
द्विषा विघाताय	१	३
द्विपा तृतीयाः प्रथमे	१४	५५
धनुः प्रबन्धध्वनित	१६	२०
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धि	३	३४
धार्तराष्ट्रैः सह प्रीति	११	५५
धाष्ट्र्य लङ्घितयथोचित	६	७२
धूतानामभिमुखपातिभिः	७	३
धृतबिसवलयावलि	१०	२४
धृतबिसवलये निधाय	१०	४७
धृतहेतिरप्यधृतजिह्म	६	२४
धृतोत्पलापीड इव	१६	१५
धैर्यावसादेन हृतप्रसादा	३	३८
धैर्येण विश्वास्यतया	३	३४
ध्रुव प्रणाशः प्रहितस्य	१४	६
ध्वनिरगविवरेषु	१०	४
ध्वंसेत हृदयं सद्यः	११	५७
न ज्ञातं तात यत्नस्य	११	६२
न तेन सज्यं क्वचिदु	१	२१
न ददाह भूरुहवनानि	१२	१६
न दलति निचये	१०	३६
ननु हो मथना राधो	१५	२०
न नोननुन्नो नुन्नोनो	१५	१४
न पपात सन्निहित	१२	४

	सर्ग	श्लोक
न प्रसादमुचित गमिता	९	२५
न मृग. खलु कोऽप्ययं	१२	६
नयनादिव शूलिनः	१३	२२
न रागि चेतः परमा	१३	२१
नवपल्लवाञ्जलिभृतः	१८	२६
न वर्त्म कस्मैचिदपि	६	१४
नवविनिद्रजपाकुसुम	१४	८
नवातपालोहितमाहित	५	८
न विरोधिनी रुषमियाय	४	४६
न विक्षिस्मये न विषशाद	१२	५
न समयपरिरक्षण	१२	४५
न सुखं प्रार्थये नार्थं	१	६६
न स्रजो रुरुचिरे	११	३५
नानारत्नज्योतिषा	९	३६
नान्तरज्ञा श्रियो जातु	५	२४
नाभियोक्तुमनृत	११	५८
नासुरोऽयं न वा नागो	१३	१२
निचयिनि लवली	१५	२९
निजघ्निरे तस्य हरेषु	१०	२६
निजेन नीत विजितान्य	१७	३९
निद्राविनोदितनितान्त	१४	७५
निपतितेऽधिशिरोऽघ	९	६
निपीयमानस्तबका	१८	६
निरुद्धनिःश्वासविकम्पिता	८	१५
निर्मालदाकेकरलोल	४	५२
निरञ्जने साचिविलोकित	८	५२

	सर्ग	श्लोक संख्या
निरत्यय साम न दान	१	१२
निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्व	२	६
निरीक्ष्यमाणा इव	४	३
निरीक्ष्य संरम्भनिरस्त	३	२१
निर्णीय विद्याथ दिनादि	३	२५
निवृत्तवृत्तोरुपयोधर	८	२
निशम्य सिद्धिं द्विषता	१	२७
निशातरौद्रेषु विकासता	१४	३०
निशितासिरितोऽभीको	१५	२२
निःशेषं प्रशमितरेणु	७	३८
निःशेष शकलित	१७	६२
निःश्वासधूमैः स्थगिताशु	१६	३६
निषण्णमापत्प्रतिकार	१४	३७
निषादिसन्नाहमणि	१६	१२
निसर्गदुर्बोधमबोध	१	६
निहते विडम्बित	१२	३८
निहितसरसयावकै	१०	३
नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिर	५	३१
नीरन्ध्र पथिषु रजो रथाङ्ग	७	२५
नीरन्ध्र परिगमिते	१७	६
नीलनीरजनिभे हिम	९	१६
नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीं	४	५
नूतनत्रभवतः शराकृति	१३	४५
नृपतिमुनिपरिग्रहेण	१०	६
नृपस्तुतमभितः	१०	४४

	सर्ग
न्यायनिर्णीतसारत्वा	११
पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य	१४
पतन्ति नास्मिन्विशदाः	४
पतितैरपेतजलदान्न	६
पतिं नगानामिव	१७
पथश्च्युताया समितौ	३
पपात पूर्वां जहतो	४
परमास्त्रपरिग्रहोरुतेजः	१३
परवानर्थसंसिद्धौ	११
परस्य भूयान्विवरे	१६
पराहतध्वस्तशिखे	१६
परिकीर्णमुद्यतभुजस्य	१२
परिक्षते वक्षसि दन्ति	१६
परिणामसुखे गरीयसि	२
परिणाहिना तुहिनराशि	१२
परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदा	४
परिभ्रमल्लोहित	१
परिमोहयमाणेन	१५
परिवीतमंशुभिरुदस्त	१२
परिसरविषयेषु लीढ	५
परिसुरपतिसूनुधाम	१०
परिस्फुरन्मीनविघट्टितो	८
परीतमुक्षावजये	४
परोऽवजानाति यदज्ञता	१४
पश्चात्क्रिया तृणयुगस्य	१७
पाणिपल्लवविधूनन	६

	सर्ग	श्लोक संख्या
नातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः	१५	२२
पानुमाहितरतीन्यभि	६	५२
पार्थबाणाः पशुपते	१५	४०
पुरःसरा धामवता	२	४३
पुराधिरूढः शयन	१	३८
पुरोपनीत नृप	१	३९
पुरः पद मध्यमनुत्त	१६	२६
पृथग्विधान्यस्त्रविराम	१६	३४
पृथुकदम्बकदम्बकराजित	५	६
पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि	६	४५
पृथूरुपर्यस्तबृहल्लता	१४	३४
प्रकृतमनुससार नाभि	१०	४१
प्रचलिते चलित	१८	२०
प्रणतिप्रवणान्विहाय	३	४४
प्रणतिमथ विधाय	६	४७
प्रणिधाय चित्तम्	६	३६
प्रणिधाय तत्र विधि	६	२६
प्रततचामीकरभानुरेण	१६	४०
प्रतिक्रियायै विधुरः	१७	४२
प्रतिघ्नतीभिः कृत	१६	४३
प्रतिदिशमभिगच्छता	१०	२१
प्रतिदिशं प्लवगाधिप	१४	६४
प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न	६	१२
प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषार	९	१५
प्रत्याहतौजाः कृत	१७	२५
प्रत्यूषकम्रविक्रम	१५	२६

	सर्ग	श्लोक संख्या
प्राप्तोऽभिमानव्यसनाद	३	४५
प्राप्यते गुणवतापि	९	५८
प्राप्यते यदिह दूर	१८	२५
प्रियेऽपरा यच्छति	८	१५
प्रियेण संग्रथ्य विपक्ष	८	३७
प्रियेण सिक्ता चरमं	८	५४
प्रियेषु यैः पार्थ विनोप	३	५२
प्रियैः सलील करवारि	८	४९
प्रीते पिनाकिनि मया	११	८१
प्रेरितः शशधरेण करौघः	९	२८
प्लुतमालतीसितकपाल	१२	२४
बदरीतपोवननिवास	१२	३३
बद्धकोपविकृतीरपि	९	६४
बभार शून्याकृति	१७	३९
बलवदपि बलं मिथो	१०	२७
बलवानपि कोपजन्मनः	२	३७
बलशालितया तथा तथा	१३	१२
बहुधा गता जगति	९	४२
बहु बर्हिचन्द्रकनिभं	६	११
बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातु	१३	१०
बाणच्छिदस्ते विशिखाः	१७	२०
बिभराम्बभूवुरपवृत्त	१२	४९
बृहदुद्वहजलदनादि	१२	४२
भवद्भवः प्राणभृता	११	१७
भयादिवाश्लिष्य झषाहते	८	४६
भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रम	९	५४

	सर्ग	श्लोक संख्या
भर्तृ पूपसखि निक्षिप	९	६६
भवत. स्मरता सदा	१८	१८
भवद्भिरधुनाराति	१५	१७
भवन्तमेतर्हि मनस्वि	१	३२
भवन्ति ते सभ्यतमा	१४	४
भवभीतये हतबृहत्तम	६	४१
भवादृशेषु प्रमदा	१	२८
भव्यो भवन्नपि मुने	५	४९
भित्त्वेव भाभि. सवितु	१६	५१
भुजगराजसितेन	५	४
भूभर्तुः समधिकमादधे	७	२७
भूयः समाधानविरुद्ध	१७	७
भूरिप्रभावेण रणाभि	१७	२
भूरेणुना रासभधूसरेण	१६	७
भृशकुसुमशरेष	१०	६१
भ्रूविलासनुभगाननु	९	५६
मग्ना द्विपच्छन्नि	३	३९
मणिमयूखचयांशुक	५	५
मतिभेदतमस्तिरो	२	३३
मतिमान्विनयप्रमाथि	२	५२
मथितान्भसो रयविकीर्ण	१२	५?
मदमानसमुद्धत	२	४९
मदसिक्तमुखैर्मृगा	२	१८
मदस्रुतिरयामित	१६	२
मधुरैरवशानि	२	५५
मध्यमोपलनिभे लसदंशा	९	२

	सर्ग	श्लोक संख्या
मनसा जपैः प्रणतिभिः	६	२२
मनःशिलाभङ्गनिभेन	१६	४५
मनोरम प्रापितमन्तर	४	७
मन्द्रमस्यन्निपुलता	१५	१३
मया मृगान्हन्तुरनेन	१४	२५
मरुतः शिवा नवतृणा	६	३३
मन्ता पतिः स्विट	१२	१५
महता मयूखनिचयेन	१२	१३
महते फलाय तदवेक्ष्य	६	२८
महत्त्वयोगाय महा	३	२३
महर्षभस्कन्धमनून	१४	४०
महानले भिन्नसिताभ्र	१६	५७
महारथाना प्रतिदन्त्य	१६	१४
महाभ्रदुर्गे शिथिल	१६	३६
महिपक्षतागुरुतमाल	१२	५०
महीभृता पक्षवतेव	१६	१३
महीभृता सच्चरिते	१	२०
महेषुबलघो शत्रो	१५	३२
महौजसो मानधना	१	१९
मा गमन्मदविमूढ	९	७०
मा गाश्चिरायैकचरः	३	५३
मानिनीजनविलोचन	९	२६
मा भूवन्नपथहृतस्तवे	५	५०
माया स्विदेषा मति	१६	१८
मार्गणैरथ तव	१३	५६
मा विहासिष्ट समरं	१५	८

	सर्ग	श्लोक संख्या
वपुरिन्द्रियोपतपनेषु	१२	३
वपुषा परमेण भूधरा	१३	१
वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणो	१४	२२
वर कृतध्वस्तगुणा	१५	१५
वरोरुभिर्वारणहस्त	८	२२
वसूनि वाञ्छन्न वशी	१	१३
वशलक्ष्मीमनुद्धृत्य	११	६६
वंशोचितत्वादभिमान	१७	४
वाजिभूमिरिभराज	१३	५५
वाससा शिथिलतामुप	६	६५
विकचवारिरुह दधत	५	१३
विकसितकुसुमाधर	१०	३२
विकार्मुकः कर्मसु शोच	१७	५३
विकाशमीयुर्जगतीश	१५	५२
विकोशनिर्धौततनौ	१७	४५
विगणय्य कारणमनेक	६	३७
विगाढमात्रे रमणीभिः	८	३१
विचकर्ष च संहितेषु	१३	१८
विचिन्वया निश्चयतेव	१६	३
विच्छिन्नाभ्रविलाय	११	७६
विजहीहि रणोत्साह	११	३१
विजिगीषते यदि जगन्ति	१२	३०
विजित्य यः प्राज्य	१	३५
विततशीकरराशिभिः	५	१५
वितन्वतस्तस्य शरा	१७	२०
विदिताः प्रविश्य विहित	६	३०

	सर्ग	श्लोक सख्या
विदूरपातेन भिदामुपेयु	८	१०
विधाय रत्नान्यरितः	१	१४
विधाय विध्वसमनात्म	३	१६
विधिसमयनियोगा	१	४६
विधुर किमतः परं	२	७
विधूतकेशाः परि	८	३३
विधूनयन्ती गहनानि	१४	४७
विनम्रशालिप्रसवौघ	४	२
विनय गुणा इव विवेक	१२	१७
विनिर्यतीना गुरुरवेद	८	२६
विपन्नचित्तोन्मथना	८	३४
विपत्रलेखा निरलक्तका	८	४०
विपदेति तावदवसाद	१८	२३
विपदोऽभिभवन्त्य	२	१४
विपाण्डुभिर्म्लानतया	४	२४
विपाण्डु सव्यानमिवा	४	२८
विफलीकृतयत्नस्य	१५	४६
विबोधितस्य ध्वनिना	१७	४६
विभिन्नपर्यन्तगमीन	८	३०
विभिन्नपातिताश्वीय	१५	२४
विभेदमन्त. पदवीं	१७	२७
विमुक्तमाशसित	१४	५१
विमुच्यमानैरपि तस्य	४	१२
वियति वेगपरिप्लुत	१८	१२
विरचय्य काननविभाग	१२	४४
विरोध सिद्धेरिति	१४	८

	सर्ग	श्लोक संख्या
सध्वान निपतितनिर्झरासु	७	२२
सनाकवनित नितम्ब	५	२७
सपदि प्रियरूपपर्वरेखः	१३	२५
सपदि हरिसखैर्वधू	१०	१८
स पिङ्गाक्षः श्रीमान्	१८	४५
स पिशङ्गजटावलिः	१५	४७
स पुमानर्थवज्जन्मा	११	६२
स प्रध्वनय्याम्बुदनादि	१७	१०
स प्रयुज्य तनये	१३	३६
स बभार रणापेता	१५	३३
स बिभर्ति भीषण	६	३२
स भवस्य भवत्ययैक	१३	१६
स भोगिसंघः शम	१६	४८
समदशिखिरुतानि	१०	२५
स मन्थरावल्गित	४	१७
समवृत्तिरुपैति	२	३८
समस्य सम्पादयता	१४	६
समानकान्तीनि तुषार	८	२५
समुल्लसत्पङ्कजकोश	८	२४
समुज्झिता यावदराति	१४	५६
समुन्नतैः काशदुकूल	८	६
समुल्लसत्प्रासमहोर्मि	१६	४
स यौवराज्ये नवयौव	१	२२
सरजसमनपहाय	१०	२६
सरभसमवलम्ब्य	१०	५४

	सर्ग	श्लोक संख्या
सरोजपत्रे नु विलीन	८	३५
सललितचलित	१०	५२
सलीलमासक्तलता	८	१६
सलेशमुल्लिखितशात्रवे	१४	२
स वशस्यावदातस्य	११	७५
सविनयमपराभिसृत्य	१०	५७
स वृषध्वजसायकावभिन्न	१३	२८
सव्यलीकमवधीरित	६	४५
सव्यापसव्यध्वनितो	१७	२५
सव्रीडमन्दरिव	३	४६
ससत्त्वरतिदे नित्यं	१५	२७
स समुद्धरता विचिन्त्य	१३	३४
स सम्प्रधार्यैवमहार्य	१६	२५
स सायकान्साध्वस	१७	२१
स सासिः सासुसूः	१५	५
ससुरचापमनेकमणि	५	१२
सहशरधि निजं तथा	१८	१६
सहसा विदधीत	२	३०
सहसोपगतः स	२	५६
सक्रान्तचन्दनरसा	८	५७
सन्तत निशमयन्त	१३	४७
सन्निबद्धमपहर्तुं	१८	३०
सम्पश्यतामिति	१५	५३
सम्प्रति लब्धजन्म	५	४३
सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव	१७	१३
सम्भिन्नामविरलपातिभिः	७	२३

	सर्ग	श्लोक संख्या
सम्भिन्नैरिभतुरगावगाह	७	११
सम्भोगक्षमगहनामथो	७	२६
सम्मूर्च्छता रजतभित्ति	५	२१
सरम्भवेगोज्झित	१७	४९
संवाता मुहुरनिलेन	७	१४
संविधातुमभिषेक	९	३२
ससिद्धाविति करणीय	७	१७
ससेवन्ते दानशीला	१८	२४
सस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु	१७	६
साचि लोचनयुग	९	४४
सादृश्य गतमपनिद्र	५	२६
सादृश्य दधति गभीर	७	३९
साफल्यमस्त्रे रिपु	१६	४९
सामोदाः कुसुमतरु	७	२८
साम्य गतेनाशनिना	१७	५१
सावलेपमुपलिप्सिते	१३	५६
सितच्छदानामपदिश्य	४	३०
सितवाजिने निजगदु	६	९
सिन्दूरैः कृतरुचयः	७	८
सिषिधुरवनिमम्बुवाहाः	१८	१७
सुकुमारमेकमणुमर्म	६	४०
सुखेन लभ्या दधतः	१	१७
सुखेषु दुर्गेषु च तुल्य	१४	३२
सुता न यूयं किमु	३	१३
सुरकृत्यमेतदवगम्य	१२	३६
सुरसरिति परं तपो	१०	१२

	सर्ग	श्लोक स
सुलभैः सदानयवता	५	२०
सुहृदः सहजा	२	४५
सृजन्तमाजाविषु	३	२०
सेतुत्वं दधति पयोमुचां	७	१६
सोढवान्नो दशामन्त्यां	११	५३
सोढावगीतप्रथमा	१७	२८
सोत्कण्ठैरमरगणैः	७	२
स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय	१४	५
स्थितमुन्नते तुहिन	१२	२१
स्थित विशुद्धे नभसीव	१७	४८
स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि	११	५४
स्नपितनवलतातरु	५	४४
स्पृहणीयगुणैर्महः	२	३४
स्फुटता न पदैरपा	२	२७
स्फुटपौरुषमापपात	१३	३२
स्फुटबद्धसटोन्नति	१३	२
स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीक	१५	३६
स्मर्यते तनुभृतां सनातन	१३	४२
स्यन्दना नो चतुरगाः	१५	१६
स्रक्केतुभिः पाण्डुर	१६	५८
स्वगोचरे सत्यपि चित्त	८	१३
स्वधर्ममनुरुन्धते	११	७८
स्वय सराध्यैवं शतमख	१०	६३
स्वादितः स्वयमर्थैचित	६	५५
हताहतेत्युद्धतभीम	१६	५
हरपृथासुतयो	१८	२
हरसैनिकाः प्रतिभये	१२	४८
हरिन्मणिश्याममुदग्र	१४	४१
हसा बृहन्तः सुरसद्म	१८	१६
हृता गुणैरस्य भयेन	१४	६१
हृतोत्तरीयां प्रसभं	११	४६
ह्रदाम्भसि व्यस्तवधू	८	४३
ह्रीतया गलितनीवि	६	४८
ह्रेपयन्नहिमतेजस	१३	४१